समाजशास्त्र की सहभागी पुस्तक

संपादक

योगेन्द्र सिंह

मंजू भट्ट

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

प्रथम संस्करण
नवंबर 2002 : कार्तिक 1924

ISBN 81-7450-061-8

PD10TRA

एन.सी.ई.आर.टी. के प्रकाशन विभाग के कार्यालय

एन.सी.ई.आर.टी. कैम्पस	*108, 100 फीट रोड, होस्डेकेरे*	*नवजीवन ट्रस्ट भवन*	*सी.डब्लू.सी. कैम्पस*
श्री अरविंद मार्ग	*हेली एक्सटेंशन बनाशंकरी III इस्टेज*	*डाकघर नवजीवन*	*32, बी.टी. रोड, सुखचर*
नई दिल्ली 110016	**बैंगलूर 560085**	**अहमदाबाद 380014**	**24 परगना 743179**

रु. 55.00

एन.सी.ई.आर.टी. वाटर मार्क 70 जी.एस.एम. पर मुद्रित

प्रकाशन विभाग में सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली 110016 द्वारा प्रकाशित तथा लेज़र टाईपसैट : रेडियेंट कन्सलटेंट, 340 एम.आई.जी. फ्लैट, सैक्टर-14, पोकेट-बी, फेस-II, द्वारका, नई दिल्ली-110045 द्वारा तथा बंगाल ऑफसेट वर्क्स, ए-56, सैक्टर-5, नोएडा, उत्तर प्रदेश द्वारा मुद्रित।

प्राक्कथन

प्रस्तुत पुस्तक समाजशास्त्र की एक सहभागी पुस्तक है जो न केवल विद्यार्थियों अपितु समाजशास्त्र के शिक्षकों के लिए भी एक पठनीय पुस्तक साबित होगी। यह पुस्तक विशेष तौर से उन विद्यार्थियों के लिए लाभदायक होगी जो कक्षा XI एवं XII में समाजशास्त्र को एक ऐच्छिक विषय के रूप में चुनना चाहते हैं। इस पुस्तक को तैयार करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि वे विद्यार्थी जो औपचारिक रूप से पहली बार इस विषय को पढ़ेंगे, उन्हें इसके अध्ययनोपरांत समाजशास्त्र के विकास एवं उसकी मौलिक अवधारणाओं का परिचय हो जाए। विषय का यह ज्ञान उनकी आगे की पढ़ाई में निश्चित रूप से सहायक सिद्ध होगा।

सामान्यत: परिषद् में तैयार होने वाली पुस्तकें मूलरूप से अंग्रेजी में लिखी जाती हैं, तदुपरांत उनका हिंदी में अनुवाद किया जाता है। इससे हिन्दी माध्यम के विद्यार्थियों के साथ न्याय नहीं हो पाता है। इसीलिए प्रस्तुत पुस्तक हमने मूलरूप से हिन्दी में ही लिखवाई है। इसके लिए दो कारण उत्तरदायी हैं– पहला तो यह कि समाजशास्त्र अभी भी अन्य शास्त्रों की तुलना में एक नया शास्त्र है, अत: हिन्दी माध्यम से पढ़ने वाले विद्यार्थियों को अतिरिक्त अध्ययन के लिए हिन्दी में पुस्तकें उपलब्ध नहीं होती हैं। दूसरा यह कि सामान्यत: अंग्रेजी माध्यम से समाजशास्त्र पढ़ने वाले विद्यार्थी हिन्दी वालों की तुलना में नगण्य हैं, दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि हिन्दी माध्यम से समाजशास्त्र पढ़ने वाले विद्यार्थी तुलनात्मक रूप में बहुत अधिक हैं, और अध्यापकों की निरन्तर सही माँग रहती है कि उनके लिए समाजशास्त्र की अतिरिक्त पठनीय सामग्री हिन्दी में उपलब्ध करवाई जाए। छात्र ही नहीं अपितु शिक्षक भी हिन्दी में पठनीय सामग्री की आवश्यकता अनुभव करते हैं। उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए हमने इस पुस्तक को हिन्दी में ही तैयार करवाया। यह सामग्री न केवल समाजशास्त्र के शिक्षक एवं विद्यार्थियों अपितु इस विषय में रुचि रखने वाले सामान्य पाठकों के लिए भी उपयोगी सिद्ध होगी।

सामान्यत: एक विद्वान विषय के सभी क्षेत्रों का विशेषज्ञ नहीं हो सकता, परन्तु किसी एक क्षेत्र विशेष में उसका अच्छा अधिकार होता है। इन सभी का लाभ विद्यार्थियों को मिले इसी सोच के तहत विभिन्न पाठों को विभिन्न विद्वानों द्वारा लिखवाया गया। इस पुस्तक को लिखने वाले विद्वानों से यह अनुरोध भी किया गया कि लेख की भाषा यथासंभव सरलतम रखी जाए ताकि एक दसवीं पास विद्यार्थी इसे ठीक प्रकार से आत्मसात कर सके। समाजशास्त्र में विद्यार्थियों की रुचि बढ़े इसीलिए हमने भाषा की सरलता के प्रति विशेष आग्रह रखा है।

प्रस्तुत पुस्तक का संपादन समाजशास्त्र के जाने माने विद्वान प्रोफेसर योगेन्द्र सिंह एवं परिषद् की डा. मंजु भट्ट, रीडर, समाजशास्त्र ने किया। प्रो. सिंह ने इस पुस्तक के कतिपय लेख भी लिखकर हमें अनुग्रहीत किया। इसके लिए हम उनके विशेष आभारी हैं। हम उन समस्त विद्वानों के भी आभारी हैं जिन्होंनें अपने

व्यस्त समय में से समय निकालकर इस पुस्तक के पाठों को लिखा। इस पुस्तक का पुनरावलोकन पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ में किया, इसके लिए हम विश्वविद्यालय के कुलपति महोदय के भी आभारी हैं।

प्रत्येक पुस्तक एवं सहायक शिक्षण सामग्री का विकास एक गतिशील प्रक्रिया है। किसी भी पुस्तक के लिए यह दावा करना बहुत कठिन है कि वह पूर्णतः परिशुद्ध है। अतः शिक्षकों, विद्यार्थियों, समाजशास्त्रियों एवं सामान्य पाठकों द्वारा अपने अनुभव के आधार पर दिए जाने वाले सुझावों क़ा स्वागत है। सुझावों के द्वारा ही हम किसी पुस्तक को परिष्कृत कर पाने में समर्थ हो पाते हैं।

जगमोहन सिंह राजपूत
निदेशक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

नई दिल्ली
मई *2002*

आमुख

''समाजशास्त्र की सहभागी पुस्तक'', समाजशास्त्रीय निबंधों का संग्रह है। प्रयास यह किया गया है कि पाठकों को इन निबंधों के माध्यम से उन सामाजिक और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यों से परिचित कराया जाए जिन्होंने भारतीय समाजशास्त्र के सिद्धांतों, पद्धतियों और सामाजिक प्रक्रियाओं के विकास की दिशाओं का निर्धारण किया है। सामाजिक शक्तियाँ और ऐतिहासिक संदर्भ ज्ञान और सिद्धांतों को चेतन या अचेतन ढंग से किस प्रकार से प्रभावित करते हैं, यह इन निबंधों को पढ़ने से पाठकों को आभास होगा। सामाजिक सिद्धांत का भी अपना सामाजिक परिप्रेक्ष्य होता है।

विश्व स्तर पर सामाजशास्त्र के विकास और परिवर्तन की प्रक्रिया का अध्ययन करने से यह सिद्ध होता है कि सामाजिक, आर्थिक और प्राविधिक शक्तियों के नई दिशाओं में उभरने के साथ ही,समाजशास्त्र का उद्‌भव हुआ। इसमें औद्योगिक क्रान्ति की भूमिका का अत्यधिक योगदान है। सामाजशास्त्र, मात्र एक सिद्धांत अथवा अध्ययन की एक विशिष्ट पद्धति ही नहीं है। यह एक प्रकार की सामाजिक चेतना है। इस चेतना के मुख्य लक्षण, दार्शनिक दृष्टि से औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व के पुनर्जागरण की विचारधारा से गहरे रूप में प्रभावित हुए हैं। यह मान्यता कि सामाजिक अस्मिता और इसका उद्‌भव समाज की अंतरंग प्रक्रियाओं के द्वारा ही बनती और बदलती है, एक क्रान्तिकारी विचारधारा थी जिसको स्थापित होने में परम्परावादी चर्च और धर्म की पूर्व मान्यताओं का सामना करना पड़ा। योरुप में कार्ल मार्क्स, मैक्स वैबर और इमाईल दुर्खीम जैसे समाजशास्त्रियों ने,जिन्होंने समाजशास्त्र की बुनियाद रखी, इस मान्यता को उभारा कि परम्परा और धर्म, दोनों का आधार सामाजिक होता है। कार्ल मार्क्स इस दिशा में अधिक क्रान्तिकारी विचार रखता था। उसकी यह मान्यता थी कि धर्म मात्र वर्ग संघर्ष को टालने के लिए शक्तिशाली सामंतों और पूँजीपतियों का एक बहकावा मात्र है। मैक्स वेबर ने इस समस्या का दूसरे ढंग से विश्लेषण किया है। उसकी दृष्टि में परंपरा और धर्म, आर्थिक व सामाजिक परिवर्तन में सहायक होते हैं उन्हें मात्र आर्थिक व सामाजिक परिवर्तन में अवरोधक नहीं समझना चाहिये। उसके अनुसार पूँजीवाद का विकास ही क्रिश्चियन धर्म के सुधारवादी और प्रोटेस्टवादी आंदोलनों के द्वारा हुआ। उन सभी विचारों और मूल्यों का उदय जिसे हम समाजशास्त्रीय चिंतन प्रणाली का आधार समझते हैं, जैसे, व्यक्तिवाद और व्यक्ति स्वातंत्र्य के मूल्य, पूँजी की बचत और उद्यमशीलता के अनुरूप इसकी लागत, बुद्धिवादी सामाजिक मूल्य, और इनका सामाजिक क्रियाओं और सिद्धांतों में उपयोगितावादी दृष्टिकोण से उपयोग, आदि परिवर्तन के नये संदर्भों का आधार, मैक्स वेबर के अनुसार यूरोपीय देशों में धार्मिक सुधारों के द्वारा प्राप्त हुआ है।

इमाईल दुर्खीम के विचारों ने अपनी विशिष्टता के द्वारा समाजशास्त्रीय चिंतन को आगे बढ़ाया। धर्म को दुर्खीम भी सामाजिक शक्तियों और प्रक्रियाओं का ही प्रतिफल मानता था। यह ही नहीं, उसके विचार में ज्ञान के सभी मूलभूत तत्व और अवधारणाओं का सृजन भी सामाजिक शक्तियों के द्वारा होता है। ज्ञान और चिंतन

का सामाजिक संदर्भ होता है, इस मान्यता को दुर्खीम ने आगे बढ़ाया। धार्मिक रीतिरिवाज वे प्रक्रियाएं हैं जिनके द्वारा ही, आदिम समाज में मूलभूत अवधारणाओं का विकास हुआ, उदाहरण के लिए धार्मिक पर्वों के द्वारा आदिम मानव ने पवित्र और अपवित्र के बीच में अन्तर्भेद स्थापित किया, समय के साथ स्थान का भेद भी (पवित्र और साधारण या अपवित्र) विभिन्नता की रूपरेखा द्वारा विकसित हुआ, और कर्म कांडों के द्वारा ही भाषा के प्रतीकों का जन्म हुआ। इस प्रकार ज्ञान के आधारभूत तत्वों की स्थापना सामाजिक संस्थाओं और प्रक्रियाओं द्वारा ही हुई है।

समाजशास्त्र की यह स्थापना अत्यंत क्रान्तिकारी अर्थ रखती है। इसके द्वारा विचारों के स्वतंत्र संवर्धन और विकास की प्रक्रिया को बल मिला। ज्ञान, विज्ञान और टैक्नॉलाजी की सामाजिकता की अनुभूति को स्थापित किया, और सबसे बड़ी वैचारिक मान्यता कि समाज और स्वयं भौगोलिक, आर्थिक और ऐतिहासिक शक्तियों द्वारा उत्पन्न व्यवस्था है, को सर्वमान्य बनाया। मूल्यों के स्तर पर, सांस्कृतिक और धार्मिक सहिष्णुता और बहुलवाद, *व्यक्ति,जाति, रंग अथवा लिंग के आधार पर भेदभाव का विरोध, और व्यक्ति स्वातंत्र्य और जनतंत्रीय व्यवस्था* की मान्यता इत्यादि मूल्यों को स्थापित और सर्वमान्य बनाने में समाजशास्त्रीय योगदान की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

इस अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि समाजशास्त्र एक ज्ञान और पद्धति की प्रणाली भी है और चिंतन की एक शैली भी। इसकी मौलिक अवधारणाएं हैं– सामाजिक संरचना का विचार, संरचना को बनाये रखने में योगदान देने वाली संस्थाओं और प्रक्रियाओं का अध्ययन और उन कारणों और प्रक्रियाओं का अध्ययन जिनसे संरचना में परिवर्तन होता है। ये कारण समाज के भीतर के भी हो सकते हैं और बाहरी दबाव के द्वारा भी उत्पन्न हो सकते हैं। सामाजिक संरचना और संस्कृति का गहरा पारस्परिक संबंध है। संस्कृति, मूल्यों, विचारों, विश्वासों, परम्पराओं और सामाजिक वस्तुओं और बिम्बों के सामूहिक संयोजन की व्यवस्था है। इसकी अपनी आन्तरिक संरचना होती है और उसका योगदान दो प्रकार का होता है, प्रथम यह कि संस्कृति के द्वारा सामाजिक संरचना का संपूर्ण, गठन और अनुकूलन होता है। साथ ही सामाजिक संरचना में परिवर्तन की प्रक्रिया में भी संस्कृति अपना अलग से योगदान देती है। इस प्रकार सामाजिक संवर्धन और परिवर्तन, दोनों ही महत्वपूर्ण दिशाओं में संस्कृति का योगदान होता है। सामाजशास्त्रीय अध्ययन में न केवल सामाजिक संरचना का अध्ययन किया जाता है वरन् उन मूल्यों और संस्थाओं का भी अध्ययन किया जाता है जिनका संबंध सांस्कृतिक संस्थाओं से जुड़ा हुआ है।

समाजशास्त्र के विकास में इसकी अध्ययन पद्धति का महत्वपूर्ण स्थान है। सच तो यह है, कि विश्वविद्यालय स्तर पर यूरोपीय देशों में समाजशास्त्र की मान्यता और इसके अलग विभागीय और ज्ञान प्रणाली के रूप में स्वीकार करने की दिशा में वृद्धि, समाजशास्त्र के पद्धतीय पक्ष से गहरे रूप से जुड़ी हुई है। विचारधाराओं के रूप में कुछ अन्य समाज विज्ञान जैसे कि, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र तो पहले से स्थापित थे। नीतिशास्त्र भी बहुत अंशों में समाजशास्त्र से समानता तो रखता है, लेकिन वह गुणवत्ता जो समाजशास्त्र को इन समाजविज्ञानों से अलग-थलग करती है और समाजशास्त्र की अपनी निजी अस्मिता को स्थापित करती है, वह समाजशास्त्र की पद्धति है।

समाजशास्त्रीय पद्धति के मुख्य लक्षण हैं, अवलोकन, साक्षात्कार, सर्वेक्षण और सामाजिक मापन इत्यादि जिसे समाजशास्त्री ऐतिहासिक और सामाजिक संदर्भ में उपयोग में लाता है। समाजशास्त्रीय पद्धति में ये सभी तत्व सामाजिक इकाई की मान्यता पर आधारित होते हैं जो व्यक्ति भी हो सकता है, समूह भी और एक पूरी सामाजिक व्यवस्था भी। सामाजिक इकाइयों के स्वरूप के अनुसार समाजशास्त्री उपयुक्त पद्धतियों का चयन करता है। इसीलिये अवलोकन कभी एक व्यक्ति पर भी आधारित हो सकता है और एक समुदाय पर भी। इस सापेक्षिक चयन के निर्णय में सामाजिक इकाई के गुणात्मक स्वरूप को ध्यान में रखना पड़ता है। जैसे कि, विचारों और व्यक्तिगत गुणों के अन्तर्भेद का यदि अध्ययन करना है तो वह पद्धतियाँ अधिक सार्थक होंगी जो साक्षात्कार अथवा सर्वेक्षण पर आधारित होती हैं जिसके द्वारा एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति की पारस्परिक विभिन्नता का आभास हो सके। परन्तु यदि सामाजिक इकाई का स्वरुप सामूहिक हो और उसकी इस सामूहिकता का अंतरंग संबंध उसकी संरचना से हो, जैसा कि उदाहरण के लिए, सांस्कृतिक संरचना में पाया जाता है,या सामाजिक इकाई का सामूहिक स्वरूप इसकी भौगोलिक अथवा सामाजिक अन्त:क्रियाओं पर आधारित हो, जैसे राष्ट्र, समुदाय अथवा सम्प्रदाय इत्यादि, उस स्थिति में साक्षात्कार और अवलोकन के साथ साथ उसकी संस्थात्मक और ऐतिहासिक समग्रता को भी ध्यान में रखकर वैयक्तिक अध्ययन अथवा गुणात्मक अध्ययन पद्धति का उपयोग आवश्यक हो जाता है।

समाजशास्त्र के शास्त्रीय स्थापना में इसकी पद्धतियों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। समाजशास्त्रियों ने इस शास्त्र के प्रारंभिक काल से ही पद्धतियों की गुणवत्ता के आधार पर ज्ञान के विकास और संवर्धन को नई दिशा दी। कार्ल मार्क्स ने पूँजीवादी व्यवस्था के अध्ययन के लिये मात्र वैचारिक अथवा अवधारणात्मक योगदान ही नहीं दिया बल्कि सर्वहारा वर्ग अथवा मजदूरों की सामाजिक स्थिति और समस्याओं के मापन के लिये सर्वेक्षण पद्धति का उपयोग किया। मैक्स वैबर ने नागरीय व्यवस्था के विकास में संस्थात्मक परिवर्तन की प्रक्रिया का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अध्ययन किया जिसमें अवधारणाओं के अतिरिक्त ऐतिहासिक गुणवत्ता पर अधिक ध्यान दिया गया। पद्धति के उपयोग की पराकाष्ठा हमें इमाईल दुर्खीम की रचनाओं में मिलती है। दुर्खीम ने आत्महत्या की समस्या का समाजशास्त्रीय अध्ययन किया जिसमें सामाजिक अवलोकन और सर्वेक्षण की पद्धतियों का सार्थक उपयोग किया गया है। समाजशास्त्र की विशिष्टता का आधार इसकी पद्धतियों के अतिरिक्त उन समस्याओं के अध्ययन पर भी आधारित है जो समसामयिक ही न होकर, सामाजिक हित की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण होती हैं। उदाहरण के लिए, सामाजिक विघटन व विस्थापन, नगरीकरण, गरीबी, श्रमिकों, बालकों और स्त्रियों का शोषण, अपराध और सांस्कृतिक अथवा सामाजिक ह्रास अथवा विचलन इत्यादि की समस्याएँ। इन अध्ययनों के द्वारा समाजशास्त्र ने न केवल एक नवीनतम चिंतन की दिशा निर्धारित की, बल्कि शोध के लिए उपयुक्त तरीके भी प्रस्तुत किए। समाजशास्त्र की सामाजिक सार्थकता इसके इसी दोहरे योगदान में सान्निहित है।

समाजशास्त्र का भारतवर्ष में विकास लगभग बीसवीं सदी के प्रारंभिक दशकों में हुआ। समाजशास्त्र की पढ़ाई मुंबई विश्वविद्यालय में राजनीतिशास्त्र के साथ आरम्भ हुई। इसके पहले कोलकाता में एस. एन. सील ने इस

विषय का प्रतिपादन आरम्भ किया और कई अन्य विद्वानों ने समाजशास्त्रीय विचारों और सिद्धांतों के पाश्चात्य परिप्रेक्ष्य में अपनी रचनाओं और विचारों को उजागर किया। इस समय की रचनाओं में दो प्रकार की वृत्तियाँ दिखाई देती हैं: पहली तो यह, कि समाजशास्त्र और नृतत्वशास्त्र में अन्तर्भेद नहीं किया गया है और दूसरी ओर अधिकतर विश्लेषण भारतीय सभ्यता और समाज के प्रति पाश्चात्य समाजशास्त्रियों के विचारों और मूल्यांकनों के प्रति आलोचनात्मक भाव से किये गये हैं। विशेषकर वह विकासवादी विचार जो हेनरी मोर्गन, हाबहाउस इत्यादि की रचनाओं में पाया जाता है और जिसमें मानव सभ्यता के विकास को क्रमबद्ध चरणों से होकर विकसित होने की प्रक्रिया दर्शाई गई है। उदाहरण के लिए मोर्गन का विचार की सभ्यताएँ तीन चरणों में विकसित होती हैं, अर्थात जंगली व्यवस्था, बर्बरता पूर्ण व्यवस्था और सभ्य व्यवस्था। आलोचना इस बात को लेकर की गई कि मात्र पाश्चात्य समाज को ही सभ्यता की कोटि में रखने का प्रयास इन रचनाओं में दिखाई देता है। अन्य सभ्यताओं को जिसमें पूर्व की सभ्यताएँ, जैसे कि भारतवर्ष या चीन की सभ्यताओं को विकास की कोटि में अलग और प्राय: निम्न स्तर में रखकर विश्लेषण किया गया है।

फलस्वरूप आरम्भिक काल की भारतीय समाजशास्त्रीय रचनाओं में अपनी सभ्यता के प्रति अस्मिता का प्रश्न सर्वोपरि रहा और इसके साथ ही समाज और संस्कृति की सुधारात्मक विवेचनाएँ भी की गईं। समाजशास्त्र इस प्रकार बंगाल और महाराष्ट्र (कोलकाता और मुंबई महानगरों) के छोर से उठने वाली भारतीय समाज और संस्कृति के प्रति पुनर्जागरण की प्रक्रिया का एक अंग बनकर विकसित हुआ। इस समय के समाजशास्त्र में विकासवादी सिद्धांत की प्रधानता, उसके सामाजिक विश्लेषण और समालोचनात्मक चितंन की प्रमुखता रही।

शिक्षा में एक विषय के रूप में समाजशास्त्र का विकास अधिक तेजी से मुंबई विश्वविद्यालय में हुआ। वहाँ पर पैट्रिक गीड्स ने इसकी शिक्षा आरम्भ की और बाद में जी.एस. घूरिये की अध्यक्षता में समाजशास्त्र की पढ़ाई शुरू हुई। मैसूर विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्री, श्री एस. वाड़िया ने समाजशास्त्र की शिक्षा को दर्शनशास्त्र के साथ आरम्भ किया और कोलकाता से ही शिक्षित राधाकमल मुखर्जी और डी.पी. मुखर्जी ने लखनऊ विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र की शिक्षा अर्थशास्त्र के साथ देना आरम्भ किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि बीसवीं सदी के दूसरे-तीसरे दशकों में जब समाजशास्त्रीय शिक्षण का आरम्भ हुआ तो इसको एक अलग स्वतंत्रशास्त्र के रूप में विश्वविद्यालय स्तर पर पूरी मान्यता नहीं मिली थी। इसका एक कारण यह भी था कि इंग्लैंड के प्रमुख विश्वविद्यालयों ने, जिसमें आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज शामिल हैं, ने भी समाजशास्त्र को शिक्षण की दृष्टि से अलग शास्त्र के रूप में मान्यता नहीं दी थी। इसका प्रभाव भारतीय समाजशास्त्रियों पर भी पड़ा जो अधिकांशत: इन्हीं ब्रिटिश विश्वविद्यालयों से प्रभावित थे।

बाद के दशकों में समाजशास्त्र का विकास बड़ी तेजी से हुआ और विश्वविद्यालय स्तर पर समाजशास्त्र के अलग विभागों की स्थापना होने लगी। परन्तु इस प्रक्रिया का सर्वाधिक विकास स्वतंत्रता के बाद हुआ जब भारतीय समाजशास्त्र ब्रिटेन के अतिरिक्त अमेरिका और अन्य यूरोपिय देशों के विश्वविद्यालयों के सम्पर्क में आने लगा। इस सम्पर्क ने न केवल समाज शास्त्र की शास्त्रीय स्थापना को बल दिया बल्कि इसकी विषय वस्तु, सिद्धांतपरकता और पद्धतीय स्थापनाओं की विविधता और गहराई को मूर्तिवान किया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले का समाज शास्त्र सैद्धांतिक दृष्टि से नतृत्वशास्त्र के सामाजिक सिद्धांतों से गहराई से प्रभावित दिखता है। विकासवादी सिद्धांत की प्रधानता, सांस्कृतिक और सामाजिक विश्लेषणों में संस्थाओं की उत्पत्ति के प्रश्न को लेकर विषय आकलन और चितंन और तुलनात्मक संस्थात्मक अध्ययनों की प्रधानता इसमें प्रमुख रूप से दिखाई देती है। इन सिद्धांतों में ऐतिहासिक परिप्रक्ष्य का भी समावेश दिखाई देता है। ऐतिहासिक विश्लेषण तुलनात्मक और मार्क्सवादी दोनों प्रकार के सिद्धांतों का उपयोग करके किए गए हैं। परन्तु समाजशास्त्रीय रचनाओं में मार्क्सवाद की अपेक्षा तुलनात्मक इतिहास विज्ञता का प्रभाव अधिक दिखाई देता है। विश्लेषण की वृतियाँ प्राय: सभी संस्थाओं और संरचनाओं के अध्ययन में मिलती हैं, चाहे वह धर्म, भाषा, जाति व्यवस्था, या अन्य किसी प्रकार की विषय वस्तु रही हों। इन रचनाओं में चेतन अथवा अचेतन रूप में पाश्चात्य समाजशास्त्रियों की रचनाओं और सिद्धांतों की छाया प्राय: विद्यमान होती है। यहाँ तक कि, शिक्षण स्तर पर जो पाठ्यक्रम विकसित किये गये उस पर भी पाश्चात्य विश्वविद्यालयों, विशेष रूप में बर्तानवी विश्वविद्यालयों के नतृत्वशास्त्र का प्रभाव स्पष्ट दिखता है। उदाहरण के लिए मुंबई विश्वविद्यालयों में सामाजिक प्राणिशास्त्र का पाठ्यक्रम, लखनऊ विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्रीय समाजशास्त्र की प्रधानता इसके द्योतक हैं। एक और विशेषता जो इन पाठ्यक्रमों में देखने को मिलती है वह है "पद्धति शास्त्र" की शिक्षा का पूरा अभाव। एक प्रकार से यह इस बात की पुष्टि करता है कि किस सीमा तक भारतीय समाजशास्त्र स्वतंत्रता के पूर्व के दशकों में नृतत्वशास्त्र से प्रभावित था जहाँ पर मात्र एक ही पद्धति "अवलोकन अथवा सहभागी अवलोकन" की सम्भावना मान्य थी। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारतीय समाजशास्त्र का कई दिशाओं में रूपान्तर होने लगा। 1950 के दशकों में सब से बड़ी घटना यह हुई कि अमरीकी समाजशास्त्र और समाज वैज्ञानिकों का सम्पर्क बढ़ने लगा। शोध और शिक्षा के क्षेत्र में जो नई संस्थाएं स्थापित होने लगीं उनमें अमरीकी योगदान महत्वपूर्ण रहा और अमरीकी समाजशास्त्र के बहुपक्षी अथवा बहुआयामी चरित्र ने भारतीय समाजशास्त्र को अछूता न छोड़ा। इसके साथ ही समाजशास्त्रियों व समाजवैज्ञानिकों से अपेक्षा की जाने लगी कि वह राष्ट्र के आर्थिक सामाजिक व सांस्कृतिक विकास और नियोजन की प्रक्रिया में सक्रिय योगदान करें। इसके लिए भी अमरीका का उदाहरण सर्वोपरि था, विशेष रूप से "सामुदायिक विकास" के ग्रामीण व नगरीय योजनाओं के परिप्रेक्ष्य में। शोध और अध्ययन के क्षेत्र में अमरीकी प्रभाव इस दशक के "ग्राम" अध्ययनों में दिखाई देता है। पचास के दशक में नगरीय सामाजिक संरचना और प्रक्रियाओं का अध्ययन योजना आयोग के सहयोग से किया गया जिसमें समाजशास्त्रियों और अर्थशास्त्रियों ने भाग लिया। समाजशास्त्र की अपनी शास्त्रीय अस्मिता इस सम्पर्क से और प्रखर होकर निकली और इसका प्रभाव पाठ्यक्रमों, शोध प्रक्रियाओं और समाजशास्त्रीय सिद्धांतों के प्रति चितंन की दिशाओं में दिखाई देता है।

पाठ्यक्रमों में अब "पद्धति शास्त्र" एक अलग विषय के रूप में पढ़ाया जाने लगा और मात्र अवलोकन की पद्धति के स्थान पर सर्वेक्षण और सांख्यकीय पद्धतियों का भी अध्ययन और उपयोग शोधकार्यों में किया जाने लगा। शोध प्रक्रियाओं में इस काल मे नया मोड़ लिया विषयवस्तु की दृष्टि से और शोध पद्धति की दृष्टि से भी। पहले के अपेक्षा अब "सामाजिक संरचना" और "समुदाय" के विचारों को प्रधानता मिलने लगी। जाति व्यवस्था, "जन-जातीय समाज" और "नगरीय समुदाय" इत्यादि सामाजिक तथ्यों को मात्र ऐतिहासिक या तुलनात्मक उत्पत्ति के संदर्भ में न देखकर उनका अवलोकन "संरचनात्मक" और "प्रकार्यात्मक"

समायोजन और परिवर्तन को वस्तुस्थिति के संदर्भ मे स्थापित किया जाने लगा। इस से "संरचनात्मक" और "प्राकार्यात्मक" समाजशास्त्रीय सिद्धांतों को बल मिला। अवलोकन व अध्ययन की इस नई सैद्धांतिक जागरूकता ने भारतीय समाजशास्त्र को नई "पद्धति" और "शास्त्रीय" अस्मिता देनी शुरू की और समाजशास्त्र एक संवेदनशील वैज्ञानिक विषय के रूप में विकसित होने लगा। इस बदलाव के बावजूद यह भी विचारणीय है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले के प्रश्न जो भारतीय सांस्कृतिक परम्परा और सभ्यता की अस्मिता से जुड़े हुए थे, वह किसी सीमातक मद्यम नहीं पड़े, बल्कि वे अस्मिता से जुड़े हुए थे और उन प्रश्नों को लेकर विशेष रूप से पाश्चात्यकरण के प्रश्न को लेकर नई प्रवृत्ति और सैद्धांतिक चितंन भारतीय समाजशास्त्र के अध्ययनों में दिखाई देने लगा। एम.एन. श्रीनिवास ने अपने अध्ययनों से यह उजागर किया कि जाति व्यवस्था के अन्तर्गत गतिशीलता की प्रक्रिया का एक मुख्य कारण मात्र पाश्चात्यीकरण ही नहीं बल्कि पारम्परिक "संस्कृतिकरण भी है"। भारतीय संरचना के विचार में ही परम्परा का सिद्धांत अन्तर्निहित है यह विवेचना कतिपय समाजशास्त्रियों ने अपने अध्ययनों और सामाजिक अवलोकनों के द्वारा प्रतिपादित की। यही बात आधुनिकता और परम्परा के अध्ययनों से भी मुखरित हुई और यह सिद्ध किया जाने लगा कि भारतवर्ष में आधुनिकीकरण अथवा पाश्चात्यीकरण की प्रक्रिया कोई अलग से उभरने वाली स्वतंत्र प्रक्रिया न होकर मात्र भारतीय परम्पराओं के नवीन समायोजन की प्रक्रिया है जिसमें आधुनिक सांस्कृतिक और सामाजिक तत्व स्थापित हो कर नई गतिशीलता प्राप्त करते हैं।

भारतीय परम्परा के आधुनिकीकरण का और इसकी अस्मिता का प्रश्न समाजशास्त्र में फिर भी बना रहा। कुछ समाजशास्त्रियों ने तो यह भी स्वीकार नहीं किया कि आधुनिकता और परम्परा का कोई समायोजन भी हो सकता है। ए.के. सरन की रचनाओं में यह दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से विद्यमान है। सैद्धांतिक दृष्टि से भारतीय समाजशास्त्र को सरन यह कहकर नकारते हैं कि स्वयं एक शास्त्र के रूप में "समाजशास्त्र" पाश्चात्य आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का ही एक प्रतिफल है और इसकी अस्मिता स्वयं अपने में ही विवादास्पद है। इसीलिये, इसको एक शास्त्र के रुप में परम्परा और आधुनिकता के पारस्परिक समायोजन की एक पद्धति के रूप में स्वीकार करना अनुकरणीय नहीं है। यह परम्परावादी दृष्टिकोण भारतीय समाजशास्त्रियों में यद्यपि एक अतिवाद के रुप में देखा गया है फिर भी यह इस समस्या की ओर इंगित करता है जो भारतीय जनमानस में और उसकी शास्त्रीय परम्परा में उसी समय से जागृत हुई जब भारतवर्ष एक उपनिवेषिक देश के रूप में पश्चिम के सम्पर्क में आया। फिर भी यह कहना उचित होगा कि सरन का परम्परावाद मात्र भारतवर्ष की अपनी सांस्कृतिक अस्मिता तक ही सीमित न होकर पूरी मानव जाति की वर्तमान सामाजिक व सांस्कृतिक विडम्बना की ओर संकेत करता है, जो आज आधुनिकीकरण की छत्रछाया में होते हुए भी आत्मसंतोष व सुव्यवस्था का अनुभव नहीं कर पा रहा है।

1950 व 1960 के दशकों में भारतीय समाजशास्त्र के सैद्धांतिक पक्ष पर संरचनात्मक और प्रकार्यवादी सिंद्धातों की गहरी छाप दिखाई देती है। कुछ सीमा तक यह प्रवृति तत्कालीन आर्थिक व सामाजिक परिवर्तन की भारतीय परिकल्पना और नीतियों में निहित है। साथ ही इस पर तत्कालीन अमरीकी सामाजिक मानव शास्त्र के सिद्धांतों का भी असर दिखाई देता है। उदाहरण के लिए सामुदायिक विकास योजनाओं के द्वारा ग्रामीण

सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने का उद्‌देश्य इस मान्यता पर आधारित था कि परिवर्तन की प्रक्रिया में सहमति का भरपूर स्थान होता है। और ग्रामीण समाज में भिन्न-भिन्न वर्गों और समुदायों को सहमति के आधार पर विकास और परिवर्तन के कार्यक्रमों में सक्षम भागीदार बनाया जा सकता है। यह मान्यता कुछ सीमा तक उचित थी, परन्तु इसके विधान में सामुदायिक मतैक्य और भावात्मक सद्‌भाव की पूर्णमान्यता अधिक थी और ग्रामीण जीवन के भीतर पनपे संरचनात्मक अन्तर्विरोधों और वर्ग हितों की उपेक्षा की गई थी। इस का परिणाम समाजशास्त्र के 1970 के दशक में किये जाने वाले अध्ययनों में दिखाई देने लगा। भूमि-सुधारों और पंचायती व्यवस्था के जनतंत्रीकरण के बावजूद यह देखा गया कि सामुदायिक विकास योजनाओं का लाभ और जनतंत्रीकरण का लाभ बड़े जमींदारों और किसानों तक ही सीमित रहा। आगे चलने वाली हरितक्रान्ति की प्रक्रिया से भी वर्ग संघर्ष और जातीय संघर्ष बढ़े और सहमति का सामुदायिक आधार ढीला पड़ गया। इस प्रकार के समाजशास्त्रीय तथ्यों ने यह दबाव डालना प्रारंभ कर दिया कि मात्र प्रकार्यवादी सहमति पर आधारित सिद्धांत ग्रामीण अथवा नगरीय सामाजिक प्रक्रियाओं के समग्र अध्ययन के लिए पूरे नहीं पड़ते। इसका समाजशास्त्रीय सिद्धांतों पर दो प्रकार से प्रभाव पड़ा – पहला तो यह कि मार्क्सवादी वर्ग संघर्ष की मान्यता पर आधारित समाजशास्त्रीय सिद्धांत जो 1950-60 के दशक में कम प्रभावी हो गये थे उभर कर फिर से अपनी सैद्धांतिक सार्थकता को सिद्ध करने लगे। 1970-1980 के दौरान ग्रामीण समुदाय के अध्ययन अधिक होने लगे। उदाहरण के लिए किसानों, और किसान आंदोलनों के अध्ययन प्रमुख रूप से उभर कर सामने आए।

दूसरा प्रभाव यह पड़ा कि "सामाजिक आन्दोलन" की प्रक्रिया के अध्ययनों का सैद्धांतिक और वस्तुस्थितिपरक निरूपण अधिकाधिक होने लगा। जाति, धर्म, भाषा, आर्थिक हित, स्त्रियों, जन जातियों, पिछड़े वर्गों और विस्थापितों के अध्ययन समाजशास्त्र की विषयवस्तु में उभर कर आने लगे। इन अध्ययनों के मूल्यांकन से यह पता चलता है कि इसका गहरा प्रभाव सिद्धांतों के नव-निरूपण पर पड़ा। मार्क्सवादी सिद्धातों के अतिरिक्त, "आन्दोलन का समाजशास्त्र" अपनी ही अस्मिता के साथ विकसित होने लगा। इसकी विशेषता यह थी कि सैद्धांतिक दृष्टि से इन अध्ययनों में कई प्रकार के समाजशास्त्रीय सिद्धांतों को मिलाजुलाकर सामाजिक प्रक्रियाओं और समस्याओं के अध्ययन में उपयोग में लाया जाने लगा। उदाहरण के लिए, सामाजिक आंदोलन, के अध्ययन में प्रक्रियाओं के विकास के चक्र का अध्ययन किया जाने लगा और यह पाया गया कि ऐतिहासिक संदर्भ में इन प्रक्रियाओं के चक्र को तभी समझा जा सकता है जब इसको कई प्रकार के सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य से देखा जाए। आंदोलनों की प्रक्रिया कभी सहमति पर निर्भर करती हैं, (जहाँ प्रकार्यवादी सिद्धांत अधिक अर्थपूर्ण होगा) तो कभी संघर्ष और द्वंद्व पर, जहाँ मार्क्सवादी "द्वन्दात्मक भौतिकवाद" अथवा प्रकार्यवादी संघर्ष की परिकल्पना अधिक उपयुक्त होगी। यही नहीं, यदि हम आंदोलनों के पीछे निहित भावात्मक अथवा वैचारिक संरचना का अध्ययन करना चाहते हैं तो सम्भवत: घटना विज्ञान की पद्धतियाँ अधिक सार्थक होंगी।

1980-90 के दशक तक आते आते भारतीय समाजशास्त्र में सैद्धांतिक और विषय-वस्तु संबंधी नई परिपक्वता उभरती दिखाई देती हैं। आन्दोलन का समाजशास्त्र जो पहले मात्र हितप्रधान समूहों और वर्गों अथवा इकाईयों का अध्ययन करता था, अब "नवीन सामाजिक आन्दोलनों" के अध्ययन के प्रति उन्मुख हुआ। विकास की प्रक्रिया के वातावरण पर पड़ने वाले प्रभावों ने "पर्यावरण के समाजशास्त्र" को जागृत किया। विकास के

क्रम में विस्थापित समूहों के अध्ययनों ने नई सार्थकता को प्राप्त किया। मानव अधिकार, स्त्रियों और बच्चों तथा अन्य कमजोर एवं पिछड़े समूहों के अध्ययन तथा नागरिक समाज के विकास की प्रक्रिया इत्यादि नए विषय समाजशास्त्र की विषयवस्तु के रूप में उभर कर आने लगे। इन प्रक्रियाओं ने 1980-1990 के दशकों के बाद भारतीय समाजशास्त्र के सैद्धांतिक और विषय-वस्तु दोनों ही पक्षों को नई दिशाएं दी हैं। साथ ही, विकास की इस प्रक्रिया के द्वारा भारतीय समाजशास्त्र की एक नवीन अस्मिता उभर कर सामने आ रही है, जिसके दो परिणाम दिखाई देते हैं। एक ओर, समाजशास्त्रीय अध्ययनों में दूरगामी नई सामाजिक सार्थकता का समावेश हुआ है। समाजशास्त्र मात्र कालेजों और विश्वविद्यालयों के प्रांगण तक ही सीमित न होकर जनता के बीच स्वयं सेवी संस्थाओं और विशेषज्ञों के सम्मिलित प्रयास के द्वारा अपनी नई सामाजिक और शास्त्रीय भूमिका विकसित कर रहा है। दूसरी ओर, इसकी विश्वस्तर पर नई सार्थकता प्रमाणित होती है क्योंकि जिन नवीन समस्याओं का अध्ययन समाजशास्त्र में अधिक अपेक्षित हो रहा है उनकी उपयोगिता भूमंडलीकरण के द्वारा सर्वव्यापी आयाम प्राप्त कर चुकी है। इस पुस्तक की सामग्री को दो भागों में विभाजित किया गया है। पहले भाग में सैद्धांतिक पक्षों से जुड़े हुए लेख जो भारतीय समाजशास्त्र के सैद्धांतिक विकास पर प्रकाश डालते हैं, सम्मिलत किए गए हैं, जैसे कि योगेन्द्र सिंह द्वारा लिखे हुए लेख "भारतीय समाजशास्त्र के सामाजिक अनुकूलन पर एक दृष्टिकोण", "भारत के समाजशास्त्र में विचारधारा और सिद्धांत" एवं "भारत में समकालीन संकट और इसके आयाम"। प्रथम भाग के 'अ' भाग में भारतीय समाज एवं उस से जुड़े हुए अन्य मुद्दों से संबंधित लेखों को सम्मिलित किया गया है जैसे के.एल.शर्मा के लेख "भारतीय समाज का परिचय : एकता में विभिन्नता एवं विभिन्नता में एकता:", "भारत में जाति एवं वर्ग", दीपांकर गुप्ता के लेख "जाति और राजनीति: संख्या की परिकल्पना" एवं "धर्म एवं समाज : राजनीतिक आयाम"।

इस पुस्तक के कई लेख यद्यपि भारतीय सामाजिक विषय-वस्तु से जुड़े हुए हैं, फिर भी उनमें अवधारणात्मक विश्लेषण की प्रधानता होने के कारण उन्हें दूसरे भाग में शामिल किया गया है। दूसरे भाग में समाजशास्त्रीय विषय वस्तु संबंधी भारतीय अध्ययनों से जुड़े हुए लेखों का संकलन किया गया है। उदाहरण के लिए शिव बहल सिंह का लेख - "अर्थव्यवस्था और समाज: ग्रामीण, नगरीय, कृषीय औद्योगिक" राजनीति एवं समाज, राजनीति दल, शक्ति, अभिजन, प्रशासन तंत्र एवं नागरिकीय समाज - राजीव गुप्ता, "भारतीय समाज में स्त्री" मैत्रेयी चौधरी, जनसंचार साधन और सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तन- नरेश भार्गव, "जनसंख्या, स्वास्थ्य एवं शिक्षा" - बी.के. नागला, "सामाजिक आन्दोलन"- हरीश दोषी, "परिवार विवाह और नातेदारी"- एस. एल. दोषी एवं "लोक अभिजात एवं जनजातीय संस्कृति"- एस.एल. शर्मा।

पुस्तक का अन्तिम लेख "समाजशास्त्र और परिवर्तन की पनपती चुनौतियाँ" योगेन्द्र सिंह ने लिखा है, इसमें वर्तमान समय में समाजशास्त्र में आए परिवर्तन एवं उनसे उत्पन्न समस्याओं पर विस्तार से विचार विमर्श किया गया है। हम आशा करते हैं कि यह पुस्तक भारतीय समाजशास्त्र के शिक्षकों, विद्यार्थियों और सामान्य पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

प्रो. योगेन्द्र सिंह

डा. मंजू भट्ट

पुस्तक निर्माण समिति के सदस्य

1. योगेन्द्र सिंह
प्रोफेसर समाजशास्त्र (सेवा मुक्त)
16-सी, रेलवे बोर्ड आफिसर्स,
ट्रांजिट फ्लैट्स, चाणक्यपुरी,
नई दिल्ली
2. के.एल. शर्मा
प्रोफेसर समाजशास्त्र
8, दक्षिणापुरम, जे.एन.यू. कैम्पस
नई दिल्ली
3. दीपांकर गुप्ता
प्रोफेसर समाजशास्त्र
सैन्टर फार दा स्टडी ऑफ सोशल सिस्टम
स्कूल ऑफ सोशल साइन्सेस
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली
4. शिव बहाल सिंह
प्रोफेसर समाजशास्त्र
25/बी, हीरा पुरी
गोरखपुर
5. राजीव गुप्ता
एल-4 सी, यूनिवर्सिटी कैम्पस
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
6. मैत्रेयी चौधरी
1624, बी-वन
वसंतकुंज,
नई दिल्ली
7. नरेश कुमार भार्गव
प्रवाचक समाजशास्त्र
समाजशास्त्र विभाग
मोहनलाल सुखाडिया विश्वविद्यालय
उदयपुर
8. बी.के. नागला
प्रोफेसर समाजशास्त्र
15, टाइप IV,
एम.डी. यूनिवर्सिटी
रोहतक
9. हरीश चन्द्र जोशी
प्रोफेसर समाजशास्त्र
साउथ-गुजरात विश्वविद्यालय
सूरज-गुजरात
10. एस.एल. दोषी
के - 5, एस, हिरन मंगरी
सैक्टर XI, उदयपुर
11. एस.एल. शर्मा
प्रवक्ता- समाजशास्त्र
समाजशास्त्र विभाग
मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय
उदयपुर
12. मंजू भट्ट **(संयोजक)**
रीडर सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी शिक्षा
विभाग, एन.सी.ई.आर.टी.
नई दिल्ली

गांधी जी का जन्तर

तुम्हें एक जन्तर देता हूं। जब भी तुम्हें सन्देह हो या तुम्हारा अहम् तुम पर हावी होने लगे, तो यह कसौटी आजमाओ:

जो सबसे गरीब और कमजोर आदमी तुमने देखा हो, उसकी शकल याद करो और अपने दिल से पूछो कि जो कदम उठाने का तुम विचार कर रहे हो, वह उस आदमी के लिए कितना उपयोगी होगा। क्या उससे उसे कुछ लाभ पहुंचेगा? क्या उससे वह अपने ही जीवन और भाग्य पर कुछ काबू रख सकेगा? यानि क्या उससे उन करोड़ों लोगों को स्वराज्य मिल सकेगा जिनके पेट भूखे हैं और आत्मा अतृप्त है?

तब तुम देखोगे कि तुम्हारा सन्देह मिट रहा है और अहम् समाप्त होता जा रहा है।

मो. क. गांधी

विषयानुक्रम

भारत का संविधान

भाग 4अ

नागरिकों के मूल कर्त्तव्य

अनुच्छेद 51अ

मूल कर्त्तव्य – भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य होगा कि वह –

(क) संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करे,

(ख) स्वतंत्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में संजोए रखे और उनका पालन करे,

(ग) भारत की संप्रभुता, एकता और अखंडता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण बनाए रखे,

(घ) देश की रक्षा करे और आह्वान किए जाने पर राष्ट्र की सेवा करे,

(ङ) भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभावों से परे हो, ऐसी प्रथाओं का त्याग करे जो महिलाओं के सम्मान के विरुद्ध हों,

(च) हमारी सामासिक संस्कृति की गौरवशाली परंपरा का महत्त्व समझे और उसका परिरक्षण करे,

(छ) प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अंतर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीव हैं, रक्षा करे और उसका संवर्धन करे तथा प्रणिमात्र के प्रति दयाभाव रखे,

(ज) वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे,

(झ) सार्वजनिक संपत्ति को सुरक्षित रखे और हिंसा से दूर रहे, और

(ञ) व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत् प्रयास करे, जिससे राष्ट्र निरंतर बढ़ते हुए प्रयत्न और उपलब्धि की नई ऊंचाइयों को छू सके।

भारतीय समाजशास्त्र के सामाजिक अनुकूलन पर एक दृष्टिकोण 1

औपनिवेशिक युग में भारतीय समाज और संस्कृति पर ब्रिटिश और यूरोपीय लेखकों द्वारा लिखे गये बहुत से लेखों में मूल्यों और समझ की दृष्टि से यूरो-केन्द्रित अवधारणाओं का प्रयोग किया गया था। इनमें से कुछ का लक्ष्य इतिहास को तोड़-मरोड़ कर पेश करना और साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देने के लिये वैचारिक स्तर पर (गैर ऐतिहासिक दृष्टि से) भारतीय वास्तविकताओं के अन्तर्गत उसका अर्थ बताना है। "जाति", "जनजाति", "गाँव", "समुदाय", "परिवार", और "रक्त सम्बन्ध" जैसी अवधारणाओं के खंडित अस्तित्वों को जो कि यूरोपीय समाज की सामाजिक-ऐतिहासिक प्रगति के दौरान पनपी अवधारणाओं के समान हों, ऐसे परिभाषित किया गया। इसे दर्शाने पर बल दिया गया कि कैसे प्रत्येक सामाजिक अस्तित्व एक शरीर के सिद्धान्त को स्वीकार करने लगा। विद्वता के तत्वों पर अत्यधिक बल दिया गया और इन सामाजिक और सांस्कृतिक सूत्रों को जो इन अस्तित्वों को एक सामाजिक संरचना और सभ्यता से जोड़ते हैं, की पूरी तरह से उपेक्षा की गयी। "जाति और जनजाति" को पृथक संरचनात्मक और सांस्कृतिक स्वरूप समझने वाले वे लोग थे जिनकी जड़ें सम्भवत: ब्रिटिश सामाजिक मानवशास्त्रियों और प्रशासकों की औपनिवेशिक विचारधारा में थी। वर्नियर ऐलजिनस द्वारा 1943 में प्रकाशित "द एबोरोजिनलस" के उत्तर में जी.एस. घुरिए द्वारा लिए गए "दा सो काल्ड एबोरोजिनल्स एन्ड देयर फ्यूचर" में इस ओर ध्यान आकृष्ट किया था। उन्होंने यह दर्शाने का प्रयास किया कि भारतीय समाज में जनजातियों की संरचना और परम्परा में निरन्तरता है। इन एक पक्षीय दृष्टिकोणों के अलावा, भारतीय समाज की मौलिक सामाजिक श्रेणियों के तौर पर औपनिवेशिक संवर्गीयशास्त्रियों ने जनजातीय समाज के संबंध में केवल सीधा-साधा वर्णनात्मक दृष्टिकोण ही अपनाया है। उन ब्रिटिश प्रशासनिकों द्वारा जो बाद में संवर्गशास्त्री और मानवशास्त्री हो गये थे, उनके द्वारा विकसित अवधारणाओं का ढाँचा मानवशास्त्र के तब के प्रतिमानों से प्रभावित था। जनजातीय समुदायों को समाज में अलग-थलग समुदाय की तरह समझा जाता था और जन-जातियों को महान वन्य जाति और उनकी आरम्भिक स्थितियों को आरकेडीयन साधकों की तरह वर्णित किया गया था। भारतीय समाज के विश्लेषण के लिये प्रयुक्त औपनिवेशिक प्रतिमान की पृष्ठभूमि को अवश्य समझ

लेना चाहिए ताकि इस विषय को और अधिक व्यापक बनाने में उसे आदर्शात्मक वातावरण को समझा जा सके जिसमें भारतीय समाजशास्त्र अथवा आदिम समाजशास्त्र यदि रामकृष्ण मुखर्जी की शब्दावली का प्रयोग करे, के मार्गदर्शक विचारकों ने योगदान दिया था। उनके विचार समाजशास्त्र के अगस्ट कोंत, हरबर्ट स्पेन्सर, कार्ल मार्क्स, मैक्स वैबर, और इमाईल दुर्खीम जैसे पश्चिमी मार्ग दर्शक विचारकों के विश्व-दृष्टिकोण से प्रभावित थे। उन्होंने पाश्चात्य परम्परा के दर्शन के भौतिकतावाद, सकारात्मकतावाद और ऐतिहासिक भौतिकतावाद के गहन अध्ययन से ही अपने विचारों का प्रतिपादन किया था। लेकिन उनकी विचारधारा को पाश्चात्योन्मुखता की श्रेणी में रखना अनुचित होगा। उसकी प्रतिक्रिया की जड़ें द्वन्द्वात्मक में भी और उस राष्ट्रीय चेतना में भी गहराई से जमी हुई थी, जिसको भारतीय समाज सुधार के नेतृत्व ने दिशा दी थी। औपनिवेशिक विद्वानों द्वारा बताये गये अकर्मण्य और निष्क्रिय पूर्व और सक्रिय पश्चिम के बीच की अन्तःक्रिया के स्थान पर पूर्व और पश्चिम जैसी दो सक्रिय पद्धतियों के बीच पारस्परिक क्रिया से उनका ध्यान दूर था। सामाजिक विज्ञान की विचारधारा के आधार के लिये उसने भारत में सांस्कृतिक अस्तित्व और पुनर्जागरण के विषयों को उसकी पद्धति और संचालन के लिए स्वीकारा। इस दृष्टिकोण से इसने पाश्चात्य-पुनर्जागरण को विशेष सांस्कृतिक परिवर्तन के उदाहरण के रूप में देखा। भारतीय समाज के समयरहित और क्षेत्ररहित निर्माण के स्थान पर उसने परिवर्तनीय सर्वव्यापकता के "भारतीय जागृति'' के प्रतिमान की केन्द्रीय रुचि का निर्माण किया।

समाजशास्त्र के अग्रणी विचारकों की पीढ़ी समाजशास्त्र को उसकी अवधारणाओं, सिद्धांतों समाजिक निरीक्षण की पद्धतियों अथवा समाजशास्त्र को विज्ञान की शाखा बनाकर उसके व्यवसायिकरण में कम रुचि रखती थी। फिर भी, उनकी गहन रुचि समाज से जुड़े हुए विषयों में थी। आई. पी. देसाई जो कि जी. एस. घुर्ये के छात्र थे ने समाजशास्त्र में उनकी आत्मकथात्मक यात्रा को इस ढंग से संक्षेप में प्रस्तुत किया है: 'वे बिन्दु जो उभरते हैं. ... वे इस प्रकार हैं कि मुंबई विश्वविद्यालय की दूसरी पीढ़ी (जिसे रामकृष्ण मुखर्जी) ने आधुनिकतावादी भी कहा था। द्वारा पद्धतियों को एक अलग मार्ग की तरह नहीं समझा गया था और ऐसा कहना अनुचित भी नहीं होगा कि दूसरे भारतीय विश्वविद्यालय के समाजशास्त्रियों की भी इस विषय में यही स्थिति थी। समाजशास्त्र को विज्ञान की तरह नहीं समझा जाता था जैसा आज समझा जा रहा है और समाजशास्त्र से यह अपेक्षा भी की जाती थी कि उसका प्रभाव व्यवहारिक जीवन पर हो यह भविष्योन्मुख रहे अर्थात परिवर्तनोमुखी हो। इस पीढ़ी के समाजवादी उद्देश्यात्मकता और आत्मवाचकता के क्षेत्रों में बंटे हुए थे जो समाजशास्त्र के प्रतिमान का मूल आधार है और इन्हें समाजशास्त्र की सार्वभौमिक स्वीकृति है, और सार्थकता के वे विषय जो स्वदेशी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और सांस्कृतिक सुधार आन्दोलन के आदर्शों को गहराई से जोड़ते हैं, ये ऐसे आदर्श हैं जो भारतीय समाज की संरचनाओं और परपम्पराओं में मौलिक परिवर्तन लाने के उद्देश्यों के प्रति वचनबद्ध हैं।

इस समय के समाजशास्त्र की अनुकूलता इन बातों में अभिव्यक्त होती है कि किस ढंग से

औचित्य के प्रश्न को परिभाषित करते हुए समाजशास्त्र की शैक्षणिक विषयवस्तु और शोध की पद्धति का निर्माण किया जाए। "अधिकांश अग्रणी विचारक प्रबल राष्ट्रवादी थे, लेकिन उसमें से कुछ ही राजनीति में सक्रिय थे। साथ ही वे लोग जो सक्रिय राजनीति में व्यस्त थे, वे जहाँ तक उनके शैक्षणिक जीवन का प्रश्न है रूढ़िवादी और अव्यवहारिक नहीं थे। विद्वान होने की उनकी निजी विशेषता के अतिरिक्त, उनकी राजनीति उस सामाजिक स्थिति को प्रतिबिम्बित करती थी जिसमें वे कार्यरत थे (राम कृष्ण मुखर्जी: 1979-29)।

अग्रणी विचारकों के काल की समाप्ति उन सामाजिक स्थितियों के मौलिक परिवर्तन के साथ हुई जिनमें भारत और पाश्चात्य देशों के समाजशास्त्र का विकास हुआ। 1950 और 1960 के दशकों में भारतीय समाजशास्त्र के चरित्र और परिवर्तनों के बीच टकराहट हुई। इस काल के लिये रामकृष्ण मुखर्जी भारतीय समाजशास्त्र के आधुनिकतावादियों को जिम्मेदार ठहराते हैं। यह न केवल भारत की आन्तरिक स्थितियों के द्वन्द्व के कारण था जो उनके द्वारा विश्लेषित किये गये वरन् द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विश्व की पाश्चात्य विचारधारा में हुए मौलिक परिवर्तनों के परिणाम के कारण भी था। इस काल में, समाजशास्त्र के आकर्षण का केन्द्र यूरोप से हट कर अमेरिका हो गया था और समाजशास्त्र में प्रमुख सैद्धांतिक और पद्धति संबंधी परिष्कार हुआ। द्वितीय विश्व युद्ध ने प्रमुख समाजशास्त्रियों को यूरोप से अमेरिका की ओर प्रस्थान करते देखा। समूह संरचना के समाज मनोविज्ञान के क्षेत्रों, औपचारिक समाजमिति संगठनों, राष्ट्रीय चरित्र, सामुदायिक संगठन एवं वर्ग निर्माणों का मनोविज्ञान और अन्त:क्रिया प्रक्रिया विश्लेषण में प्रयुक्त पद्धतियों, अव्यक्त संरचना विश्लेषण और समाजशास्त्र में दूसरे, सांख्यिकीय और गणितीय उपकरण के क्षेत्रों में परिष्कृत अनुभव जनक पद्धतियों का प्रयोग करके अनेकों प्रमुख अध्ययनों द्वारा योगदान दिया। समाजशास्त्र की आलोचनात्मक धारा जो 1940 के दशक में आरम्भ हुई, और जिसने 1950 के दशक में सत्तावाद रूढ़िवाद के घटनाचक्र, विज्ञान और उसके सामाजिक मनोवैज्ञानिक आधार, आदर्श और लोकतन्त्र, शक्ति और स्वतन्त्रता में सम्बन्ध जैसे विषयों में अध्ययन किये। यूरोपीय संस्कृति के सामाजिक नैतिक आधारों को फांसीवाद जैसी घटनाओं ने झकझोर दिया, और अमेरिका में द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान उदारवादी विद्वानों के प्रभाव के कारण विद्वानों द्वारा विचारधारा के और सामान्य तौर पर समाज में अनेकों अनुभवजन्य अध्ययन किये गये। हम अध्ययनों के साथ संचार, संवर्गीय सामाजिक मानवशास्त्र, उपसंस्कृतियों (सामान्य और परिवर्तनीय) अनियमित सामाजिक घटक तथा नुक्कड़ समाज जैसे विषयों के अध्ययन भी किये गये। इन अध्ययनों ने न केवल अवधारणाओं, प्रस्तावों के परीक्षण और सिद्धांत निर्माण के क्षेत्र में खोज की वरन् प्रक्रियात्मक यन्त्रों तथा शोध की तकनीक और सामान्य तौर पर सामाजिक विज्ञान की पद्धतियों के क्षेत्र में नवीन खोजों में सहयोग दिया। पाश्चात्य देशों के 1950 के दशक के समाज-शास्त्र में अनुभवजन्य और सैद्धांतिक वृत्तियां संरचनात्मक-क्रियात्मक रचनाओं से सांख्यिकीय-गणितीय और जैविक-दोनों दृष्टियों से सम्बद्ध थी।

1950 और 1960 के दशक के भारतीय समाजशास्त्री जो अपने समाज के परिवर्तन की

धाराओं से और पाश्चात्य समाज के पनपते शिक्षाशास्त्र की धाराओं से और पाश्चात्य समाज के पनपते शिक्षाशास्त्र से गहनता से संबद्ध थे, ये धारा विशेषकर इग्लैंड और अमेरिका में अस्तित्व में थी। शीघ्र ही, अमेरिका का प्रभाव बढ़ा और इग्लैंड के प्रभाव में गिरावट आनी शुरू हुई। यह समाजशास्त्र के व्यवसाय की क्षेत्रीय सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तनों द्वारा हुआ। यह काल राजनीतिक स्वतंत्रता और लोकतन्त्रीय ढाँचे में बढ़ते हुए अमेरिकी प्रभाव के रूप में चिंहित किया जाता है। नये संस्थानों के निर्माण के लिये कई कदम उठाए गए। शोध और सामाजिक-आर्थिक विकास में, इसका अर्थ था सामाजिक वैज्ञानिकों, विशेषकर अर्थशास्त्रियों और समाजशास्त्रियों की भागीदारी में वृद्धि।

राजनीतिक स्तर पर कई उतार-चढ़ावों के होते हुए भी कृषि संबंधी शोध हुए। ग्रामीण विकास, भूमि सुधार तकनीक, और मानवविज्ञान के विशेष क्षेत्रों में भारत अमेरिकी संबंधों का विकास हुआ। कृषि विद्यालयों की श्रृखंला की स्थापना और उनकी अमेरिका में शुरूआत में अमेरिकी योगदान ही प्रमुख था। समाजशास्त्र में ग्रामीण अध्ययनों और शोध पद्धतियों में विशेष योगदान दिया गया। मैक्सिको के गाँव के अध्ययनों के दौरान रौबर्ट रैड फील्ड द्वारा "ग्रामीण समाज" और "ग्रामीण संस्कृति" जैसे ग्रामीण अध्ययनों के लिये अमेरिका के सामाजिक मानवशास्त्रियों द्वारा निर्मित महत्वपूर्ण अवधारणात्मक ढाँचे ने भारतीय समाजशास्त्रियों को प्रभावित किया। इस प्रतिमान के बहुत से तत्व थे जिन्होंने परम्परा को महत्व देते हुए सामान्य जनता और सम्भ्रांत वर्ग के बीच सम्पर्कों को एक सूत्र में बांधा। इसके तर्क और पद्धति में एक तीसरा तत्व भी निहित था जिसने 1960 के दशक के ग्रमीणी अध्ययनों में अत्यधिक महत्व पाया था, वह था शहरी और ग्रामीण संरचना और परम्परा में एकता।

आरम्भ में 1950 के दशक के ग्रामीण अध्ययन सामाजिक रेखाचित्र पर आधारित थे और सरंचनात्मक क्रियात्मक दृष्टिकोण से ग्रामीण समजिक संरचना के पुनर्निर्माण का प्रयास किया गया था। जैसा कि श्रीनिवास ने अपने "भारतीय ग्रामों के परिचय" (1955) में लिखा था कि सामाजिक परिवर्तन की शक्तियों के अधीन मौलिक परिवर्तन होने से पूर्व ग्रामीण समाज की वास्तविकता का पूरा ब्यौरा रखना एक महत्वपूर्ण कार्य था। फिर भी ग्रामीण समाज को सैद्धांतिक दिशा देने में सिंगर और मैकीम मैरीयट ने योगदान किया। यह रौबर्ट रैड फील्ड द्वारा बनाए गये "परम्परा के सामाजिक संगठन" के विचार पर आधारित थे। उसने ग्रामीण संस्थाओं के अध्ययन में सांस्कृतिक छवि पर ही बल दिया था और परम्पराओं के विभिन्न स्तरों के बीच सम्बन्धों का अध्ययन करने का प्रयास भी किया। कुछ समसामयिक अध्ययनों में प्रयुक्त अवधारणाओं में रैड फील्ड के "लघु समुदाय" का विचार भी अवधारणाओं के ढाँचे में निहित था। भारतीय सामाजिक संगठन की विस्तृत सम्पूर्णता के साथ सम्पर्को को ढूंढने के लिये इसने ग्रामीण अध्ययनों को निर्देश दिया। इन अध्ययनों ने सघन वैज्ञानिक कार्यक्षेत्र की परंपरा को जन्म दिया जिसने अवधारणाओं के प्रयोग में सुनिश्चितता का मार्ग दिखाया। इनमें भी अनुभूति जन्य पर्यविक्षण के प्रकाश में अवधारणाओं की परिचालनात्मकता को और अधिक महत्व दिया था। इसने अग्रणी विचारकों के सामाजिक-दार्शनिक और वस्तु शिल्पीय ढंग से

अलग होने को दर्शाया। इनमें वे अग्रणी विचारक थे जो यद्यपि सामाजिक आलोचना और सामाजिक विषयों की परम्परा में जकड़े हुए थे, परन्तु उन्होंने 1950 और 1960 के दशकों में उपलब्ध स्तरों पर सघन क्षेत्र आधारित पर्यवेक्षण को लाभ नहीं पहुँचाया था।

जिस संदर्भ में अवधारणाओं के देशीकरण के मुद्दे 1950 के दशक में उभरे थे और उन्होंने भारतीय परम्पराओं के साथ अपने संबंधों के विषय में पुनर्विचार को जन्म दिया था, वे सामाजिक स्थिति से प्रभावित होकर ही बनाए गये थे। ऐसी सामाजिक अनुकूलन की स्थिति में ही भारत में बौद्धिक पुनर्जागरण का बीजारोपण किया जिसके पूर्व में राजनीतिक और सांस्कृतिक स्वतंत्रता के लिये राष्ट्रीय आन्दोलन हुए वास्तव में यह अग्रणी विचारकों के कार्यों में झलकता था। 1950 के दशक के दौरान यह संदर्भ के दो ढाँचों में अभिव्यक्त होता है: पहला समाजशास्त्र के लिये उत्साहित नीति और उसके औचित्य को ढूंढने की उत्कट इच्छा और दूसरा "भारत के लिए समाज" के प्रतिमान को खोजना जिसने देशीकरण की सम्भावना को खोजने और भारतीय संस्कृति की विशिष्ट विशेषताओं के दृष्टिकोण से भारतीय समाजशास्त्र को आँकड़ों पर आधारित सिद्धांतोत्तर व्यवहार दिया था। 1950 और 1960 के दशक में भारतीय समाजशास्त्र की नीति की दिशा का विस्तार उन क्षेत्रों में हो गया था जहाँ औचित्य ने बहुत महत्व पा लिया था। औचित्य की समस्या पर न केवल सार्वभूत अर्थों यथा खोज के प्राथमिक क्षेत्रों जिन्हें वास्तव में महत्व दिया गया, के विषय में तर्क थे, वरन् इन तर्कों का संबंध समाजशास्त्रीय प्रतिमानों के देशीकरण और उनकी राष्ट्रीय पहचान से भी था। इस संदर्भ में 1950 के दशक के उत्तरार्ध में "भारत के लिये समाजशास्त्र" पर तर्क आरम्भ हुआ और जो आज भी चल रहा है।

1950 के दशक के मध्य भारतीय समाजशास्त्र के प्रतिमानों का सामाजिक अनुकूलन उसके वैचारिक गुणों में अभिव्यक्त होता है। इसे 1950 और 1960 के दशक में किए गए सुप्रसिद्ध अध्ययनों से हटकर समझा गया था जिनका आधार सांस्कृतिक पुनर्जागरण के आदर्शों से परिपूर्ण क्षेत्र कार्य की दिशा था। वैचारिक स्तर पर, समाजशास्त्र के आदर्श मूलक विचारों में एक सूक्ष्म अन्तर आया क्योंकि प्रत्यक्ष सुधारवादी और अग्रणी विचारकों की विवादास्पद दिशाओं के साथ-साथ बाहरी औपनिवेशिक स्थिति का स्थान समाजशास्त्रियों के योगदान में रचनात्मक और सर्वसम्मति के आदर्श विचार ने ले लिया था। इसकी वृत्ति अमेरिकी सामाजिक मानवशास्त्र से लिये गये संरचनात्मक कार्यात्मक सकारवाद की परम्परा के ढाँचे में निहित होने की थी। भारतीय समाजशास्त्रियों के मुख्यधारा के कार्य पर इन दो विचारों का प्रभाव था। यह इस बात से प्रदर्शित होता है कि ग्रामीण, समुदायों, ग्रामों में विकास कार्यक्रमों, शहरों और औद्योगिक क्षेत्रों के अधिकांश अध्ययन का रूझान संरचनाओं के सामाजिक निर्माण और उनके सघन चित्रण की अपेक्षा अधिक विकास की प्रक्रिया और नीति के आलोचनात्मक मूल्यांकन की ओर था। सामाजिक परिवर्तन के समन्वित प्रतिमानों और निरंतरता पर मुख्यतः ध्यान केन्द्रित किया गया था। इसके स्थान पर सामाजिक और सांस्कृतिक संरचनाओं में जन्म लेने वाले निहित द्वन्द्वों पर उतना ध्यान केन्द्रित नहीं किया गया था।

समाजशास्त्रियों द्वारा बाद में सोचे गये सामाजिक परिवर्तन के आदर्शों की स्वीकृति आरम्भ में संरचनात्मक-प्रक्रियात्मक दृष्टिकोण से आरम्भ की गई, परम्पराओं और सामाजिक पद्धति के शुद्ध चित्रण पर बल दिया गया था। समाजशास्त्र के प्रतिमानों में सरंचनात्मक अलगाव का परिचय ड्यूमों द्वारा कराया गया था और इस विश्वास को और दृढ़ करने के लिये उसने समाज की संरचना के साथ-साथ समाजशास्त्र के आदर्शमूलक विचारों में यथास्थितिवाद के आदर्शों को पुन: बताया गया था।

भारतीय समाजशास्त्र के जिज्ञासात्मक विषय की जड़ें व्यापक दृष्टि से मुख्यत: सरंचनात्मक-प्रक्रियात्मक अथवा, कुछ अर्थों में, संरचनात्मकता और ऐतिहासिक संरचनात्मक प्रतिमानों में जमी हुई थीं। यह भारतीय समाजशास्त्र पर ब्रिटिश और अमेरिकी समाजशास्त्रीय परम्पराओं के प्रभाव को दर्शाता है। 1970 और 1980 के दशक के मध्य ये परम्पराएँ अस्तित्व में थीं। फिर भी, सामाजिक अध्ययनों के मार्क्सवादी प्रतिमानों का विकास विशेषकर युवा समाजशास्त्रिओं में देखा जा सकता है। 1950 के दशक में यह दृष्टिकोण अस्तित्व में था लेकिन वह उतना दृढ़ नहीं था। डी.पी. मुखर्जी ने सामाजिक विश्लेषण में मार्क्सवादी दृष्टिकोण के स्थान पर शास्त्रीय दृष्टिकोण को प्राथमिकता दी थी। इस दृष्टिकोण में भारतीय आदर्शों और परम्पराओं के साथ द्वन्द्वात्मक तर्क को संलग्न किया गया था। अपने आरम्भिक अध्ययनों में रामकृष्ण मुखर्जी ने मार्क्सवादी परम्पराओं की बहुत सी श्रेणियों और संचालनों के साथ आरम्भ किया था लेकिन, बाद में, जिसे उसने "निर्गमानात्मक" अन्तर संबंध की संज्ञा दी जो समाजशास्त्र में मार्क्सवादी पद्धतियों के लिये समान रूप से उपयोगी थे, उसे 1950 के दशक की पीढ़ी के समाजशास्त्रियों के बीच अकेले ए.आर. देसाई ने ही समाजशास्त्र में समान रूप से प्रचारित और प्रयुक्त किया था।

भारत के लिये समाजशास्त्र

भारतीय समाजशास्त्र का दूसरा पक्ष जो 1950 के दशक से 1970 और 1980 के दशक तक पहुँचा, वह है "भारत के लिये समाजशास्त्र को अन्वेषित करने की इच्छा। 1950 और 1960 के दशक के उत्तरार्ध के मध्य इस प्रकरण पर तर्क आरम्भ हुआ और इन दो दिशाओं में बढ़ गया। इनमें से पहली का आरम्भ ड्यूमों और पीकाक द्वारा किया गया था। आदर्शों के संदर्भ में इसका आधार सामान्यत: सामाजिक वास्तविकता के व्यवहार के लिये सरंचनात्मक पद्धति और विशेषकर भारतीय सामाजिक वास्तविकता में था। ड्यूमों के लिये विचारधारा का अर्थ "न्यूनाधिक मात्रा में सामान्य तौर पर बनाये गये विचारों और आदर्शों का समूह" था जो सामाजिक यथार्थों के मामले में प्रतिनिधित्व के यथार्थों को "व्यवहार के यथार्थों के साथ आपस में न मिलने देने में था और वे उत्तराधिकार के सिद्धांत के हिस्से थे। अत:, ड्यूमों और पीकाक के अनुसार, समाजशास्त्र को भारतीय संस्कृति का समाजशास्त्र होना चाहिए। एक तरफ, इसके निर्माण में विचारधारा की भूमिका थी और दूसरी तरफ सामाजिक "संरचनाएं" जो उत्तराधिकार के विशेष सिद्धांत को अभिव्यक्त करती हैं। यह उत्तराधिकार आदर्श, द्वन्द्व, परिवर्तनात्मक संबंध और तुलना को संचालित करने वाले हिस्सों में था। ये संरचनात्मक दृष्टिकोण के मूल तत्व थे। ड्यूमों

और पीकाक के विपरीत, एफ. जी. बेली ने माना कि भारतीय समाजशास्त्र "प्रतिनिधित्वों" का अध्ययन न होकर वास्तविक व्यवहार के ढंगों, सामाजिक भूमिकाओं और संरचनाओं का अनुभवजन्य दृष्टिकोण से अध्ययन है। यह विवाद जो यूरोपीय सामाजिक मानवशास्त्र की परम्पराओं में निहित सामाजिक संरचना पर दो दृष्टिकोणों के बीच आवश्यक तौर पर था, वह भारत के समाजशास्त्र के लिये गलती से व्यष्टिवादी और समष्टिवादी प्रतिमान के बीच चुनाव के तर्क के रूप में देखा गया। अतः, भारत के लिये समाजशास्त्र पर तर्क में हम इसे 1980 के दशक में एक विशेष बदलाव के रूप में जोर देने पर देखते हैं। अब अंतरंग और तुलनात्मक संबंधों में भारतीय सामाजिक वास्तविकता के स्वभाव पर अधिक ध्यान दिया गया है। हिन्दु राज्य की स्थापना के लिये नेपाल की सामाजिक संस्थाओं के अध्ययन के आधार पर बेगार्ट ने ड्यूमों के सामाजिक व्यवस्था के एकल पद्धति (हिन्दू) के प्रत्यय को सैद्धांतिक तौर पर अपर्याप्त पाया है। इसके आगे, "भारतीय समाज का प्रत्यय एक ऐसा प्रत्यय है जो एक पद्धति और सामाजिक सम्बन्धों की योजना के तौर पर प्रतिनिधित्व की गई, उस पद्धति का प्रभाव है जो उन दूसरी योजनाओं को धुंधला कर देता है जिसका प्रतिनिधित्व दक्षिण एशियाई अपने सामाजिक संबंधों के जगत में करते हैं।"

भारतीय समाजशास्त्र में नई धाराएं

समाजशास्त्र के लिये सामाजिक औचित्य और एक देशज प्रतिमान के लिये अन्वेषण के दौरान गतिशीलता प्रदर्शन करते हुए भी भारत में 1970 और 1980 के दशकों में अनेकों दिशाओं को चिन्हित किया गया है जिनमें अवधारणाओं के चुनाव और उनके उपयोग में नई समझ को बताया गया है। जैसे ही वे सामाजिक संरचना के बदलते ढाँचे के विश्लेषण से स्तरों के विचार के विश्लेषण की ओर बढ़ते हैं। अवधारणात्मक स्वरूपों, ऐतिहासिक आँकड़ों और भाषाई व प्रतीकात्मक संरचनात्मक तकनीक के प्रयोग, सामाजिक संरचना के अध्ययन में नई गहराइयां और दिशाएं जोड़ते हैं। वैसे ही युवा समाजशास्त्रियों द्वारा कृषक समूह, कृषि संरचना और श्रमिक संगठनों पर अध्ययन की श्रृंखला पर जोर देने के कारण विश्लेषण की मार्क्सवादी ऐतिहासिक पद्धति को गति प्राप्त होती है। जाति के कर्मकाण्डी रूपों और उनकी सांस्कृतिक और सामाजिक क्रियाओं, अथवा जाति और वर्ग के बीच सामान्य विभाजनात्मकता के स्थान पर सैद्धांतिक दिशाओं जैसे संरचनात्मकता, संवर्गी समाजशास्त्र, प्रणाली विश्लेषण और मार्क्सवाद की सैद्धांतिक भौतिक पद्धतियाँ और नव मार्क्सवाद के प्रति सजग अनेकों नवीन अध्ययन किए गये ताकि विशेष क्षेत्रीय और व्यापक राष्ट्रीय स्तरों पर सामाजिक संरचना का विश्लेषण किया जा सके। ऐसे अध्ययन मात्र वर्णन हैं जो कि 1950 की समाजशास्त्रीय परम्परा में सामान्य थे, के स्थान पर इन अध्ययनों से और अधिक विश्लेषणात्मक और वर्णन के उद्देश्य पर बल देने की वृत्ति दिखाते हैं।

इन नई सैद्धांतिक प्रवृत्तियों ने यूरोपीय और अमेरिकी समाजशास्त्र की धाराओं के साथ कुछ समानताएं दर्शाई है लेकिन व्यापक तौर पर भारतीय समाजशास्त्रियों और सामाजिक-वैज्ञानिकों ने एक नवीन आन्तरिक गतिवाद और आत्मनिर्भरता प्रदर्शित की है। 1970 और 1980 के दशकों ने

सामाजिक वैज्ञानिकों के लिये बड़े पैमाने पर संस्थाओं में सहयोग को देखा। भारतीय सामाजिक विज्ञान और शोध परिषद् भारतीय ऐतिहासिक शोध परिषद्, भारतीय दार्शनिक शोध परिषद् जैसे अनेकों संगठन और अनेकों सामाजिक वैज्ञानिक शोध संस्थानों की स्थापना इस काल में हुई। इन संगठनों ने धन और शोध सुविधाएं उपलब्ध कराई ताकि विद्वान व्यावसायिक रूप में भी इनके प्रतिभागी बन सकें। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने इस प्रक्रिया को और सुदृढ़ किया। प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्र में किये गये शोध संस्थानों और शोध संगठनों के योगदान के अतिरिक्त इसने सामान्य रुचियों के क्षेत्रों में सामाजिक शोध के विकास में सहयोग दिया।

भारत में विभिन्न सामाजिक आन्दोलन, जो 1970 के दशक में आरम्भ हुए थे, पर समाजशास्त्रीय अध्ययन की धारा को इसने मजबूत किया। व्यक्तित्व संरचना और समाजीकरण की प्रक्रिया पनपते आधुनिक स्वभाव, सामाजिक रूढ़ियों की समस्याएं और रूढिबद्ध धारणाएं और मिथकों की मनोवैज्ञानिक खोंजें, पौराणिक गाथाएं विश्वास प्रणालियां और मनोवैज्ञानिकों द्वारा किये गये कर्मकाण्डी व्यवहारों के अध्ययन ने भी भारत में समान समस्याओं के अध्ययनों को और अधिक सामग्री प्रदान की। धर्म और संस्कृति के अध्ययनों में प्रतीकात्मक संरचनात्मक अध्ययनों के उद्‌भव से विभिन्न प्रकार के उत्पादों को आपसी प्रयोग का क्षेत्र मिला।

राजनीतिक संस्थाओं, दलों, विचारधाराओं और राजनीतिक भागीदारी की प्रक्रियाओं के विश्लेषण के लिये राजनीतिक वैज्ञानिकों ने व्यवहारवादियों से प्रभावित होकर समाजशास्त्र के साथ निकट के संबंध स्थापित किए। राजनीतिक नेतृत्व, दल संरचना और मत व्यवहार पर उनके अध्ययनों ने समाजशास्त्रियों की शक्ति संरचना, सामाजिक आन्दोलनों और भारतीय ग्रामीण, शहरी और जनजातीय समुदायों में विकास और परिवर्तन की प्रक्रियाओं को अपनी समझ में, बहुत अधिक योगदान दिया। 1970 और 1980 के दशक में हुए सामाजिक-वैज्ञानिक विकास, उनके प्रतिमानात्मक परिवर्तन और तत्वात्मक दिशाओं में परिवर्तन जो सामाजिक विज्ञान के पास उपलब्ध साधनों के कारण हुए थे ने नई सामाजिक परिस्थिति को परिभाषित किया जिसमें समाजशास्त्रीय शोधों को अवधारणाओं और तात्विक विषयों पर नये दृष्टिकोणों की प्राप्ति हुई।

सामाजिक आन्दोलन के अध्ययन के विकास के साथ उस सामाजिक संरचना के अध्ययन का भी विकास हुआ जिसने नई अवधारणाओं एवं दृष्टिकोणों को अपनाया था। कृषि और ग्रामीण संरचना के अध्ययनों ने प्रचुर मात्रा में सामाजिक ऐतिहासिक, कानून प्रणालियाँ, व्यापार, वाणिज्य और उनके राजनीतिक अर्थशास्त्र से संबंध, रक्त संबंध, नीति और संस्कृति के आँकड़े लिये। एक गाँव के वर्णनात्मक अध्ययन अथवा एक एकल सामाजिक व्यवस्था में वह चाहे ग्रामीण हो या शहरी एक राजनीतिक इकाई (पंचायती राज) अथवा परिवार के अध्ययन के स्थान पर समय और क्षेत्र की सीमा से परे सामाजिक संरचनाओं के विश्लेषणात्मक तुलनात्मक अध्ययन किये गये। ऐसे अध्ययन को इसने उनके चरित्र में और अधिक व्याख्यात्मक बनाया। विशिष्ट अस्थायित्व, क्षेत्रीयता और मात्र वर्णन पर बल देने के स्थान पर सामाजिक संबंधों, तन्त्रों और अर्थों

की प्रतीकात्मक व्यापकता पर बल दिया गया। वह अवधारणा की योजना जो इन अध्ययनों में प्रयोग के लिये आरम्भ हुई थी, उनका स्त्रोत नये सैद्धांतिक प्रतिमानों में था। समाजशास्त्रीय शोध के विशेष क्षेत्र जैसे विकास का समाजशास्त्र, शिक्षा का समाजशास्त्र, स्वास्थ और औषधि का समाजशास्त्र, व्यवसायों का समाजशास्त्र और समाज के कमजोर वर्गों यथा अनुसूचित जनजातियों, अनुसूचित जातियों, स्त्रियों, ग्रामीण और शहरी निर्धनों की समस्याओं के विश्लेषण में विस्तार हुआ ताकि सामाजिक पुनर्निर्माण और विकास को बढ़ावा दिया जा सके। इन समस्याओं की प्रकृति को समझने में भारतीय समाज में सामाजिक ढाँचे, संस्कृति और गतिशीलता के संबंध में समाजशास्त्रीय समझ में वृद्धि हुई। संरचनात्मक संवर्गीय समाजशास्त्रीय पद्धतियों का प्रयोग करके धर्म संबंधी अध्ययन किये गये और इन पद्धतियों को गति और नव अवधारणात्मक आधुनिकता दोनों प्राप्त हुई। इन अध्ययनों ने समाज के अध्ययन के लिये नये दृष्टिकोण आरम्भ किये जिनका क्षेत्र एक और संवर्गीय पद्धति से लेकर संरचनावाद और दूसरी ओर गुणात्मक और गणितीय (गणनात्मक) प्रतिमानों के विकास में था।

अत: 1970 और 1980 के दशक के मध्य हम भारतीय समाजशास्त्र की ज्ञानात्मक संरचना में पनपती दो दिशाओं को पाते हैं और ये दोनों दिशाएं विचाराधारा के प्रश्नों से जुड़ी हुई हैं। इनमें से सबसे पहली दिशा व्यक्तिगत समाजशास्त्रियों के कौशल और मौलिक विषयों, जिनका मूल्यांकन आदर्शो पद्धतियों और ज्ञानशास्त्र के संदर्भ में किया गया था, पर आत्मालोचनात्मक एवं आत्मकथात्मक विचारों पर आधारित थी। अधिकांश आत्मकथात्मक योगदान इस परम्परा से जुड़े हुए थे। दूसरी दिशा में ऐसे अध्ययनों के समूह शामिल थे जिन्होंने आरम्भ में विचार के ढांचे में समाजशास्त्रियों के ज्ञानात्मक और शिक्षाशास्त्रियों ने इस विषय पर बहस की। इन अध्ययनों में, विषयों का संबंध पद्धति संबंधी और अवधारणा संबंधी क्षेत्रों से नहीं था वरन् वे सीधे तौर पर समाजशास्त्रीय अवधारणाओं एवं पद्धतियों के सामाजिक अनुकूलन पर निर्भर थे। अत: यह बल का विपर्यय था। महत्व का स्थानान्तरण उस आधारशिला, पर जिसमें विचारधारा पर ज्ञान का प्रभुत्व था, से हटकर ऐसी आधारशिला पर हुआ जिसमें ज्ञान पर विचारधारा का प्रभुत्व था। बाद के अध्ययनों के स्वरूपों में, बहुत से परिवर्तन आए। एक वर्ग समाजशास्त्र की सामाजिक उत्पत्ति, जो प्राय: उच्च जाति अथवा वर्ग से आती है, को उसकी प्रभुता सम्बन्धी सैद्धांतिक दिशाओं तथा शोध में उसकी वास्तविक रुचि में संबंध स्थापित करने का प्रयास करता है। अत:, "ऐसा माना जाता है कि समाजशास्त्रियों का संबंध के ढाँचों का दृष्टिकोण, ग्राम अथवा समुदाय में जाति और वर्ग प्रणाली में साधनों से वंचित रहने अथवा शोषण की सीमा, समस्याओं के सैद्धान्तिक निर्माण अथवा पहचान का समन्वय उसकी अपनी सामाजिक उत्पत्ति के स्वभाव द्वारा निश्चित होते हैं। जाति और सामाजिक असमानता के अध्ययन में इसने आमूल परिवर्तन के दृष्टिकोण के स्थान पर उच्च वर्ग द्वारा निम्न वर्ग के लिये तुष्टि के दृष्टिकोण को जन्म दिया। दूसरे वर्ग ने अपना ध्यान भारतीय वास्तविकता को जानने के लिये ब्राह्मणीय प्रतिमान पर केन्द्रित किया। इस सामाजिक वास्तविकता को भारत में अनुसूचित जाति और समुदायों के मध्य नव बौद्ध

धर्मावलम्बी आन्दोलन अथवा दलित आन्दोलनों के प्रचारकों द्वारा प्रचुर मात्रा में प्रचारित भारतीय वास्तविकता में देखा गया। जाति समाज की यह गैर ब्राह्मणीय विचारधारा जो ज्योतिबा फुले और अम्बेडकर जैसे समाज सुधारकों के विचार से प्रभावित है, जाति को वर्ग प्रभुत्व और संस्कृति अधीनता समझाती है। फिर भी, सामाजिक मानवशास्त्रियों के जाति से विशेष संबंध होने के कारण अनेक महत्वपूर्ण कार्यों पर ब्राह्मण केन्द्रित होने का आरोप लगाया जाता है। शिक्षा के समाजशास्त्र में यह उस सीमा को व्यक्त करता है जिस तक भारत में पनपती सामाजिक स्थितियाँ समाजशास्त्र के शिक्षाशास्त्र से टकराने की बढ़ती हुई वृत्ति को अभिव्यक्त करती हैं।

भारत में इस विचारधारा और सामाजिक बदलाव से जुड़े तनाव के साथ गैर ब्राह्मणीय प्रतिमान जिन्होंने दलित (शोषित) समूहों में पुनर्जागृति उत्पन्न की, उनके सामाजिक आन्दोलनों और किस सीमा तक उनका सामाजिक उत्थान हुआ है जो उनकी सामाजिक चेतना की वृद्धि में सहायक है और दूसरी ओर उनमें नये बौद्धिक वर्ग (चाहे वह मार्क्सवादी हो या गैर मार्क्सवादी) के विकास के द्वन्द्व को दर्शाता है जिसने गहनता से भारत में जातियों और समुदायों के सामाजिक शोषण और सांस्कृतिक प्रबलता को ढूंढने का प्रयास किया है। अतः, उनका दृष्टिकोण ऐतिहासिक और विचारधारात्मक दोनों है।

संदर्भ ग्रन्थ

- योगेन्द्र सिंह - 'इन्डियन सोशियोलोजी'-शोश्यल कंडिशनिंग एण्ड इमरजिंग कन्सर्नस, न्यू देहली, विस्तार, 1986
- रामकृष्ण मुकर्जी - सोशियोलोजी आफ इन्डियन सोशियोलोजी, मुंबई, एलाइड पब्लिशर्स, 1979

आदमी का प्रतिबिम्ब : भारत के समाजशास्त्र में विचारधारा और सिद्धांत 2

भारतीय समाजशास्त्र की सैद्धांतिक दिशाओं का हम इस विज्ञान में प्रारंभ से ही जो बुनियादी तनाव रहे हैं, उनके माध्यम से विश्लेषण कर सकते हैं। ये तनाव जितने सैद्धांतिक हैं उतने ही वैचारिक भी हैं। सैद्धांतिक रूप से समाजशास्त्र में जो महत्वपूर्ण तनाव है वह एक ओर तो "सामान्य सिद्धांत" और अवधारणात्मक विन्यास और दूसरी ओर उन अवधारणाओं और प्रस्तावों के विशिष्टीकरण और संदर्भ परकता सर्वव्यापीकरण के बीच के हैं। ऐसा दिखाई देता है कि समाजशास्त्रियों की सिद्धांतों के बारे में जो प्रतिबद्धता है, वह बराबर बढ़ती-घटती रही है। इसके लिये न केवल सिद्धांत निर्माण के क्षेत्र में इसकी खोजें, सफलताओं और असफलताओं की प्रकृति उत्तरदायी है बल्कि समाजशास्त्र के निर्माण की ऐतिहासिक परिस्थितियाँ भी उत्तरदायी हैं। इसके कारण समाजशास्त्र एक ओर विवेचनात्मक तनाव के रूबरू होता है जिसका संबंध ज्ञानात्मक संरचना और विचारधारा की भूमिका से है। दूसरी ओर अवधारणाओं के सर्वव्यापीकरण या विशिष्टीकरण तथा समाजशास्त्र की जो भी श्रेणियां बनायी जा रही है उनका सरोकार भी इन तनावों का आधार हैं।

भारत में समाजशास्त्र इन ज्ञानात्मक तनावों का अनुभव तब से कर रहा है जब से इसका प्रारंभ हुआ है। ऐसा लगता है कि 1952 से 1977 तक इन तनावों में उतार-चढ़ाव विशेष रूप से आया है। इसका कारण यह रहा है कि हमारे यहाँ इतिहास और ज्ञान की वास्तविकताओं की शक्तियाँ बराबर बदलती रही हैं। समाजशास्त्र की सैद्धांतिक दिशाओं और विचारों की बदलती हुई संरचना के विश्लेषण के लिये यह लाभदायक होगा अगर हम 1952 से 1960 की अवधि का विश्लेषण करें। यह अवधि मुख्यतया नवाचारों और परिवर्तन के अनुकूलन की थी। दूसरी अवधि 1960 से 1965 की है। इस अवधि में हमारी सैद्धांतिक वरीयता में खिसकन आई है और समाजशास्त्र की विचारधारा तथा सिद्धांत में कुछ विश्लेषणात्मक तनाव आये। आगे की अवधि 1956 से 1970 की है। इस अवधि में समाजशास्त्र में स्वयं की चेतना आई तथा सिद्धांत और वास्तविकता के योगदान के क्षेत्र में नई दिशाओं ने जन्म लिया। अंतिम अवधि 1970 से 1977 की है। इस अवधि में समाजशास्त्र नई परिपक्वता की ओर मुड़ा है और तब से यह बराबर ज्ञान के सैद्धांतिक और वास्तविक आयामों की खोज में है।

भारतीय समाजशास्त्र पर जो हमने चौरहा अवधिकरण 1952 से 1977 दिया है शायद वह हमें यह पहचान दे सके कि किस भांति प्रत्येक अवधि में प्रभावी सैद्धांतिक और विचारधारात्मक व्यवस्थाएं पैदा हुई हैं। लेकिन भारतीय समाजशास्त्र, सामान्य समाजशास्त्र की तरह इस अवधि में सिलसिले से किन्हीं पैराडाइम को बना सका है। जो कुछ देखने को मिलता है वह यह है कि कुछ प्रतिस्पर्धा पैराडाइम और सैद्धांतिक अभिस्थापन दोनों ही अपने सहअस्तित्व को बनाये रहते हैं। इस सम्पूर्ण अवधि में भारतीय समाजशास्त्रियों ने सामान्य सिद्धांत निर्माण से कम सरोकार रखा है। उन्होंने तो अपना मतलब कतिपय अवधारणात्मक विन्यासों, सामाजिक समस्याओं के विश्लेषण के लिये प्रयोग में लिया है। इसके अपवाद राधाकमल मुखर्जी हैं। उन्होंने समाज विज्ञान के दर्शन (1960) और भारतीय समाजशास्त्रीय कांफ्रेंस (1958) के अध्यक्षीय भाषण के अवसर पर यह प्रस्ताव किया कि सामाजिक यथार्थताओं की समझ और विश्लेषण के लिये हमें सभी समाज विज्ञानों का एकीकरण करना चाहिए। तब से अब तक समाजविज्ञानों का कोई ऐसा एकीकरण नहीं हो पाया है। हमारे अधिकांश समाजशास्त्री केवल अवधारणात्मक विन्यासों के प्रयोग से संतुष्ट हैं।

भारतीय समाजशास्त्र के मुख्य सैद्धांतिक अभिस्थापनों में पिछले वर्षों में विभिन्न प्रकार के उतार-चढ़ाव आये हैं। जिन क्षेत्रों में ये उतार-चढ़ाव आये हैं, वे हैं: दर्शनशास्त्र, संस्कृतिशास्त्र, संरचनात्मक और द्वन्दात्मक-ऐतिहासिक उपागम। सिद्धांत के निरूपण के आधारों पर इन अभिस्थापनों में कोई भी व्यवस्थित स्वरूप से अस्तित्व नहीं रखता। इनमें से अधिकांश विन्यास केवल विश्लेषण की एक शैली की तरह काम करते हैं और इनका विकास अवधारणाओं की एक आभासी व्यवस्था के रूप में दिखाई देता है। जो चार सैद्धांतिक अभिस्थापन हैं जिन्हें हमने चार अवधियों में बांटा है, वे 1952 या उससे भी पहले भारतीय समाजशास्त्र में उपलब्ध थे और इन्हें विभिन्न स्वरूपों में लागू किया जाता है। केवल दार्शनिक अभिस्थापन ऐसा है जो पिछले कुछ वर्षों में कमजोर हुआ है और इसकी कमजोरी का कारण यह है कि इसका समाजशास्त्रीय अध्ययन की वास्तविक समस्याओं के साथ कोई सावयवी जुड़ाव नहीं है। यहाँ हम भारतीय समाजशास्त्र की सैद्धांतिक संरचना में जो बदलाव इन चार अवधियों में आया है उसकी व्याख्या करेंगे। व्याख्या करने में हम यह देखेंगें कि बदलाव का कारण कहाँ तक नवाचार और अवधारणाओं और श्रेणियों के सर्वव्यापीकरण से है। यह बदलाव किस सीमा तक विशिष्ट तनावों को देखता है और किस अवधि में कितना बदलाव आया है।

दार्शनिक, सैद्धांतिक अभिस्थापन

भारतीय समाजशास्त्र में दार्शनिक अभिस्थापन लखनऊ स्कूल के समाजशास्त्र से जुड़ा है। इस स्कूल में राधाकमल मुखर्जी, डी.पी. मुखर्जी और ए. के. सरन के योगदान महत्वपूर्ण हैं। इनमें से अधिकांश योगदानों का संबंध 1952-60 की अवधि में है। इस अवधि के बाद तो केवल ए.के. सरन ही इस अभिस्थापन के प्रणेता रहे हैं। दार्शनिक अभिस्थापन ने भारतीय समाजशास्त्र की सैद्धांतिक प्रकृति पर बहुत बड़ा प्रभाव डाला हो, ऐसा नहीं हैं। इसका कारण शायद यह है कि इन तीनों समाजशास्त्रियों की दार्शनिक-सैद्धांतिक क्षेत्र में जो

उपलब्धियां हैं, वे एकीकृत और जुड़ी हुई नहीं हैं। उनकी कृतियों में जो सैद्धांतिक तनाव है वे एक समान नहीं हैं। राधाकमल मुखर्जी ऐसा समझते हैं कि समाजशास्त्र में ऐसी सर्वव्यापी अवधारणाओं और सामान्य कोटियों की संभावना है जो न केवल समाजशास्त्र को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जोड़ सके लेकिन समाज विज्ञानों और प्राकृतिक विज्ञानों को भी सम्मिलित कर सके। इस भांति राधाकमल मुखर्जी सर्वव्यापी श्रेणियों के निर्माण की संभावना देखते हैं। लेकिन दूसरी ओर डी.पी. मुखर्जी, इस मुद्दे पर निश्चित नहीं हैं। वे "सर्वव्यापी" और "विशिष्ट" समाजशास्त्रीय श्रेणियों के बारे में संदेहपूर्ण हैं। रुचिकर बात है कि वे प्रभावी रूप से मार्क्सवाद की तरफ झुकाव रखते हैं लेकिन जब भारतीय समाजशास्त्र के मॉडल की बात होती है तब वे विशिष्टवाद की तरफ मुड़ जाते हैं। उनका जोर परम्परा और इतिहास की ओर है। उनकी कृतियों पर डिल्थे और मार्क्स का प्रभाव है। देखा जाये तो इन दोनों विचारकों के अभिस्थापन परस्पर विरोधी हैं। इसी कारण डी.पी. मुखर्जी का द्वन्दात्मक़ता के प्रति जो बोध है और जिसे वे विश्लेषण की बहुत बड़ी विधि मानते हैं, के सर्वव्यापी अर्थ नहीं हैं। दूसरी ओर ए. के. सरन, समाजविज्ञानों और समाजशास्त्र की दार्शनिक और विचारधारा संबंधी प्रकृति पर जबरदस्त तार्किक स्थिति अपनाते हैं। वे भारतीय समाज के लिये एक ऐसे उपागम को स्वीकार करते हैं जो इस समाजशास्त्र को पूर्ण रूप से विशिष्ट दर्जा देता है। इस कारण हम चाहें तो यह भी कह सकते हैं कि इन तीनों समाजशास्त्रियों के दृष्टिकोण में एक नैरन्तर्य है। इसमें राधाकमल मुखर्जी समाजशास्त्र को अपने अंतिम छोर में सर्वव्यापी अभिस्थापन देते हैं। ए. के. सरन समाजशास्त्र को अतिविशिष्ट समाजविज्ञान का दर्जा देते हैं और मुखर्जी इन दोनों दृष्टिकोणों के मध्य में हैं।

राधाकमल मुखर्जी समाजशास्त्र और अन्य समाजविज्ञानों (1960) को बुनियादी रूप में दर्शनशास्त्र मानते हैं। वे यथार्थता के स्तर के लिये, भौतिक से अधि-भौतिक स्तर तक द्वन्दात्मक अन्तःक्रिया की चर्चा करते हैं और ऐसा करने में वास्तविकता के एक स्तर को दूसरे स्तरों के साथ जोड़ते हैं। वे आगे कहते हैं कि इन स्तरों के लिये अवधारणाओं या श्रेणियों के अलग-अलग स्तर होंगे। इस भांति उनका आग्रह है कि किसी भी ज्ञान की विधा को विभिन्न सांचों में नहीं ढाला जा सकता। द्वन्द्व का बोध ऐसा है जो एक बुनियादी प्रक्रिया है और इसका संबंध यथार्थता के एक स्तर से लेकर दूसरे स्तर तक पहुँचता है। मुखर्जी कहते हैं कि आदमी का प्रतिबिम्ब वास्तविकता के इन स्तरों में ही निहित है। उनका कहना है कि मनुष्य में केवल संघर्ष की प्रक्रियाएँ ही नहीं होती, स्वतंत्रता और सामंन्जस्य भी होता है। यहीं पर मुखर्जी मार्क्सवादियों के द्वन्द्व के बोध वे विमुख हो जाते हैं। वे लिखते हैं:-

> "द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का दर्शन आज सर्वव्यापी बोध के सामाजिक विकास की धारणा देता है। इस भौतिकवाद के अनुसार सारी दुनिया में लड़ाईयाँ, संघर्ष, क्रांति और युद्ध होंगे और इसके परिणाम स्वरूप सामाजिक विकास होगा। इस विकास का आधार आर्थिक आंदोलन के द्वन्द्व के अन्तर्गत होगा। आधुनिक प्राकृतिक उद्‌विकास वाद, स्पेंसरवाद या मार्क्सवाद मनुष्य के मस्तिष्क

और मूल्यों को इस धरातल पर ले आते हैं कि वह निष्क्रिय बन जाता है और उसकी सभी गतिविधियाँ आन्तरिक रूप से चलती हैं जिस पर न तो उसका बौद्धिक नियंत्रण होता है और न वह उसको कोई दिशा दे सकता है। आज की आधुनिक विचारधारा में जिस भांति उद्विकास हमें दिखाई देता है, उसके कई स्तर और आयाम हैं जिनमें व्यक्ति, मूल्य और समाज विकसित होते हैं। मूल्य सृजनात्मक होते हैं और वे केवल पर्यावरण के साथ अनुकूलन के साधन मात्र नहीं होते। पर्यावरण भी बदलता है और इसको भी मनुष्य के लक्ष्य मूल्य और आदर्श प्रभावित करते हैं।''

(आर. मुखर्जी: 1960, पृष्ठ 118)

मुखर्जी अपने द्वन्द्व के बोध में हीगल, वेदान्त और बौद्ध धर्म से बहुत कुछ लेते हैं। वे तो यहाँ तक कहते हैं कि ''मनुष्य द्वन्द्वात्मक रूप से सोचता है और इसी तरह से जीवित रहता है। मनुष्य के सभी संबंध और व्यवहार और मूल्य जो गहराई से उसमें पाए जाते हैं उनमें ध्रुवीय सिद्धांत और अभिवृत्तियां होती हैं। यही नहीं मनुष्य अपने आप को वेदान्त के नेति नेति के द्वन्द्व से, बुद्ध के सुन्यात के द्वन्द्व से समझता है, अपनी पहचान करता है। वे सभी प्रकार के तार्किक न्यूनीकरण के विरोधी हैं और यह तर्क का न्यूनीकरण जैविकीय, मनौविज्ञानिक, और आर्थिक सभी प्रकार के मानव व्यवहार पर लागू होता है। द्वन्द्व का मतलब आदमी के लिये यह है कि वह विरोधी शक्तियों के उतार-चढ़ाव से ऊपर उठ कर ऊँचे और अधिक ऊँचे स्तर पर अपनी नैतिक और संज्ञानात्मक पहचान करे। इस तरह लौकिक तत्व समाज के माध्यम से ही संभव है। मुखर्जी कहते हैं कि ''आदमी में जो लौकिक तत्व होता है, उसकी प्राप्ति समाज के माध्यम से होती है और इसी कारण उसमें आन्तरिक तनाव होता है। ''वे कहते हैं: ''यह आदमी की प्रकृति है कि वह लोकातीत बन जाये। यह इसलिये कि उसका स्वयं का स्व आगे बढ़ जाता है, पड़ोसी से वह आगे हो जाता है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड से वह आगे निकल जाता है।'' अब हम समाज की सुदृढ़ता के मॉडल की बात करते हैं तब मुखर्जी उदार प्रजातांत्रिक प्रतिमान और मार्क्सवादी मॉडल दोनों को अपर्याप्त मानते हैं। वे वैकल्पिक ''तीसरे मार्ग'' या ''मध्यम मार्ग'' का सुझाव देते हैं। इसके अनुसार आदमी की स्वतंत्रता का सिद्धांत और सामान्य आदमी की गरिमा का सिद्धांत एक उदार विचारधारा की तरह उभर जाता है। तब आदमी समाज से जुड़े हुए जितने भी स्रोत होते हैं, उनमें भागीदारी करता है जैसा कि हम श्रमिक वर्ग में देखते हैं। ऐसा प्रतिपादन मार्क्सवाद ने भी किया है।

भविष्य की सामाजिक व्यवस्थाओं के आयोजन के निदान के लिये मुखर्जी ने जिस मध्यम मार्ग का विकल्प दिया है, उसका आधार यह है कि ''हम एक ऐसे एकीकृत समाज विज्ञान के मॉडल को बनाये जो मैटा-वैज्ञानिक और मैटा-मानव-शास्त्रीय स्तर पर संयुक्त रूप ले सके।'' इस प्रकार का मध्यम मार्ग विज्ञान के दर्शन और मूल्यों के संघर्ष को सुलझा देगा। समाज विज्ञानों में आदमी की प्रवृति के बारे में जो विभिन्न विन्यास हैं, उन्हें एक व्यवस्था के रूप में एक बना देगा और मनुष्य के सापेक्षिकता के सामान्य सिद्वांत को बना सकेगा।

इस तरह का सापेक्षिकता का सिद्वांत सर्वव्यापक मानकों को अपने अन्दर ले लेगा और इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण मानव इतिहास और सभ्यता आ जावेगी।'' मुखर्जी का समाज विज्ञान का सिद्धांत इसी भांति अधिभौतिक द्वन्द्व के बोध के विश्लेषण से लिया गया है। यदि इसे हम समाजशास्त्रीय सिद्धांत के योगदान के रूप में लें तो यह एक मैटा-सिद्धांत के स्तर पर पहुंच जाता है। इसका आधार निगनात्मक कार्यकारण से जुड़ा है और यह अनुमानित्त है। यदि इसे समाजशास्त्रीय अध्ययनों पर लागू किया जाये तो हमें इसके विभिन्न प्रकार मिलेंगे। इस सिद्धांत पर कोई आनुभाविक अध्ययन नहीं किया गया है यद्यपि मुखर्जी ने अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र के क्षेत्र में ऐसे कई अध्ययन किये हैं। दूसरे शब्दों में, अपने दार्शनिक मॉडल पर उन्होंने अपना कोई अध्ययन नहीं किया है।

इधर, दूसरी ओर डी.पी. मुखर्जी कोई सामान्य व्यवस्था सिद्धांत या नैतिक दर्शनशास्त्र पर वृहत् सामाजिक सिद्धांत बनाने का प्रयास नहीं करते। वे अपनी कृतियों में द्वन्द्व की विचारधारा को काम में लाते हैं और यह धारणा अपने प्रतिपादन में मार्क्सवादी हैं वे इसे मार्क्सवादी तर्क या मार्क्सोलोजीकल कहते हैं। यह धारणा देने के बाद भी मुखर्जी इसके प्रयोग और इसकी श्रेणियां बनाने का काम समाज वैज्ञानिक पर ही छोड़ देते है। समाज वैज्ञानिक अपनी सांस्कृतिक परम्परा के अनुसार ये श्रणियां बना सकता था। उनकी पुस्तक डाईवर्सिटिज़ (1958) में उनके वे लेख सम्मिलित हैं जो अधिकांशत: सैद्धांतिक हैं। इस पुस्तक में वे आग्रहपूर्वक कहते हैं कि सामाजिक विश्लेषण के इतिहास का प्रयोग होना चाहिए। मुखर्जी के अनुसार भारत के समाजशास्त्रीय व्यवहारों में परम्परा की धारणा का स्थान महत्वपूर्ण है। इसका कारण यह है कि वर्गों के निर्माण, वर्ग संघर्ष और संरचनात्मक तनाव में भारतीय समाज में ऐतिहासिक सन्दर्भों, परम्पराओं और प्रतीकों की बड़ी छाप है। देखा जाए तो डी. पी. मुखर्जी ने जो समाजशास्त्रीय मॉडल प्रस्तुत किया है, उसमें डिल्थे और मार्क्स का संश्लेषण है। समाजशास्त्रीय विश्लेषण में इतिहास का बड़ा महत्व है। उत्पादन विधियाँ और उससे जुड़े हुए सामाजिक संबंध एवं ऐतिहासिक शक्तियाँ अनिवार्य तत्व हैं। इन शक्तियों के साथ परम्पराएं छेड़छाड़ करती हैं और इस कारण सामाजिक विश्लेषण में ये सभी प्रक्रियाएँ विशिष्ट संदर्भ रखती हैं। एक सीमा तक तो यह कहना चाहिए कि इतिहास अपने आपको दोहराता नहीं है। समाजशास्त्रीय विश्लेषण में ऐतिहासिक-द्वन्द्वात्मक विधि की अपेक्षा डी.पी. मुखर्जी आनुभविकवादी तथा प्रत्यक्षवादी विधि को पसन्द करते हैं। समाजशास्त्रीय विश्लेषण में वे प्रामाणिकता को अस्वीकार करते हैं। यह इसलिये कि यह विधि आनुभविकता से जुड़ी हुई है। विशेषकर के मुखर्जी की आनुभविक विधियाँ भारतीय सामाजिक यथार्थ की संस्कृति की उपेक्षा करती हैं। इन मॉडलों में सबसे छोटी इकाई व्यक्ति होता है। मुखर्जी का कहना है कि विश्लेषण की आनुभविक विधि अपने मूल में पश्चिम से आई है। केवल मार्क्सवाद का भारतीय रूपान्तरण ही यहाँ के समाजशास्त्र के लिये प्रांसगिक है, पश्चिम की और विधियां नहीं। डी.पी. मुखर्जी इस सम्भावना को अस्वीकार नहीं करते की ऐतिहासिक रूप में विशिष्ट स्वरूप प्राप्त करने वाले समाजों को समाजविज्ञानों की वस्तुनिष्ठा को तुलना की दृष्टि से प्रांसगिक समझा जाए।

उनका तो कहना है कि हमें ऐसी समाजशास्त्रीय श्रेणियों की चेतना होनी चाहिए जिनका विकास परम्पराओं के अनुसार हुआ हो। इसका मतलब यह हुआ कि समाजशास्त्र में जब हम तुलना करते हैं तब हमें विभिन्न स्तरों को देखना चाहिए। ये स्तर संदर्भ से लेकर तुलना तक बने होते हैं, व्यक्ति से लेकर सार्वभौमिक होते हैं। रूचिकर बात यह है कि मुखर्जी ने समाजशास्त्रीय श्रेणियों को विभिन्न स्तरों के आधार पर नहीं देखा है। इस अभाव के होते हुए भी मुखर्जी ने इनमें कोई रूचि नहीं दिखाइ है। ऐसा लगता है कि समाजशास्त्रीय प्रतिपादनों में ये अभाव अन्तर्निहित हैं।

ए.के. सरन, डी.पी. मुखर्जी के विद्यार्थी थे। बाद में चलकर वे उनके सहकर्मी भी बन गये। यद्यपि सरन मुखर्जी की कृतियों से प्रेरित थे, फिर भी वे मुखर्जी ने जो कुछ समाजशास्त्र और वृहत् सिद्धांत में प्रतिपादन किया है उससे तार्किक रूप से और अधिक नितान्त दृष्टिकोण अपनाते हैं। ए.के. सरन अपनी कृतियों में सबसे पहले वृहत् सिद्धांत और उसमें निहित समाजशास्त्र के आमुख की पड़ताल करते हैं और कहते हैं कि जो कुछ इसमें है वह निश्चिमी संस्कृति और संज्ञान से जुड़ा हुआ है। ऐसी स्थिति में वृहत् सिद्धांत ऐतिहासिक चुनौतियों का सामना नहीं कर सकता। स्वयं पश्चिमी समाज औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप अपनी परम्पराओं को खो रहा है, कमजोर हो रहा है और समाजशास्त्र के लिए एक सांस्कृतिक विकल्प की तरह काम करने में अपर्याप्त है। सरन के अनुसार स्वयं पश्चिमी समाज भी संकट में है। यह समाज अपने परम्परागत पवित्र-अपवित्र के सांसारिक दृष्टिकोण को खो रहा है। ऐसी स्थिति में भारत जैसे गैर-पश्चिमी राष्ट्र जब पश्चिम की संस्कृति को अपनाते हैं तो यह दोहरी भ्रामकता है। पहली भ्रामकता तो यह है कि अब भारत में अनिवार्य रूप से समाजशास्त्र जिस वैचारिक धारणा को अपना रहा है, उसका उद्गम पश्चिम से है और यह भारतीय लोकाचार के लिए पराया है। दूसरी भ्रामकता यह है कि यह परम्परागत भारतीय विश्वदृष्टि के स्थान पर एक खराब विश्वदृष्टि का विकल्प है। सरन के अनुसार ऐसी समस्या का हल इसी में है कि इस तरह के समाजशास्त्र को हम पूर्ण रूप से अस्वीकार कर दें। देखा जाए तो आज समाजशास्त्र की जो भी अवधारणायें हैं, चाहे वे मार्क्सवादी तर्क में या प्रत्यक्षवाद के तर्क में बनी हुई हो, जैसे कि विधि संबंधी व्यक्तिवाद या सामाजिक सावयववाद, सब बेमतलब हैं। यह इसलिए कि ये अवधारणायें झूठे प्रस्तावों को संरक्षण देती हैं। और एक प्रकार की प्राकृतिक उद्विकासवादी धारणा को बढ़ावा देती हैं। सरन, डी.पी. मुखर्जी की विभिन्नता की आलोचना करते हैं और ऐसा करके वे योजनाबद्ध सामाजिक व्यवस्था की धारणा का मूल्यांकन करते हैं। वे समझते हैं कि यह धारणा समाजशास्त्रीय ज्ञान के सिद्धांत की नींव है। वे लिखते हैं:

"यदि हम योजनाबद्ध सामाजिक व्यवस्था की विचारधारा की ऐतिहासिक जड़ों को देखें तब हमें विश्वदृष्टि के दृश्य को मनुष्य के अस्तित्व की महान श्रृंखला के साथ देखना होगा। परम्परागत रूप से जब हम विश्वदृष्टि को तुरन्त प्राप्त होने वाली स्वीकारात्मक प्रतिक्रिया के रूप में देखें तो हमें अनुभवातीत व्यवस्था के अन्तर्ज्ञान के साथ में विकल्प के रूप में एक सर्व-व्यापी व्यवस्था को देखना होगा। पश्चिम में जो परम्परागत सामाजिक

व्यवस्था है जिसका आधार एक प्रतिस्पर्धात्मक व्यक्तिवादी समाज है, उसे तार्किक-दार्शनिक रूप में रखना होगा। आज जिस योजनाबद्ध और सामाजिक आर्थिक व्यवस्था की हम चर्चा करते हैं, वह अस्पष्ट रूप से आदमी की इसी आदर्श धारणा के साथ जुड़ी हुई है। जब हम एक प्रतिस्पर्धात्मक विश्वदृष्टि को अपनाते हैं तो उसमें एक ईश्वर प्रदत्त सामूहिक सुरक्षा भी होती है। इस तरह की सामाजिक आर्थिक व्यवस्था में एक तनाव होता है और यह तनाव स्वयं के न्याय निर्णय और योजना की भावना से पैदा होता है।''

सरन ने पचास के दशक के प्रारंभ से ही इसी दिशा में अधि-समाजशास्त्रीय तर्क को प्रस्तुत किया है। अपने एक निबन्ध, ''भारत में समाजशास्त्र'' में सरन राधाकमल मुखर्जी के इस प्रयास को अस्वीकार करते हैं कि समाजविज्ञानों का रूझान उदात्तीकरण की तरफ होना चाहिए। उनका कहना है कि किसी भी सामाजिक व्यवस्था में आदमी को नैतिक स्वतंत्रता होनी चाहिये। वास्तव में सामाजिक व्यवस्था को मध्यम मार्ग का अनुकरण एक विकल्प के रूप में करना चाहिए। सरन मुखर्जी की विचारधारा को तार्किक रूप से असंगत मानते हैं। उन्होंने डी.पी. मुखर्जी का आलोचनात्मक रूप से मूल्यांकन किया है और वे कहते हैं: "अगर मुखर्जी ने जो कुछ कहा है उसके आशय को देखें तो जिस किसी विचारधारा को मुखर्जी ने अपनाया है, कि हम उससे कहीं दूर चले जायेंगे। जो कुछ मुखर्जी कहते हैं वह और कुछ न होकर परम्परागत समाजशास्त्र होगा और ऐसा समाजशास्त्र हमें कुमारस्वामी और शीयोन से आगे नहीं ले जायेगा। देखा जाए तो सरन ने छठे और सातवें दशक में जो कुछ लिखा है उसमें उन्होंने अपने पिछले विचारों को ही आगे बढ़ाया है। सरन के कथन की दो दिशाएँ हैं। पहली दिशा यह है कि उन्होंने भारत के समाजशास्त्र के लिये पश्चिमी विचारकों जैसे लूई, ड्यूमो और डेविड पीकोक ने जो वैकल्पिक संरचनाएँ दी हैं उनका विरोध करते हैं। दूसरा उन्होंने बड़ी तीव्रता से भारतीय समाज को पश्चिम के साथ में जिस तरह से जोड़ा गया है इसका विरोध किया है। अगर हम समाजशास्त्रीय औचित्य के क्षेत्र में सरन के योगदान को देखें तो ज्ञात होगा कि वे न केवल समाजशास्त्रीय श्रेणियों के वैश्वीकरण को अस्वीकार करते हैं लेकिन वे समाजशास्त्रीय श्रेणियों को भी अस्वीकार करते हैं।

सरन ने डी.एन. मजूमदार और लखनऊ विश्वविद्यालय में काम करने वाले सहयोगियों के साथ इस शताब्दी के छठे दशक में बड़े चेतावनी भरे बयान दिए हैं। ये बयान उन्होंने अखबारों और सरकारी अधिकारियों को उद्बोधित करते हुए दिये हैं। इन बयानों में इनका कहना है कि भारत में अमेरिका के जो प्रोजेक्ट सामाजिक स्तरीकरण व्यवस्था और सामाजिक संस्थाओं के अध्ययन के लिये स्वीकार किये हैं वे राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से हानिकारक हैं। सातवें दशक के मध्य में सरन ने एडवर्ड शिल्स द्वारा प्रस्तावित ''केन्द्र'' और ''परिधि'' के प्रबन्ध को समाजविज्ञानों के विकास के लिये रखा था उसका विरोध करके कहा कि इसकी प्रकृति आडम्बर पूर्ण हैं। सरन की कटु टिप्पणियों को भारतीय समाजशास्त्र पर लिखे गये ड्यूमों के निबन्ध के सिलसिले में देखा जा सकता है। ड्यूमों नें भारतीय धर्म में सन्यास की जो प्रथा है उस सिलसिले में धर्म, अर्थ और काम के सिद्धांतों

की व्याख्या की है। यहीं पर वे यानि ड्यूमों कर्त्तव्य, लाभ और सुख की बात करते हैं। अन्त में वे इस सब को वर्ण व्यवस्था के साथ जोड़ते हैं। ड्यूमों के इस निबन्ध में सरन को जो आपत्ति है वह इस तरह है:

> "ड्यूमों ने वर्ण के संस्तरण के साथ जिस अनुरूपता को बताया है इसके अनुसार धर्म का तात्पर्य ब्राह्मण या पुजारी से है, अर्थ का मतलब राजा या क्षत्रिय से है और काम का मतलब आम लोगों से हैं। यही सब कुछ नहीं है। टालकोट पॉरसन्स के सन्दर्भ में देखें तो संरचनात्मक विश्लेषण में हमें और भी बहुत कुछ देखने को मिलता है। पहला तो यह है कि काम दूसरे दो सिद्धांतों धर्म और अर्थ से भिन्न है। धर्म तो नैतिक वैश्वीकरण है, और अर्थ का मतलब आर्थिक संदर्भ में लिया जाता है जिसे राजनीति के साथ भी जोड़ा जा सकता है जहाँ अर्थ काम का विरोधी हैं वहाँ धर्म काम और अर्थ दोनों का विरोधी है। पारसन्स की भाषा में काम एक अभिव्यक्त क्रिया है, अर्थ काम को करने का एक साधन है और धर्म एक नैतिक क्रिया है। ये तीनों क्रिया के वर्गीकरण को बताते हैं और परस्पर विरोधी है''।

ड्यूमों ने हिन्दुत्व के अर्थ और काम की जो व्याख्या पाश्चात्य संदर्भों में की है, उसका सरन ने विश्लेषण करके विरोध किया है। ऐसा उन्होंने पारसन्स के सन्दर्भ में किया है। सरन का आग्रह है कि ड्यूमों ने यह नहीं देखा है कि पश्चिम और भारत की मूल्य व्यवस्था और विश्वदृष्टि में बहुत बड़ा अन्तर है। अपने बचाव में ड्यूमों का कहना है कि वे इस व्याख्या को एक "बाहरी आदमी के दृष्टिकोण से करते हैं और ऐसा करना वे उचित इसलिये मानते हैं कि यह सामाजिक मानवशास्त्र की एक अनिवार्य विधि है। ड्यूमों की यह मान्यता है कि आदमी केवल एक शब्द मात्र नहीं है यद्यपि वह समाज और संस्कृति के माध्यम से एक दूसरे से जुड़ा हुआ है। सरन ड्यूमों के इस बचाव को संशय की दृष्टि से देखते हैं जब वे कहते हैं: कोई भी सामाजिक यथार्थता "बाहरी" नहीं होती।" "बाहरी तो होता है दूसरी संस्कृति के संदर्भ में इस यथार्थता का विश्लेषण।" सरन ने ड्यूमों की आलोचना में आगे कहा है: "ड्यूमों विज्ञान की आड़ में आधुनिकता या वस्तुनिष्ठता के नाम पर एक परम्परागत समाज के अध्ययन में स्थानीय दृष्टिकोण को अपनाते हैं।" सरन ने बराबर पश्चिमी समाजशास्त्र और समाजविज्ञान की आलोचना इसलिये की है कि यह प्रत्यक्षवादी भ्रम को अपनाये हुए हैं। निश्चित रूप से ड्यूमों प्रत्यक्षवादी अक्खड़पन में उलझे हुए हैं।

यह बहस जो भारतीय समाजशास्त्र को लेकर आज एक मुद्दे के रूप में उठाई जा रही है इसका वैचारिक और सैद्धांतिक महत्व है। सबसे कन्ट्रीव्यूशंस में भारतीय समाजशास्त्र पर ड्यूमों और पीकॉक ने भारत के लिये समाजशास्त्र के विवाद को चलाया है, यह विवाद अब भी चल रहा है। इस तरह के विवाद के कई आशय निकलते हैं और इनका सम्बन्ध भारतीय समाजशास्त्र के सैद्धांतिक अभिस्थापन से जुड़ा हुआ है। जब हम समाजशास्त्र के विभिन्न सैद्धांतिक अभिस्थापनों की व्याख्या कर लेंगे तब इस चर्चा पर पुनः लौटेंगें।

सांस्कृतिक अभिस्थापन

जिसे हम सांस्कृतिक अभिस्थापन कहते हैं इसकी शुरूआत श्रीनिवास की कृति "रिलिजन एन्ड सोसायटी अमंग कूर्गज आफ साउथ इण्डिया" (1952) से है। इस कृति में श्रीनिवास ने "ब्राह्मणीकरण" की अवधारणा को रखा है। इससे उनका तात्पर्य यह है कि निम्न हिन्दू जातियाँ ब्राह्मणों की जीवन पद्धति और उनके कर्मकाण्ड का अनुकरण करती हैं। इस अवधारणा का श्रीनिवास ने प्रयोग एक विश्लेषणात्मक विधि के रूप में किया था और इसके माध्यम से उन्होंने निम्न जातियों के कर्मकाण्ड और जीवन पद्धति में आने वाले परिवर्तन को गहराई और सावधानी से क्षेत्रीय अध्ययन में देखा है। लेकिन बाद में चलकर श्री निवास और कई अन्य विद्वानों को लगा कि ब्राह्मणीकरण की अवधारणा बहुत सीमित है और इसके स्थान पर संस्कृतीकरण की अवधारणा अधिक व्यापक होगी। इस भांति उन्होंने अमूर्त स्तर पर ब्राह्मणीकरण के स्थान पर संस्कृतीकरण की अवधारणा को रखा।

श्रीनिवास ने संस्कृतीकरण की अवधारणा को अधिक व्यापक बनाया और इसका पश्चिमीकरण के साथ अन्तर किया। इन दोनों अवधारणाओं के प्रयोग को उन्होंने भारत में होने वाली सामाजिक प्रक्रियाओं को समझने के लिये व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया। इस तरह की अवधारणात्मक योजना में संरचनात्मक दृष्टि से सांस्कृतिक सीमाएं हैं। ये सांस्कृतिक सीमाएं विशेषाधिकार और शक्ति के संस्तरण और असमानता से जुड़ी हुई हैं। यह सीमा इसलिये है कि इस अवधारणा का संबंध उन जातियों से है जो सामाजिक सौपान में निम्न या उच्च हैं। यह निम्नता और उच्चता सामाजिक और आर्थिक स्तर की प्रतिष्ठा से हो सकती हैं। संस्कृतीकरण-पाश्चात्यकरण की अवधारणाएं समाजशास्त्र के दायरे में एक जीवन्त बहस के रूप में उभर कर आई। देश के विभिन्न भागों में काम करने वाले कई क्षेत्रीय कार्यकर्ताओं ने इनमें थोड़े बहुत फेर बदल भी किये हैं। यही नहीं इतिहासकारों, राजनीति के विद्वानों और विचारकों ने भी इन अवधारणाओं में जोड़ तोड़ किया।

यद्यपि इन दो अवधारणाओं का प्रयोग अनुसंधान प्रणाली की एक विधि के रूप में किया गया है फिर भी दोनों में एक व्यवस्थित तर्क है। संस्कृतीकरण का आशय ऐसे परिवर्तन से है जो ब्रिटिश सामाजिक-आर्थिक और सांस्कृतिक नवाचारों के सम्पर्क के परिणामस्वरूप आया है। ये दोनों प्रक्रियाएँ समूह जातियों और ऐसी ही श्रेणियों में जो शक्ति है, उसकी भारतीय परम्पराओं से संबंधित कड़ी को बनाते हैं। निम्न जातियाँ उच्च जातियों यानी द्विज जातियों के कर्म-काण्ड पद्धति और रीति-रिवाजों को अपनाती हैं और इस प्रकार अपना संस्कृतीकरण करती हैं। इधर उच्च जातियाँ ब्रिटिश या दूसरी पश्चिमी परम्पराओं की सांस्कृतिक जीवन शैली और संस्थाओं का अनुसरण करती है। इसका परिणाम पश्चिमीकरण है। श्रीनिवास ने अपनी पुस्तक "सोशल चेन्ज इन माडर्न इण्डिया" (1966) में इन दोनों अवधारणाओं का प्रतिपादन किया है। यहाँ उन्होंने संस्कृतिकरण को इस भांति परिभाषित किया है: "यह वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से एक "निम्न" जाति या जनजाति का समूह उच्च और विशेषकर के "द्विज" जाति के कर्म-काण्ड, विश्वास, विचारधारा और जीवन पद्धति को अपनाता है। किसी समूह के संस्कृतीकरण का सामान्य अर्थ

यह है कि वह समूह स्थानीय जाति की सौपानिक व्यवस्था में सुधार करना चाहता है। ऐसी अपेक्षा की जाती है कि ऐसा करने से इस जाति या समूह की आर्थिक या राजनीतिक स्थिति में सुधार आयेगा। या इस समूह में उच्च समूह की आत्म चेतना आयेगी और ऐसा इसलिये होगा कि वह हिन्दू धर्म की महान परम्परा के सम्पर्क में आयेगा। यह महान् परम्परा हिन्दुओं के तीर्थ स्थान, मठ, विहार आदि हैं जहाँ धर्म बदला जाता है।"

संस्कृतीकरण और पाश्चात्यकरण की अवधारणाओं के साथ-साथ श्रीनिवास ने धर्मनिरपेक्षीकरण की अवधारणा को भी काम में लिया है। इसके अनुसार वे उन संस्थागत प्रक्रियाओं को काम में लाते हैं जिनमें स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद धार्मिक समूहों और अल्प संख्यक समूहों का भारत में आगमन हुआ है। धर्मनिरपेक्षीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसका आदर्श स्वरूप संविधान में मिलता है और जिसे विभिन्न प्रकार के सामाजिक विधानों में संहिताबद्ध किया गया है। ऐसा करने का प्रयास इसलिये किया गया है कि लोगों में धार्मिक सहिष्णुता और विचार धारा का सह अस्तित्व स्थायी बनाया जा सके। इस तरह की धर्मनिरपेक्षीकरण को स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद एक राष्ट्रीय विचारधारा के रूप में रखा गया।

जिस तरह की अवधारणात्मक योजना की संरचना श्रीनिवास ने की है उसका भारतीय समाजशास्त्र पर सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन के विश्लेषण में बहुत बड़ा असर पड़ा है। 1952 से 1968 तक भारत में जो ग्रामीण अध्ययन हुए हैं उनके विश्लेषण में इन अध्ययनों ने एक रूप-रेखा का काम किया है। और बाद में चल कर भारतीय समाजशास्त्र में जो उतार-चढ़ाव आये हैं उन्हें समझने में भी इन अवधारणाओं ने सहयोग दिया है। इस अवधारणात्मक योजना में इतिहासकारों और प्राच्यविदों को प्रेरित किया कि वे अपने बोध का पुन: मूल्यांकन करें। वे अपने आधार वाक्य को यानि भारत में चलने वाली प्रक्रियाओं की पड़ताल इन अवधारणाओं से होने वाले लाभ की दृष्टि से देखें। इस अवधारणात्मक योजना ने कतिपय समाजशास्त्रीय योजनाओं के प्रच्छन्न लाभों को भारतीय समझ में होने वाले संरचनात्मक परिवर्तन के विश्लेषण में सहायक माना। कुछ अन्य समाजशास्त्रियों को यह अवसर दिया कि वे अमेरिका के समाजशास्त्र के संदर्भ समूह सिद्धांत की व्याख्या इस अवधारणात्मक योजना के संदर्भ में करे। श्रीनिवास की "प्रभुत्व जाति" की अवधारणा ने भी एक बहस को पैदा किया। यह अवधारणा जाति व्यवस्था में जो निम्न जातियाँ हैं उन्हें प्रभुत्व जातियों से सीखने का अवसर देती है। दूसरे शब्दों में, निम्न जातियाँ प्रभुत्व जातियों के रीति-रिवाज को, जिसे संस्कृतीकरण कहते हैं, सीखती है उसे समझा जा सकता है।

किसी अन्य अवधारणात्मक योजना की तुलना में संस्कृतीकरण तथा पाश्चात्यकरण के अवधारणात्मक और सैद्धांतिक अभिस्थापनों ने भारतीय समाजशास्त्र को गहराई से उद्वेलित नहीं किया है। "यह एक ऐसी अवधारणा है जो समान रूप से प्राच्यविदों, भारतीय संस्कृति के इतिहासकारों और समाजशास्त्रियों तथा सामाजिक मानवशास्त्रियों को प्रभावित करती है। इसने उन सब विद्वानों को भी संतुष्ट किया है जो भारतीय अवधारणाओं को राष्ट्रीय सामाजिक सांस्कृतिक प्रघटनाओं के विश्लेषण के लिये विकसित

करने में रुचि रखते थे।" भारतीय समाजशास्त्र में इन अवधारणाओं की क्षमता और इसी तरह सीमाओं पर जो समाज में होने वाले परिवर्तन का निर्वचन कर सकें, उस पर बहस हुई है। बहस का एक मुद्दा यह भी रहा है कि संदर्भ समूह तथा सामाजिक गतिशीलता जैसी सर्व व्यापक अवधारणाओं के साथ में इसे जोड़ने की क्या संभावना है।

एक और प्रयास भारत में परिवर्तन की सांस्कृतिक प्रक्रियाओं के विश्लेषण का हुआ है। मिल्टन सिंगर तथा मेकिम मेरियट ने रैड़फील्ड द्वारा दी गई परम्पराओं और सभ्यताओं के सामाजिक संगठन का मॉडल बनाया है। यह मॉडल लघु तथा महान परम्पराओं के द्विभागीकरण पर आधारित है। वृहद परम्परा वह है जो अभिजात वर्ग की है, जिसका केन्द्र नगर है और जिसका एक औपचारिक चरित्र है। दूसरी ओर लघु परम्परा वह है जिसका सरोकार गांवों में रहने वाले और अनपढ़ सामान्य लोगों से है। प्रत्येक परम्परा का अपना एक सामाजिक संगठन है। इसमें ऐसा होता है कि विभिन्न विषय, विचार या प्रतीक एक परम्परा से दूसरी परम्परा की ओर प्रवाहित होते हैं। कहीं पर परम्परा के तत्वों का सर्व व्यापीकरण होता है और कहीं पर देहातीकरण या स्थानीकरण। यह प्रक्रिया आन्तरिक और बाह्य दोनों कारकों द्वारा पैदा होती है। इस प्रक्रिया में संस्कृतीकरण और पाश्चात्यकरण या आधुनिकीकरण को जोड़ा जा सकता है। सिंगर, मैरियट और उनके अन्य सहयोगियों ने इस मॉडल पर कुछ गांवों और शहरों में क्षेत्रीय अध्ययन किये लेकिन जो प्रभाव भारतीय समाजशास्त्र पर श्रीनिवास की संस्कृतीकरण और पाश्चात्यकरण की अवधारणाओं का है, वह (सिंगर तथा मैरियट का यह मॉडल) हमें कोई बात विश्लेषणात्मक लाभ नहीं देता। इससे और आगे संस्कृतिकरण तथा पाश्चात्यकरण हमें ऐतिहासिक तथा संरचनात्मक विश्लेषण की अन्तर्दृष्टि देते हैं। दूसरी ओर सिंगर तथा रैडफील्ड़ द्वारा दी गई अवधारणाओं में यह संभावना नहीं है कि आधुनिकीकरण तथा परम्पराओं से जुड़ी हुई सामाजिक प्रक्रियाओं में जो संरचनात्मक संकट आते हैं, उनका हम विश्लेषण कर सकें।

जब हम सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन में संस्कृतीकरण-पाश्चात्यकरण पर जोर देते हैं तो ऐसा करने में हम यह देखते हैं कि परम्पराओं के विभिन्न स्तरों पर सांस्कृतिक शैली, रीति-रिवाज, और कर्म-काण्ड के व्यवहार में क्या परिवर्तन आते हैं। यह कहना चाहिए कि जब हम संस्कृतीकरण और पाश्चात्यकरण की अवधारणाओं को देखते हैं तो इसमें हमारी कूछ पूर्व मान्यताएँ होती हैं। इन सबसे हमारा आशय यह है कि इन अवधारणाओं के परिणाम स्वरूप कौन से संरचनात्मक परिवर्तन आये हैं। संरचनात्मक परिवर्तन से हमारा मतलब आर्थिक स्थिति में सुधार होना है, संस्कृतिकरण के परिणाम स्वरूप निम्न जाति का संस्तरण में स्थान क्या है, उसकी उच्चता कैसी है और संस्कृतिकरण करने वाली जाति कहाँ तक संस्तरण की व्यवस्था में अपने स्थान को ऊँचा समझती है। इस तरह की पूर्व मान्यताओं की पड़ताल करने का प्रयास श्रीनिवास और सिंगर दोनों के मॉडल करते हैं।

श्रीनिवास की अवधारणाओं में दो अन्तर्निहित समानताएँ हैं। दूसरी ओर सिंगर ने जो कुछ प्रतिपाद किया है, उसके अनुसार परिवर्तन के दो स्रोत हैं। एक स्रोत वह है जिसे हम विजातीयता या विषमता कहते हैं और दूसरा स्रोत रूढ़िवादी है। ये

दोनों स्रोत ही सामाजिक संरचना की लघु और महान परम्पराओं को बनाते हैं। लघु परम्परा का आधार छोटी संरचना है और वृहद परम्परा का बड़ी संरचना। यदि सिंगर की इन अवधारणाओं को विश्लेषण के लिये लागू करें तो इनके जो संक्षिप्त स्रोत बनते हैं उनमें संस्कृतीकरण और पश्चिमीकरण की अवधारणाओं को रखा जा सकता है। ये सभी अवधारणाएँ परिवर्तन की संरचनात्मक अवधारणाएँ हैं और इनके माध्यम से भूमिका विभिन्नता, संरचना के नये स्वरूप और अधिकारतंत्र तथा अभिजन लोगों का अध्ययन किया जा सकता है। ये ऐसी सामाजिक स्थितियाँ हैं जिनके विश्लेषण के लिये विजातीयता या विषमता के स्रोतों को काम में लिया जा सकता है। यदि सामाजिक परिवर्तन के रूढ़िगत स्रोतों को देखें तो इसका अध्ययन अनवरत आवृति, स्थानान्तरण, आंतरिक सामाजिक आन्दोलन अभिजन के फैलाव तथा शहरी केन्द्रों के उत्थान-पतन तथा वंशों के उतार-चढ़ाव के रूपों में किया जा सकता है। आधुनिकीकरण और परम्परा की अवधारणाओं के विश्लेषण के लिये इन प्रक्रियाओं को काम में लिया जाता है। ये प्रक्रियाएँ समाजशास्त्रीय ऐतिहासिक तथ्यों को समझने के लिये उपयोगी हैं।

सैद्धांतिक संरचनात्मक अभिस्थापन

ऊपर हमने जिस संस्कृति परक अभिस्थापन की भारतीय समाजशास्त्र के सैद्धांतिक विश्लेषण में योगदान की चर्चा की है, यह अभिस्थापन ग्रामीण समुदायों, जाति संरचना और इससे संस्थागत रूप से जुड़े हुए जाति, नातेदारी और धार्मिक विचारों के विश्लेषण में भी सहयोगी है। ऐसे ग्रामीण अध्ययन जो सामाजिक मानवशास्त्रीय और अवलोकन विधि द्वारा किये जाते हैं अपनी प्रकृति में सम्पूर्णात्मक होते हैं। ग्रामीण स्तर पर जिस सामाजिक संरचना का अध्ययन किया गया था, वह अध्ययन विवरणात्मक अधिक था। और इसमें सैद्धांतिक विश्लेषणात्मकता का अभाव था। देखा जाये तो संरचनात्मक अभिस्थापन, सांस्कृतिक अभिस्थापन से भिन्न होता है। वास्तव में हमें अपने आप को लोगों द्वारा दी गई कच्ची सामग्री तक सीमित नहीं रखना चाहिए। हमारा केवल यही उद्देश्य नहीं है कि हम लोगों के कथन में जो स्पष्ट रूप से दिखाई देने वाले परस्पर विरोधी विचार होते हैं, उन्हीं को रखें। हमें तो एक संस्कृतिपरक अध्ययन करना चाहिए और लोगों के कथन में जिन तत्वों का बराबर आग्रह होता है, उन्हें बाहर निकालना चाहिए। प्रमाणीकृत बात तो यह होगी कि हम समाजशास्त्रीय समझ के लिये जो समस्याएँ हमें दी गई हैं, उनका तुरत-फुरत अमूर्तीकरण करें और इसे अपनी अवधारणाओं में उतारें। सरंचनात्मक अध्ययनों की एक विशेषता यह है कि वे अवधारणाओं या मॉडल को सबसे ऊँचा मानते हैं। संरचनात्मक अध्ययनों की अन्य विशेषताएँ यह हैं कि वे संरचनात्मक टूटन और समाजों में पायी जाने वाली विभिन्नताओं का अध्ययन करते हैं। संरचनात्मक अध्ययन कई समस्याओं से जूझते हैं। इन समस्याओं में समानता और असमानता, शक्ति संरचना, सामाजिक स्तरीकरण, सामाजिक गतिशीलता, शहरीकरण-औद्योगीकरण, जनांकिकी परिवर्तन तथा परिवार संरचना सम्मिलित हैं। ऐसे अध्ययन वृहत, संरचनात्मक और ऐतिहासिक संदर्भ वाले होते हैं।

संरचनात्मक अध्ययन की एक और महत्वपूर्ण दिशा है। ये अध्ययन तुलनात्मक संबंधों की श्रेणियों

जैसे कि भारत में जाति और वर्ग के संबंध पर केन्द्रित होते हैं। अध्ययन की यह दिशा छठे दशक के बाद से चली है। ऐसे अध्ययनों में सामाजिक संरचना का विश्लेषण दो या अधिक अवधारणात्मक श्रेणियों द्वारा किया जाता है। इस तरह के उपागम से दो बातें स्पष्ट होती हैं–एक तो तुलना और दूसरा सामान्यीकरण। उदाहरण के लिये बैली ने भारत के संरचनात्मक परिवर्तन की व्याख्या तुलनात्मक श्रेणियों से की है जैसे कि "जनजाति" "जाति" और "राष्ट्र"। संरचनात्मक अध्ययनों में दूसरा उदाहरण बितई का है। बितई ने एक गाँव की संरचना का विश्लेषण "जाति", "वर्ग" और "शक्ति" की विश्लेषणात्मक श्रेणियों द्वारा किया है। इस तरह के प्रयास का परिणाम यह होता है कि सामाजिक प्रघटनाएँ इन अध्ययनों में न केवल तुलनात्मक बन जाती हैं बल्कि उनकी सामान्यीकरण की शक्ति भी बढ़ जाती है। पांचवे व छठे दशक में ग्रामीण और नगरीय सामाजिक संरचनाओं के जो अध्ययन हुए थे, उनकी यह विशेषता नहीं थी।

सातवे दशक में अर्थात् 1957 से 1969 में जो शहरी सर्वेक्षण हुए हैं उनमें भी समाजशास्त्रीय संरचनात्मक अभिस्थापन देखने को मिलता है। ये शहरी सर्वेक्षण मुख्य रूप से योजना आयोग की अनुसंधान कमेटी द्वारा प्रतिभूत थे। बलसारा (1964) ने नौ शहरों के अध्ययन को जोड़ा है। इन सर्वेक्षणों में जनसंख्या, भाषा, शिक्षा, व्यवसाय, उद्योग, आन्तरिक स्थानान्तरण, आय, रोजगार, आवास और सामाजिक जीवन की दशाएँ जो शहरों में मिलती हैं, उन्हें सम्मिलित किया है। इन सर्वेक्षणों में सांख्यकीय मॉडल को अध्ययन के लिये काम में लिया गया है और आंकड़ों को एक चुने हुए निर्देशन से अनुसूची और प्रश्नावली द्वारा एकत्र किया गया है। ये सर्वेक्षण मुख्य रूप से बुनियादी आंकड़े देते हैं जो आयोजकों के लिए उपयोगी हैं। और कहीं-कहीं विधि के क्षेत्र में भी नवीनता लाई गई है। यह नवीनता अनुसंधान की विधियों के मानकीकरण में देखने को मिलती है। ये सर्वेक्षण अनुसंधानकर्त्ताओं की एक पीढ़ी को सर्वेक्षण विधि जैसे अध्ययनों में प्रशिक्षित करती है। आज सामाजिक अनुसंधान में चाहे सरकार हो या निजी उद्योग दोनों में ही इसे महत्व देते हैं। शहरों का अध्ययन सांस्कृतिक मॉडल द्वारा भी किया गया है। इस मॉडल में "विशुद्ध काम्पलेक्स" या "सांस्कृतिक समरूपण" के विचारों को रखा गया है। इन शहरी अध्ययनों के अवधारणात्मक मूल्यांकन में तार्किक उपयुक्तता और सत्यापन तथा मानकीकरण के सिद्धांतों को भी काम में लिया गया है। कई समाजशास्त्रियों ने शहरी अभिजात उद्यमियों और अन्य विशिष्ट संरचनाओं का अध्ययन भी इन्हीं श्रेणियों द्वारा किया है। सामाजशास्त्रियों ने शहरों की गन्दी बस्तियों को भी नैदानिक और इसी तरह सैद्धांतिक संदर्श में समझा है। इनमें से अधिकांश अध्ययनों ने संरचनात्मक परिवर्तन के स्तरों और इससे जुड़े हुए द्वन्द्व की प्रक्रियाओं को शहरों के संवर्धन में देखा है।

जब हम संरचनात्मक सैद्धांतिक अभिस्थापन को काम में लाते हैं तो इससे तुलनात्मक अध्ययन में न केवल अवधारणाओं में वृद्धि होती है लेकिन अवधारणाओं का सामाजिक यथार्थ के साथ जो संबंध होता है, उसमें नया सूत्रीकरण आता है। इस तरह के नये सूत्रीकरण को ग्रामीण अध्ययनों में देखा जा सकता है। ये ग्रामीण अध्ययन छठे दशक में बहुतायत में हुए और सातवें तथा आठवें दशक में

ग्रामीण संरचना और किसान वर्ग आदि प्रभावशाली हो गये। अब समाजशास्त्र के क्षेत्र में वृहत् विश्लेषण आ गया और अनुसंधानकर्ता गाँव की अपेक्षा कृषि संरचना के अध्ययन पर अपने आप को केन्द्रित करने लगे। परिणाम यह हुआ कि अब समाजशास्त्रीय सिद्धांत में रूबरू हो गये तथा इस बात की पड़ताल शुरू हो गयी कि किस अवधारणा में कितनी अधिक सैद्धांतिक क्षमता है। इसी अभिस्थापन के परिणाम स्वरूप परिवर्तन के अध्ययन पर ज्यादा जोर दिया जाने लगा और यह जोर सामाजिक आन्दोलन और क्रांति के समाजशास्त्र के माध्यम से था। अवधारणाओं और सिद्धांत में जो नवाचार आया उसके परिणामस्वरूप अब समाजशास्त्र में नई विधियों के प्रति जागृति आई। अब समाजशास्त्री ऐतिहासिक विधि और प्रलेखन विधि के माध्यम से अपने प्रस्ताव रखने लगे। परिणाम यह हुआ कि इतिहास और समाजशास्त्र एक दूसरे के अधिक निकट आ गये और ऐसी संभावना है कि ये दोनों एक दूसरे को ताकतवर बनायेंगे।

कृषक समाजशास्त्र में जो रुचि आज दिखाई दे रही है इसका कारण आजादी के बाद जो भूमि सुधार आये हैं उससे ग्रामीण सामाजिक संरचना में आए बुनियादी परिवर्तित अध्ययन के कारण है। कृषक अध्ययनों में नये वर्गों सामाजिक गतिशीलता और इनके परिणाम स्वरूप जो द्वन्द्व आते हैं उन्हें अन्तर्क्षेत्रीय और तुलनात्मक संदर्भ से देखा जाता है। कुछ क्षेत्रों में "हरित क्रांति" और कृषि समृद्धि के परिणामस्वरूप कृषि संबंधों में जो बदलाव आया है, उसका अध्ययन भी किया गया है। ऐसे कई अध्ययन जो सामाजिक आन्दोलन से जुड़े हैं, ये आन्दोलन कृषक वर्ग के हैं। इन आन्दोलनों को ऐतिहासिक और समकालीन पृष्ठ भूमि में देखा गया है। कृषि की सामाजिक संरचना में जो द्वन्द्व हैं उनका विश्लेषण भी किया गया है। समाजशास्त्रियों ने जिन सामाजिक आन्दोलनों का अध्ययन किया है या तो उनकी उत्पत्ति आदिवासी कृषक समस्याओं से हैं या ये वे आन्दोलन हैं जिनका सरोकार समाज सुधार से है, जैसे कि सर्वोदय आन्दोलन, नक्सली आन्दोलन और आदिवासी आन्दोलन। कतिपय क्षेत्रीय आन्दोलनों का अध्ययन भी समाजशास्त्रियों ने किया है। इन आन्दोलनों में शिवसेना या नवीन बुद्धवाद आदि सम्मिलित हैं। सामाजिक आन्दोलनों के अध्ययन ने न केवल नये विधि अभिस्थापन बल्कि सामाजिक परिवर्तन के नये सन्दर्भों और श्रेणियों तथा अवधारणाओं को जन्म दिया है। ये सब अध्ययन परम्परागत अनुकूली परिवर्तन से हट कर हैं और परिवर्तन की उन प्रक्रियाओं पर अपने आप को केन्द्रित करते हैं जो समाज में होने वाले संरचनात्मक रूपान्तरण को समझने में सहायक हैं।

सातवे दशक में सिद्धांत के क्षेत्र में जो संरचनात्मक अभिस्थापन आया उसके परिणाम स्वरूप नातेदारी अध्ययनों, परिवार के समाजशास्त्र का केन्द्र भी बदल गया। जहाँ पहले परिवार की संरचना में ऐतिहासिक प्रक्रिया पर जोर दिया जाता था, जहाँ संयुक्त परिवार से एकाकी परिवार की बात कही जाती थी, वहाँ अब परिवार को एक वृहत् समूह समझा जाता है (दिसाई, आई.पी.: 1964)। पहले परिवारों की संरचना के एतिहासिक अध्ययन किए जाते थे और इसके स्वरूप के अन्तर को देखा जाता था। अब जो अध्ययन हो रहे हैं वे परिवारों में होने वाले विवादों को गहराई से देखते हैं और ऐसा करने में सामाजिक-मानवशास्त्रीय अध्ययन को

काम में लेते हैं। कोहेन ने भारतीय सभ्यता के वृहत् विश्लेषण के लिये इस संरचनात्मक अभिस्थापन को प्रयुक्त किया है (कॉहेन बी: 1971)। सामाजिक और राजनीतिक जीवन में जो फूट डालने वाले और संघर्ष पैद्रा करने वाले तत्व है उनका अध्ययन भी भारतीय ग्रामीण और शहरी समाज में किया गया है। इस प्रकार के अध्ययन के परिणाम स्वरूप नवीन अभिजन के उत्थान, संगठन तथा सामाजिक पृष्ठभूमि का अध्ययन ऐतिहासिक विधि से होने लगा है। कुछ इसी तरह जाति और वर्ग की संरचना में जो सामाजिक गतिशीलता और परिवर्तन आए हैं उनके समाजशास्त्रीय और ऐतिहासिक संदर्भ पर विशेष जोर दिया गया है।

एक ओर महत्वपूर्ण सैद्धांतिक अन्तर्दृष्टि जो आज समाजशास्त्रीय अभिस्थापन में प्रभावी रूप से काम कर रही है, वह नैरन्तर्य की अपेक्षा स्तर के प्रयोग की वरीयता है। अब हम समाजविज्ञानों और समाजशास्त्र नैरन्तर्य की अपेक्षा स्तर पर आधारित श्रेणियों को काम में लाने लगे हैं। पिछले दिनों में हम संरचना में होने वाले परिवर्तन को अवधारणात्मक द्विभाजन के माध्यम से देखते थे। अब यह हमें ऐतिहासिक संदर्श में दिखता है कि इस तरह का द्विभागीकरण स्थिर और अपर्याप्त है। इस भांति का द्विभाजन हम गांव और शहर, जाति और वर्ग, एकाकी और संयुक्त परिवार के रूप में देखते आये हैं। इसी तरह के द्विभागीकरण को हम सांस्कृतिक अवधारणाओं जैसे कि "लघु समुदाय" और "वृहद समुदाय", "परम्परा" और "आधुनिकीकरण" की प्रक्रियाओं में देखते रहे हैं। कोठारी लिखते हैं: "आज परम्परा और आधुनिकता के बीच में जो द्विभाजन है उसने बड़ी असाधारण ज्ञानात्मक रिक्ति पैदा कर दी है। यह ज्ञानात्मक दूरी या रिक्तता हमारे समाज विज्ञान के सैद्धांतिकीकरण और समाज तथा राज्य के संबंधों में देखने को मिलती है। ऐसा लगता है कि हम एक ओर परम्परा को देखते हैं और दूसरी ओर आधुनिकता और विकास को देखा जाए तो आधुनिकीकरण के यथार्थ को समझने में इस प्रकार की दूरी या रिक्ति झूठी है (कोठारी रजनी: 1970)।

संरचनात्मक और सैद्धांतिक अभिस्थापन ने भारतीय समाज की बुनियादी प्रक्रियाओं को समझने में न केवल हमें गहरी अन्तर्दृष्टि प्रदान की है, लेकिन इसने इतिहासकारों, राजनीतिक-वैज्ञानिकों और अर्थ शास्त्रियों को समाजशास्त्र के निकट ला दिया है। परिणामस्वरूप समाजशास्त्रीय अध्ययनों का दायरा विस्तृत हुआ है और एक नई शक्तिशाली व्यवस्था की तरह समाजशास्त्र उभर कर आया है।

द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक अभिस्थापन

देखा जाये तो द्वन्द्वात्मक सैद्धांतिक अभिस्थापन का संबंध प्राथमिक रूप से मार्क्सवादी विधियों से है। मार्क्सवादी इसे सामाजिक यथार्थ के विश्लेषण में काम में लाते हैं। यहाँ हमने द्वन्द्वात्मक अभिस्थापन की बात कही है, मार्क्सवाद की नहीं। यह इसलिये कि भारतीय समाजशास्त्र में मार्क्सवादी उपागम् के कई स्वरूप देखने को मिलते हैं। यहाँ शास्त्रीय मार्क्सवादी रूपरेखा में कई हेर-फेर हुए हैं। एक और बात है, भारतीय समाजशास्त्रियों में यह विचारधारा बराबर बढ़ती जा रही है कि हमें भारतीय समाज की वास्तविकताओं के लिये बराबर नई श्रेणियाँ बनानी पड़ेंगी। आगे चलकर ये श्रेणियां सर्वव्यापक हो जायेंगी। सारी दुनिया पर इनको

लागू किया जा सकेगा। जब हम इस संदर्भ से द्वन्द्वात्मक-ऐतिहासिक अभिस्थापन के सिद्धांत को देखते हैं तो ज्ञात होता है कि भारतीय समाजशास्त्र के सिद्धांत में तुलनात्मक रूप से अभी ये अभिस्थापन कमजोर है। वास्तव में पांचवें और छठे दशक में भारत में मार्क्सवाद पर बुनियादी चिन्तन किया गया था और यह चिन्तन समाजशास्त्रियों का नहीं, गैर-समाजशास्त्रियों का था। प्रारंभ के समाजशास्त्री जिन्होंने द्वन्द्वात्मक मॉडल के महत्व पर जोर दिया उनमें डी.पी. मुखर्जी और रामकृष्ण मुखर्जी प्रमुख थे।

डी.पी. मुखर्जी जिनके समाजशास्त्रीय योगदान का हमने प्रारंभ में उल्लेख किया है उन्होंने बराबर संरचना की इन श्रेणियों का उल्लेख किया है: संरचना की श्रेणियाँ, वर्ग संघर्ष और समाजवादी समाज का मॉडल, यह सब उन्होंने भारत की ऐतिहासिक सामाजिक प्रक्रियाओं के विश्लेषण में किया है। मुखर्जी का आग्रह है कि समाजशास्त्रीय चिन्तन में ऐतिहासिक रूपरेखा और द्वन्द्वात्मक अभिस्थापन दोनों का होना अनिवार्य है। लेकिन उन्होंने स्वयं इस तरह की विधारधारा या रूपरेखा को लेकर कोई आनुभाविक अध्ययन नहीं किए। रामकृष्ण मुखर्जी ने द्वन्द्वात्मक मॉडल को लेकर ऐतिहासिक और इसी तरह के आनुभाविक अध्ययन किए हैं। अंग्रेजों ने उपनिवेशवाद के माध्यम से जिस आर्थिक नीति को अपना कर स्थिरता पाई थी मुखर्जी ने भी उसे अपना कर स्थिरता पाई थी उसका मुखर्जी ने अपनी पुस्तक "द राइज एन्ड फॉल आफ दी ईस्ट इण्डिया कम्पनी" (1958) में उल्लेख किया है। यह पुस्तक आर्थिक और सामाजिक इतिहास को एक बहुत बड़ी देन है। इसमें उन्होंने सामन्तवाद के विघटन और अभिजात वर्ग की मनमानी और नवीन मध्यम वर्ग के विकास पर बहुत कुछ लिखा है। मुखर्जी की दूसरी पुस्तक है : द डाइनेमिक्स ऑफ ए रूरल सोसायटी (1957)। इस पुस्तक में उन्होंने कुछ गाँवों में होने वाले सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों को वर्गों की संरचना में देखा है। पुस्तक में उनका आग्रह है कि भारतीय समाज में काम करने वाली सामाजिक प्रक्रियाओं को समझने के लिये हमें समाज के व्यवस्थापरक और सावयवी तत्वों की पकड़ रखनी चाहिए। अपनी बाद की कृतियों में रामकृष्ण मुखर्जी की विचारधारा में बदलाव आया और वे द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिकता से हट कर सम्भवतः मीमांसा की ओर झुके। वे अपने इस उपागम को "अनुमानात्मक" "अनुमान सिद्ध" नाम देते हैं। इस उपागम की विशेषता यह है कि यह तटस्थ है तथा मार्क्सवादी या गैर-मार्क्सवादी किसी भी विचारधारा को अपने सत्यापन के लिये ले सकती है। वे कहते हैं कि जब हम अनुसंधान के प्रस्तावों को बनाते हैं तब उनकी संरचना में इतिहास तथा द्वन्द्वात्मकता अपने आप दरकिनार हो जाते हैं। इस तरह की ऐतिहासिक और द्वन्द्वात्मक विचारधारा का महत्व सामाजिक संकेतों और श्रेणियों के निर्माण में सहायक हो सकता है लेकिन इससे आगे सत्यापन आदि के तार्किक सिद्धांतों में इसका महत्व नहीं हैं।

भारतीय समाजशास्त्रियों में मात्र अक्षय देसाई एक ऐसे समाजशास्त्री हैं जिन्होंने द्वन्द्वात्मक-ऐतिहासिक मॉडल की बराबर वकालत की है और इसे अपने अध्ययनों में प्रयुक्त किया है। उन्होंने भारतीय राष्ट्रीयता का अध्ययन किया है। इस अध्ययन में ग्रामीण सामाजिक संरचना की व्याख्या

के विश्लेषण में, भारत में परिवर्तन की जो आर्थिक और सामाजिक नीतियाँ हैं उनमें तथा राज्य और समाज की संरचना में जो विरोधाभास और विसंगतियां हैं उनको उजागर किया है। इस तरह की विरोधाभासी नीतियों के परिणाम स्वरूप जिन पूंजीवादी, अधिकारी तंत्र के लोगों के हितों की सांठगांठ की है उसका विश्लेषण है। वर्गों के बीच में जो धुव्रीकरण है वही आधुनिक भारत की नींव है। इस भांति अक्षय देसाई ने वर्गों के बीच में विरोधाभास और द्वन्द्व के तर्क को प्रस्तुत किया है। अपने इस उपागम को देसाई ने अपनी अनेक कृतियों में रखा है। द्वन्द्वात्मक सैद्धांतिक अभिस्थापन जिसे अक्षय देसाई ने चलाया उसका प्रयोग राजनीतिक संरंचना, कृषक वर्ग तथा सामाजिक आंदोलनों के अध्ययन में काम में लिया जाता है। बेटलहैम ने भारतीय राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक संरचना के अध्ययन और विकास कार्यक्रमों में जो विरोधाभास है उसे उजागर किया है। बेटलहैम यह स्वीकार करते हैं कि भारत के मामले में विरोधाभास बहुत ज्यादा है फिर भी भारतीय अधिकारी तंत्र के लोग इस विरोधाभास को कम करने का प्रयास अवश्य करते हैं। भारत के कई और मार्क्सवादियों का भी यही निष्कर्ष है कि यहाँ समाज में विरोधाभास अधिक है। विचारों की इस समानता के होते हुए भी एक बात में बहुत बड़ी असहमति यह है कि ये विचारक विरोधाभासों की तीव्रता के क्षेत्र में हैं। यदि विरोधाभास अति तीव्र है तो वे कभी भी क्रांतिकारी आंदोलन चला सकते हैं। जिन मार्क्सवादियों ने कृषि अध्ययन किये हैं उन्होंने सामाजिक संरचना के विश्लेषण में जिन अवधारणाओं को प्रयुक्त किया है उनमें हैं: "सामंतवाद", "पूँजीवाद" तथा "उत्पादन की विधियाँ"। क्योंकि इन मार्क्सवादियों ने सामन्तवाद पूर्व-पूँजीवादी संरचना और पूँजीवादी संरचना तथा इससे जुड़ी हुई उत्पादन विधियों और सामाजिक संबंधों का अध्ययन किया है, ये आनुभाविक अध्ययन महत्वपूर्ण हो जाते हैं। सैद्धांतिक दृष्टि से ऐसे अध्ययनों के दो मुख्य लाभ हैं: प्रथम, कृषक समाज में जो संरचनात्मक तनाव और विषमता है उनके बारे में हमारी समाजशास्त्रीय समझ अधिक गहरी हो जाती है और ऐसे अध्ययन कृषक समाज को वृहत् समाज के साथ जोड़ देते हैं। द्वितीय, इन अध्ययनों का परिणाम हम मार्क्सवादी समाजशास्त्रीय श्रेणियों के नवाचारों में भी देखने को पाते हैं। यह इसलिये कि हम समाजशास्त्रीय श्रेणियों की विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक संदर्भों में पड़ताल करते हैं। सिद्धांत की जो सर्वव्यापी या विशिष्ट प्रक्रियाओं की श्रेणियाँ हैं उन्हें समझने में भी द्वन्द्वात्मक-ऐतिहासिक तथा सैद्धांतिक अभिस्थापन उपयोगी सिद्ध होता है। यह मुद्दा विचार-धारा और सिद्धांत दोनों का है। जब से सन् 1957 में ड्यूमों और पीकोक ने भारत में समाजशास्त्र के मुद्दे की बहस चलाई है, इन विचारों तथा बैली के कथन पर बराबर विचार विनिमय हुआ है। भारतीय समाज के अध्ययन में ड्यूमों ने एक बाह्य दृष्टिकोण के संदर्भ में बुनियादी वैचारिक श्रेणियों पर जोर दिया है। उन्होंने अपने समाजशास्त्र को उन स्रोतों की भाषा में बांधा है जिनमें लोग अपने ही संवेगों और विचारों में रचे-पचे होते हैं। इस तरह के उपागम को बैली दोषपूर्ण मानते हैं। यह इसलिये कि ड्यूमों "संबंधों" के अध्ययन की उपेक्षा करते हैं और ये संबंध ही समाजशास्त्रीय श्रेणियों में महत्वपूर्ण हैं। ड्यूमों की दृष्टि से देखें तो बैली

के हिसाब से समाजशास्त्र केवल एक संस्कृति का शास्त्र बन जाता है। "भारत में समाजशास्त्र के लिये" निबन्ध में ड्यूमों ने एक स्पष्टीकरण दिया है। उन्होंने कहा है कि भारत में एक विशिष्ट समाजशास्त्र विकसित करने की संभावना नहीं है यद्यपि वे चाहते हैं कि भारतीय यथार्थ को समाजशास्त्री समझें और यह समझ संबंधों में नहीं वरन् विचारों और संवेगों में निहित है। इस भाँति जिस तरह बैली ने संरचनात्मक दृष्टिकोण अपनाया है वहाँ भारत में ड्यूमो केवल एक सामान्य समाजशास्त्र के निर्माण की संभावना को एक मात्र रास्ता बताते हैं।

इस मुद्दे पर बहस अभी समाप्त नहीं हुई है। इसे भारतीय समाज की उपनिवेशवादी स्थिति और सृजनात्मक श्रेणियों के साथ जोड़ कर एक नई धारा दी गई है। जे.पी. सिंह ओबेरॉय, अपने निबन्ध "विज्ञान व स्वराज्य" में इस संबंध में उपसंहारात्मक दृष्टि से लिखते हैं: प्रत्येक वह व्यक्ति जो स्वराज्यवादी है उसे जानना चाहिए कि गरीब, अमीर, अन्तर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय, गोरा, काला आदि की जो संरचनात्मक असमानता है, उसकी आवश्यकता आज के पर्यावरण में एक सर्वव्यापक विज्ञान को विकसित करने के लिये आवश्यक है। जब तक हम अपना ध्यान इस तथ्य पर केंद्रित नहीं करते कि उपनिवेशवाद को समाप्त किया जाये, हमारी समस्याओं को राष्ट्रीय जामा नहीं पहनाते, हमारी गरीबी को गंभीरता से नहीं लेते, तब तक हम उपनिवेशवादी और अमौलिक बने रहेंगे (ओबेरॉय, पृष्ठ 123)।" ओबेरॉय के इस कथन की गूँज कई क्षेत्रों में देखने को मिलती है। जैसा कि हमने कहा है, ओबेरॉय के इस कथन के बहुत सुदृढ़ प्रतिपादक सरन थे। कई अन्य समाजशास्त्री हैं जो थोड़े बहुत अन्तर के साथ इस विचारधारा के समर्थक हैं। उनका मानना है कि सामान्य समाजशास्त्र और सांस्कृतिक समाजशास्त्र की जो श्रेणियां हैं उनमें और समाजशास्त्रीय विधियों में कोई विरोधाभास नहीं है। वास्तव में यह समस्या विचाराधारा की है। यह विचारधारा समाजशास्त्रीय सोच के सभी स्तरों पर व्याप्त है जहाँ कहीं हम आदर्शात्मक प्रश्नों पर चिन्तन करते हैं। और इसमें अनुसंधान की केवल तकनीकी बारीकियाँ ही नहीं हैं।

समाजशास्त्र और अन्य समाजविज्ञान

भारतीय समाजशास्त्र का अन्य समाज विज्ञानों के साथ निकट संबंध है। बम्बई विश्वविद्यालय में राजनीतिशास्त्र को जिस भाँति पढ़ाया जाता है, समाजशास्त्र को इससे भिन्न पढ़ाया जाता है। इसी तरह का अन्तर लखनऊ विश्वविद्यालय में जहाँ अर्थशास्त्र का अध्यापन होता है, देखने को मिलता है। अध्यापन के ये दो केन्द्र ऐसे हैं, जिन्होंने भारत में समाजशास्त्र के व्यवसाय को प्रभावित किया है। दूसरे समाजविज्ञानों में जब कोई खोज होती है तब इसका प्रभाव समाजशास्त्र पर पड़ता है और समाजशास्त्रीय खोजों का प्रभाव अन्य समाजविज्ञानों के अभिस्थापन पर। संस्कृतिकरण और पाश्चात्यकरण के बोध पर इतिहासकारों की गहरी छाप है और इस छाप को हम मध्यम वर्गों और सामाजिक-आर्थिक निरूपणों में देख सकते हैं। इन इतिहासकारों ने मार्क्सवादी तथा द्वन्द्वात्मक सैद्धांतिक अभिस्थापनों को जो समाजशास्त्र में प्रचलित हैं या तो सत्यापित किया है या उन्हें नकारा है। राजनीतिक वैज्ञानिकों ने शक्ति संरचना और राजनीतिक संचार तथा

विचारधारा से जुड़े हुए अध्ययन किए है और ऐसे ही अध्ययन समान रूप से समाजशास्त्र में किये गये हैं। रजनी कोठारी का भारत में राजनीतिक समाजीकरण के सिद्धांत में जो योगदान है उसने व्यक्तित्व निर्माण में ज्ञानात्मक और मूल व्यवस्थाओं से जुड़े हुए जो निरूपण हैं उन्हें महत्वपूर्ण बनाया है। इसी तरह राजनीतिक भागीदारी, एवं राजनीति की संस्कृति पर जो व्यवस्थित अध्ययन हुए हैं उन्होंने राजनीति के क्षेत्र में काम करने वाले समाजशास्त्रियों को नई अन्तर्दृष्टि दी है। (कोठारी: रजनी: 1970) समाजशास्त्रियों ने ग्रामीण और शहरी समाजों में नेतृत्व पर जो अध्ययन किये हैं वे राजनीतिक वैज्ञानिकों के नेतृत्व अध्ययन से बहुत महत्वपूर्ण बने हैं।

भारत में समाजशास्त्र तथा सामाजिक मानवशास्त्र पर इतिहास और राजनीति विज्ञान का बहुत बड़ा प्रभाव है। इतिहास ने न केवल समाजशास्त्र को प्रभावित किया है। लेकिन यह स्वयं भी समाजशास्त्र से प्रभावित है। खास करके समाजशास्त्र के प्रभाव को जो इतिहास पर पड़ा है उसे संरचनाओं के निरूपण, उत्पादन की विधियों और समाज की बुनियादी संरचनाओं में देखा जा सकता है। भारतीय इतिहास पर भी समाजशास्त्र का प्रभाव है। खास करके जब वह विवरणात्मक इतिहास को समस्या परक इतिहास बनाता है। यह प्रभाव इतिहास के आर्थिक विश्लेषण से जुड़े हुए अध्ययनों में देखने को मिलता है और इसे सामाजिक आन्दोलनों तथा कृषक संरचनाओं में भी देखा जा सकता है।

जिस तरह इतिहास और समाजशास्त्र में अन्त:संबंध है, और राजनीति शास्त्र और समाजशास्त्र में पारस्परिक आदान-प्रदान है, दोनों एक दूसरे के लिये लाभदायक सिद्ध हुए हैं, उसी तरह के संबंध समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र में लगभग डेढ़ दशक से स्थापित नहीं हुए हैं। पहले समाजशास्त्रियों और अर्थशास्त्रियों में बड़ी अर्थपूर्ण अन्त:क्रिया होती थी और दोनों ही अपने वास्तविक अध्ययनों से एक दूसरे की श्रेणियों को काम में लाते थे। ऐसा अभी इसलिये नहीं हो पा रहा है, कि पिछले एक-डेढ़ दशकों से अर्थशास्त्र बहुत अधिक गणीतीय हो गया है। एक और कारण यह भी है कि अर्थशास्त्र अपने अनुसंधानों को तकनीकी रुप से उच्च मानता है। इधर यह विज्ञान समाजशास्त्रियों के विमुख इसलिये भी है कि समाजशास्त्री जो गणीतीय तर्क में प्राय: प्रशिक्षित नहीं होते और वे अर्थशास्त्रियों के कार्य से चका-चौंध हो जाते हैं। इसके विपरीत समाजशास्त्री प्राय: ऐसा विचार करते हैं कि अर्थशास्त्रियों की जो तकनीकी कुशलता है वह बेमतलब और अपर्याप्त है क्योंकि सामाजिक सांस्कृतिक व्यवहार का आर्थिक व्यवहार से भारत में जो सरोकार है उसे वे आर्थिक श्रेणियों से नहीं समझ सकते। यह आशा की जाती है कि जिस प्रकार अर्थशास्त्री सामाजिक संरचनाओं जैसे कि कृषक तथा औद्योगिक सामाजिक निरूपणों का अपने विषय के संदर्भ में अध्ययन करते हैं और इससे वे परिपक्व हो जाते हैं वैसे ही समाजशास्त्री भी गणीतीय ज्ञान को छोड़ कर यदि आर्थिक अर्न्तदृष्टि पैदा कर सके तो यह उनके लिये बहुत मूल्यवान होगा।

भारत में समकालीन सामाजिक "संकट" और इसके आयाम

3

क्या वास्तव में आज भारत में कोई सामाजिक संकट है? अधिकांश लोग सकारात्मक उत्तर देंगे। समकालीन भारतीय समाज में जो संकट है उसे सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक तत्वों द्वारा परिभाषित किया जाता है। उदाहरण के लिये, लोगों की यह एक सामान्य समझ है कि देश में सामाजिक और सांस्कृतिक नियमहीनता है। बौद्धिकों और आम जनता में इस प्रकार की स्थिति का होना भ्रान्ति है। देश में राष्ट्रीय विकास के जो भी मुद्दे हैं उनके कारण अवांछित उतार-चढ़ाव और असन्तुलन देखने को मिलता है। इन सभी के प्रति कुछ लोगों में संदेह है और कुछ तो इसे पूर्ण रूप से अस्वीकार करते हैं। देखा जाए तो समाज के निर्माण का हमने जो सामाजिक और सांस्कृतिक परिकल्प अपनाया है, उसी में टूटन आ गई है।

वास्तव में देखा जाए तो कहना चाहिये कि यह जो कुछ संकट है, वह या तो सम्पूर्ण समाज में या समाज के केवल कुछ खण्डों में देखने को मिलता है। यह टूटन थोड़ी अवधि के लिये हो सकती है या लम्बी अवधि के लिये। जो कुछ खण्डात्मक और थोड़ी अवधि का सामाजिक संकट है, इसका समाधान समाज में किसी बहुत बड़े सामाजिक संरचनात्मक परिवर्तन के बिना भी किया जा सकता है। यह भी हो सकता है कि हम समाज के आन्तरिक स्रोतों की मदद से इस संकट का हल निकालें। लेकिन यह निश्चित है कि वह सामाजिक संकट जो सम्पूर्ण समाज को अपनी गिरफत में लाता है, उसके लिये किसी बड़े संरचनात्मक परिवर्तन की आवश्यकता है। ऐसा करने के लिये हमें आन्तरिक तथा बाह्य स्रोतों को गतिशील बनाना पड़ेगा। एक जटिल मुद्दा यह है कि समकालीन भारत में जो भी सामाजिक और सांस्कृतिक संकट हैं, वह जहाँ खण्डात्मक और छोटी अवधि के आकार का है, वहीं वह लम्बी अवधि का भी है और संपूर्ण समाज को अपनी पकड़ में ले लेता है।

यूरोप के विचारकों - कार्ल मेन्हाइम से लेकर हेबर मास तक, ने अपने समाज के सामाजिक और सांस्कृतिक संकट के मूल को जानने का प्रयास किया है। इस तरह के ऐतिहासिक सबक या कुछ समानान्तर उदाहरण, सीखने की सामग्री दे सकते हैं। लेकिन भारत की ऐसी ऐतिहासिक स्थिति हमें आगाह करती है कि हम अपने संकट के लिये कुछ मुद्दों को सोच समझकर बनायें। यूरोप की

स्थिति अलग रही है। उदाहरण के लिये वहाँ के समाज में औद्योगिक क्रान्ति के माध्यम से सामन्तवाद पूंजीवाद में बदला है। वहाँ पुनर्जागरणवादी तर्कवाद और काल्विनवादी धर्म सुधार की सांस्कृतिक निरन्तरता रही है। इसी तरह वहाँ उदारवादी अधिनायकवाद के साँचे से प्रभावित मध्यम वर्गों का उदय हुआ है, और दूसरी ओर वहीं प्रजातान्त्रिक और उदार परम्परा का प्रादुर्भाव भी हुआ है। इस तरह यूरोप की कुछ ऐसी ऐतिहासिक प्रवृतियां हैं जो सतही तौर पर समकालीन भारत की सामाजिक स्थिति से मेल खाती है। यह सब देखते हुए कहा जा सकता है कि दोनों देशों में सामाजिक परिवर्तन की जो प्रक्रियाएँ हैं, वे समान हैं। यह समानता हमें वर्ग चरित्र और कुछ विशेष प्रकार की विचारधाराओं के विकास में देखने को मिलती है।

देखा जाए तो हमें भारतीय सामाजिक संकट के विश्लेषण के लिये भारतीय स्थिति की ऐतिहासिकता को देखना होगा। इसके माध्यम से हम सार्वभौमिक तुलनात्मक विश्लेषण के लिये कुछ विशिष्ट कारणों की खोज कर सकेंगे। यह स्पष्ट है कि हमारे समाज में जो आसन्न संकट है, उसका कोई एक निश्चित प्रतिमान नहीं है। इसकी उत्पत्ति तो लोगों की इस धारणा में निहित है कि समाज में संस्थागत सड़न आ गई है और लोग तीव्रता से राष्ट्रीयता की भावना तथा विकास की राष्ट्रीय विचारधारा से निराश हो गये हैं। बौद्धिक और अभिजात लोग इस मुद्दे पर अपने आपको हाशिये पर पाते हैं। इस ऊहापोह में विभिन्न प्रतियोगी विचारधाराओं का विकास तथा राजनैतिक संस्कृति का उदय हुआ है। रुचिकर तथ्य यह है कि ये सब विचारधाराएँ अस्पष्ट हैं।

भारत में राष्ट्रीयता और विकास की विचारधारा ने देश के विभाजन के परिणामस्वरूप, एक ऐतिहासिक टूटन अनुभव की है। और इसका कारण यह है कि देश का बंटवारा साम्प्रदायिकता के आधार पर हुआ है। इस ऐतिहासिक अभिघात के होते हुए भी हमारे राष्ट्रीय नेतृत्व ने बड़ी ही बहादुरी और दूरदृष्टि से काम लिया है। और उसने राष्ट्रीयता के उस मार्ग को अपनाया है जो कि धर्मनिरपेक्ष व प्रजातान्त्रिक समाजवादी विकास का निर्माण करता है। भारत का संविधान हमारे नेतृत्व की इस दृढ़ता को सिद्धांत रूप में अंकित करता है। यही नहीं राष्ट्रीय विकास में भी इस कार्यक्रम को अपनाया गया है। मौटे रूप में, संविधान के ये सिद्धांत भारत के लोगों की सर्वसम्मति की भावना को भी बताते हैं। असहमती की कुछ आवाजों के होते हुए भी, सर्वसम्मति की भावना आज भी निरन्तर रूप से देखने को मिलती है। यही नहीं असहमति की यह आवाज अतीत में भी थी। लेकिन आज इस आवाज ने धमकाने का रूप ले लिया है और कुछ कर गुजरने की रणनीति चुनौती पूर्ण रूप से रखी जा रही है। उदाहरण के लिये, इन लक्ष्यों को पाने के लिये बराबर हिंसा का प्रयोग किया जाता है। लोग अपनी सांस्कृतिक पहचानों को मांगने के लिये खुले आम संविधान की वैधता को चुनौती देने लगे हैं। राजनीतिक दल खुले आम जातिवाद, साम्प्रदायिकता और क्षेत्रीयता के आधार पर गतिशील हो रहे हैं। देखा जाए तो देश के मुख्य राजनैतिक दल इस माने में एक हास्यास्पद ऊँचाई पर पहुंच गये हैं। लोग राजनैतिक नेतृत्व के इस तरह के व्यवहार की विडम्बना को समझते हैं और कुछ समय से वे ऐसे व्यवहार की मखौल करना

भी उड़ाते हैं। लेकिन ऐसी स्थिति में वे जाति, क्षेत्र, धर्म और भाषा आदि के विचारों से बिदक जाते हैं। आखिर, ऐसा क्यों होता है ? ऐसे कौन से दबाव हैं जो लोगों को इस तरह का व्यवहार करने के लिये प्रेरित करते हैं ? ऐसा तो नहीं है कि कहीं लोगों की विचारधारा और व्यवहार में संवाद नहीं है। या कहीं यह तो नहीं है कि यह भारतीय संस्कृति की गहरी अभिव्यक्ति है जिसके माध्यम से यह समाज के विरोधों के बीच में भी अपने आपको बनाये रखने की रणनीति बनाती रही है ?

यह कोई संपूर्ण नया पूर्वानुमान नहीं है

समकालीन भारत में जो भी संकट हैं, उनसे जुड़े हुए कुछ मुद्दों का हमें विश्लेषण करना चाहिए। शायद इन मुद्दों को हम थोड़ा बहुत समझ जाएं यदि पिछले चार, साढ़े-चार दशकों में सामाजिक परिवर्तन की जो दिशा रही है उसकी पड़ताल कर सकें। ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो संकट की यह आसन्न स्थिति या व्यवस्था का खराब हो जाना कोई समूचा नया पूर्वानुमान नहीं है। देखा जाये तो रोनाल्ड सेगल, सेलिग हेरिसन, गुन्नार मिर्डल, ईमानुयल वेलस्टन आदि ने न केवल भारत के इस संकट की चर्चा की है, वे बराबर एक निराशाजनक भविष्य की बात भी करते रहे हैं। इस तरह की चर्चा सन् 1950 के मध्य से लेकर सन् 1970 के दशक के अन्त तक होती रही है। इधर सन् 1980 के दशक के बाद हमें ऐसे विश्लेषणात्मक और आनुभविक लेखन मिले हैं जो भारत के विकास के पक्ष में सकारात्मक टिप्पणी जड़ते हैं। विद्यासागर नेयपाल ने परिवर्तन के इस बोध को प्रतीकात्मक रूप से रखा है। जिस नेयपाल ने सन् 1950 के दशक में भारत को अपनी पुस्तकों, *एरिया आफ डार्कनेस* या वुन्डेड सिविलाइजेशन में एक घायल देश के रूप में चित्रित किया था, वे अब अपनी पुस्तक *मिलियन मुटिनिज़* में बताते हैं कि अब यह देश इतना जागृत हो गया है कि यह लाखों विप्लव करने के लिये उद्यत है। इस तरह का लेखन जहाँ भारत की हताशा को बताता है, वहीं आशा को भी प्रदर्शित करता है। रूडोल्फ तथा रूडोल्फ की पुस्तक 'इन परस्यूट ऑफ लक्ष्मी' में माँगों की राजनीति पर लिखा गया है। लेकिन इस लेखक द्वारा जहाँ भौतिक उपलब्धियों का उल्लेख किया गया है, वहीं ये भारत के लोगों की बढ़ती हुई महत्वाकांक्षाओं की भी चर्चा करते हैं। यह सही है कि भारतीय समाज में संकट है लेकिन इस संकट की एक नई विशेषता है, इसके नये आयाम हैं।

सन् 1950 से लेकर 1960 के दशक में, भारत ने सामाजिक संकट के जिस विस्तार का मुकाबला किया वह कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में देखने को मिलता है। इन विशिष्ट क्षेत्रों में खाद्यान्नों की प्रचण्ड कमी, कृषि में निष्क्रियता, और देश के विभिन्न भागों में क्षेत्रीय और भाषायी तनाव और जनसंख्या वृद्धि का निरन्तर दबाव सम्मिलित हैं। इन कारकों ने राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था, सामाजिक तथा मानवीय स्रोतों को बोझिल कर दिया। इनके परिणामस्वरूप उद्योग का स्तर भी बहुत निम्न हो गया। इसके साथ ही साथ पाकिस्तान और चीन के साथ जो निरन्तर संघर्ष रहा उसने भी इस संकट को अधिक गहरा दिया। देश को निष्क्रियता से ऊपर उठाने के लिये तथा इसे एक आधुनिक प्रजातान्त्रिक समाज बनाने के लिये योजनाबद्ध विकास की रणनीति को अपनाया गया।

इस रणनीति को राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन ने प्रेरित किया। यद्यपि सोवियत रूस के अनुभव ने यह स्थापित कर दिया था कि योजनाओं द्वारा विकास हो सकता है, भारत ने अपने सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये अपने इतिहास या राष्ट्रीय आन्दोलन की परम्परा, तथा जवाहर लाल नेहरू से बहुत कुछ सीखा। जवाहर लाल नेहरू न केवल यूरोप की औद्योगिक क्रान्ति और उसकी विज्ञान और तकनीकी क्षेत्र में दौड़ जिसने उसे विश्व की एक बड़ी शक्ति बना दिया था, से प्रभावित थे, वे उदार समाजवादी मानववाद से भी अभिभूत थे। उनकी सोच थी कि भारत के विकास के लिये निर्दयी औद्योगिक पूँजीवाद और उसका शोषण करने वाला चरित्र ठीक नहीं है। इन सबसे आगे बढ़कर नेहरू जी पर महात्मा गाँधी का गहरा प्रभाव था। गाँधी जी ने नेहरू जी के मस्तिष्क को हिला दिया और भारतीय समाज और उसकी परम्पराओं के प्रति दृष्टिकोण को बदल दिया।

नेहरू जी ने भारत में आयोजन के बुनियादी लक्ष्यों को निर्धारित किया। इसमें उन्होंने तय किया कि इस देश में सामन्तवादी कृषि व्यवस्था का उन्मूलन होगा, औद्योगिक और वैज्ञानिक पुनर्जागरण को प्रस्तावित किया जायेगा, एक समाजवादी कल्याणकारी समाज की स्थापना होगी और धर्मनिरपेक्ष विचारधारा से प्रेरित उदार प्रजातन्त्र को प्रतिष्ठित किया जायेगा। गाँधी दर्शन में लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये साधन महत्वपूर्ण होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि हमारे साधन सर्वसम्मत होने चाहिए, विधि सम्मत होने चाहिये और अपने परिवेश में प्रजातान्त्रिक होने चाहिये इनमें से कुछ लक्ष्यों की प्राप्ति में हमने सफलता पाई है लेकिन अब भी बहुत से लक्ष्य अधूरे हैं।

परिवर्तन के अनैच्छिक परिणाम

आज हमारे सामने जो भी संकट है, उसने जोखिम भरे दो बिन्दुओं को प्रस्तुत किया है:

पहला जोखिम का कारण हमारे योजनाबद्ध परिवर्तन के कारण जो सामाजिक और आर्थिक उपलब्धियाँ हुई हैं, वे हैं:

दूसरा कुछ जोखिम इसलिये भी है कि हमने आर्थिक तथा सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन में कुछ निर्णायक क्षेत्रों में कोई उपलब्धि नहीं की है। इससे आगे कुछ जोखिम सामाजिक परिवर्तन के अनैच्छिक रूप से आने वाले परिणामों से भी हैं। इस तरह के परिणाम आन्तरिक व बाह्य कारकों के कारण होते हैं और ऐसा हर समाज में सामाजिक परिवर्तन के कारण होता है और इसके साथ समाज को समझौता करना ही पड़ता है।

सवाल है : आजादी के बाद भारत की क्या उपलब्धि है? इस प्रश्न के उत्तर में बहुत कुछ गिनाया जा सकता है। जमींदारी, जागीरदारी और देशी रियासतों की सामन्तवादी व्यवस्थाओं के उन्मूलन से समाज की सामाजिक संरचना और प्राधिकार व्यवस्था में बड़े-बड़े परिवर्तन आये हैं। इस परिवर्तन के कारण हमारे ग्रामीण समाज के सामाजिक और आर्थिक आधार में क्रान्तिकारी बदलाव आये हैं। ये बदलाव देश के गाँवों में सभी जगह देखे जा सकते हैं। सामन्तवादी जुए से मुक्त काश्तकार अब एक शक्तिशाली ग्रामीण मध्यम वर्ग के रूप में उभर कर आये हैं। इस वर्ग का राजनीति में बड़ा प्रभाव है। देश में जो हरित क्रान्ति आई है वह इसी ग्रामीण

मध्यम वर्ग की देन है। इस वर्ग में कठोर श्रम करने की क्षमता है, इस वर्ग में सामाजिक और सांस्कृतिक लचीलापन है, यह वर्ग ब्राह्मणों की परम्परा के प्रति सहनशक्ति रखता है, इसकी सांस्कृतिक तथा कृषक आन्दोलनों में निरन्तर भागीदारी रही है, और यह वर्ग उपयोगिता की भावना से परिपूर्ण है। आज देश के सामाजिक और आर्थिक विकास में इस वर्ग की महत्वपूर्ण भूमिका है। देखा जाए तो जाति व्यवस्था की सर्वोच्च परम्परा में यह वर्ग मध्यम स्थान पर है और इसे पिछड़े हुए वर्गों के आन्दोलन में अग्रणी कहा जा सकता है।

पिछले पैंतालीस वर्षों में इस देश ने अच्छी औद्योगिक व्यवस्था की स्थापना में, तकनीकी- वैज्ञानिक और प्रबन्धन विकास में विश्वसनीय उपलब्धि प्राप्त की है। इसके परिणामस्वरूप देश ने वास्तविक तकनीकी और वैज्ञानिक मानव शक्ति का निर्माण किया है। एक नये मध्यम वर्ग का उदय हुआ है। यह मध्यम वर्ग 20 वीं शताब्दी के प्रारम्भिक मध्यम वर्ग से अपने चरित्र में एकदम भिन्न है। इस नये वर्ग का बहुत विशाल सामाजिक आधार है। इसका कारण यह है कि इस वर्ग का समाज के मध्यम और निम्न मध्यम जातियों के स्तरीकरण से उद्‌विकास हुआ है। यह नये उद्यमियों और व्यवसाइयों का वर्ग जो शहरी क्षेत्रों में उभरा है तथा जो गाँवों में धनवान काश्तकारों का समूह है। इस मध्यम वर्ग का देश की जनसंख्या में अनुमान से एक चौथाई भाग है। देश के सकल घरेलू उत्पाद के सेवा क्षेत्र में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है। यह इस बात को बताता है कि किस सीमा तक आर्थिक संरचना और समाज की बनावट में अन्तर आया है। उपनिवेशवाद ने हमारे औद्योगिक आधार को पूर्णरूप से कमजोर कर दिया था। लेकिन आजादी के बाद के वर्षों में हमारे देश का औद्योगिक विकास में 13वां स्थान रहा है। वैज्ञानिक प्रबन्धन और तकनीकी शिक्षा में भारत ने अच्छी वरिष्ठता प्राप्त की है। हमारी ये सब उपलब्धियाँ भारतीय समाज के बुनियादी क्षेत्र में योजनाबद्ध विकास के परिणामस्वरूप आयी हैं।

उदार प्रजातन्त्र के लिये प्रतिबद्धता

एक और क्षेत्र है जिसमें भारत के लोगों ने सफलता प्राप्त की है और वह है उदार प्रजातान्त्रिक राज व्यवस्था। थोड़े समय के लिये आपातकाल की अवधि देश में अवश्य रही, लेकिन फिर भी हमारे देश में एक शक्तिशाली सहभागी प्रजातान्त्रिक संस्कृति बराबर बनी रही है। पाश्चात्य देशों की प्रजातान्त्रिक संस्कृति और राज व्यवस्था की तुलना में जो पूर्वाविश्यकताएँ हैं उनमें फिर भी हमारा देश निम्न स्थान रखता है। इस अभाव को देखते हुए भी यदि हम पीछे मुड़कर देखें तो हमारी भारतीय सभ्यता की जो कुछ ऐतिहासिक गहराई है, उसने भारत के लोगों को चेतन और अचेतन रूप से प्रजातान्त्रिक परम्पराओं को बनाये रखने में सहायता दी है। और आज यह एक ऐसी स्थिति में है जबकि देश में 35 प्रतिशत लोग अशिक्षित हैं। इसका एक कारण यह भी है कि हमारे देश में प्राचीनकाल से जो परम्परागत "पंचायत" व्यवस्था रही है और यह व्यवस्था जाति तथा गाँव दोनों जगह पायी जाती है, उसने लोगों में प्रजातान्त्रिक अन्त: क्रिया और भागीदारी की देशी भावना को मन में बैठाया है। भारतीय प्रजातन्त्र में कुछ समस्याएँ हो सकती हैं। ये समस्याएँ कुछ तौर तरीकों को वैधता देने की

हैं। इन तौर तरीकों में मत प्राप्त करने में जाति, धर्म, क्षेत्र या धन और मारपीट करने की शक्ति को काम में लेना हो सकता है। इन अभावों के होते हुए भी इस बात को लेकर शायद ही कोई विवाद हो कि यहाँ प्रजातन्त्र ने एक संस्थागत रूप ले लिया है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के प्रारम्भिक कुछ वर्षों में यहाँ दुर्बल स्थिति रही है फिर भी भारतीय समाज के सामाजिक विकास का एक बहुत बड़ा उदाहरण प्रजातान्त्रिक व्यवस्था है।

विकास के कई अन्य संकेतक भी है। इन संकेतकों में लोगों की प्रत्याशित आयु में उत्तरोत्तर वृद्धि, साक्षरता दर में बढ़ावा, बाल मृत्यु की घटनाओं में कमी और लोगों की संचार साधनों के प्रति बढ़ती हुई अभिव्यक्ति सम्मिलित है। यह भी सही है कि इन संकेतकों में प्रत्येक में एक ही समय अवधि में दूसरे विकासशील देशों ने भारत की तुलना में अधिक सफलता पायी है। यह भी सही है कि कई क्षेत्रों में, तुलना से ज्ञात होता है, न केवल पैसिफिक देशों जैसे कि कोरिया, ताईवान, इण्डोनेशिया और मलेशिया, लेकिन हमारे निकट पड़ोसी देशों जैसे श्रीलंका और पाकिस्तान के सामने आर्थिक उपलब्धियों में भारत का स्थान निम्न है। भारत में जो कुछ समकालीन संकट है, इसकी जड़ इसकी उपलब्धियों की प्रकृति में है। इसका मूल इसमें भी है कि हमारे सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में निर्णायक वृद्धि का अभाव है।

हमने ऊपर कहा है कि आजादी के बाद देश में कुछ सकारात्मक विकास हुए हैं। इसके होते हुए भी आज जनसंख्या में लगभग 40 प्रतिशत लोग गरीबी की रेखा से नीचे हैं। और आज भी इसका बहुत बड़ा भाग अभावग्रस्त है। गरीबों में बहुत से लोग अनुसूचित जातियों और जनजातियों के हैं और ये गाँवों में केन्द्रित हैं। शिक्षा, सरकारी कार्यालयों और राजनैतिक प्रतिनिधित्व की नीति के कारण इन समूहों में आरक्षण आया है, और इसके कारण इन लोगों में कुछ भाग मध्यम वर्ग की आर्थिक स्थिति में पहुँच गये हैं फिर भी ये लोग सामाजिक और सांस्कृतिक भेदभाव के शिकार हैं। देखा जाये तो विकास की गति ने गाँवों के जातीय समूहों और अन्य जातियों में मनोवैज्ञानिक और सामाजिक दूरी पैदा कर दी है। मतलब हुआ विकास ने जातियों के बीच में निकटता लाने की अपेक्षा खाई पैदा कर दी है। सारा दृश्य बदल गया है। पिछले दिनों में परम्परा से इन वंचित या दलित जातियों तथा उच्च और मध्यम जातियों में जो परम्परागत संबंध था, वह शोषण का था। और यह शोषण संरक्षण के माध्यम से था। लेकिन आजादी के बाद ये पद दलित लोग उच्च स्तर के राजनीतिकरण के कारण संचार साधनों की अभिव्यक्ति और सामाजिक चेतना से न केवल इस संरक्षण को ठुकराते हैं वरन क्षोभ भी व्यक्त करते हैं। और अब उच्च तथा मध्यम जातियों के प्रति वे विरोधी प्रतियोगी संबंध रखते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में दलितों तथा उच्च मध्यम जातियों में संघर्ष बढ़ गया है। कुछ राज्यों में जैसे कि बिहार, आन्ध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश और इत्यादि राज्यों और देश के कुछ अन्य भागों के विभिन्न हिस्सों में जिनमें इन संघर्षपूर्ण संबंधों ने हिंसात्मक आन्दोलनों का स्वरूप ले लिया है। ऐसे आन्दोलनों में नक्सलवाद, 'पीपुल्स वार ग्रुप' आदि सम्मिलित हैं।

संघर्षात्मक स्थिति आदिवासी जनसंख्या में भी पाई जाती है। वे भी पर्याप्त क्षेत्रीय स्वायत्तता

के लिये पृथकता की माँग को लेकर तनाव पैदा करती हैं। इनकी कुछ माँगों को पहले ही स्वीकार कर लिया गया है। उत्तर-पूर्व में नगाओं और मीजों और इसी तरह पश्चिमी बंगाल में गौरखालैण्ड क्षेत्रीय स्वायत्तता को स्वीकार कर लिया गया है। छोटा नागपुर के आदिवासियों के लिये एक पृथक झारखण्ड राज्य की स्थापना हो गई है, आज वह एक पृथक राज्य की श्रेणी में आ गया है। असम की बोडो जनजाति भी अपने लिये स्वायत्तता की मांग कर रही है। इस तरह की माँगें कहना चाहिये, केवल आदिवासी समूहों तक ही सीमिति नहीं हैं। पंजाब में पृथक खालिस्तान की मांग के लिये एक हिंसात्मक आन्दोलन पिछले कई वर्षों तक चला है। इसी तरह के आन्दोलन ने असम में भी हिंसात्मक रूप ले लिया है।

देश में आजादी के बाद सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन आये हैं और उनके कारण बहुत बड़ी मात्रा में (कुछ अपवादों को छोड़कर) पृथकता या स्वायत्ता के लिये जातियों और वर्गों में संघर्ष भी हुआ है। ये सब समाज में होने वाले संरचनात्मक परिवर्तन हैं। अपनी ओर से इन माँगों का संबंध सामाजिक विकास के चरित्र से जुड़ा हुआ है जिसमें आयोजन के माध्यम से राज्य की भूमिका रही है। जो कुछ परिवर्तन हुए हैं, उनमें कुछ की दिशा का हमें पूर्वानुमान था लेकिन अधिकांश परिवर्तन का हमें पहले से कोई भान नहीं था।

उदीयमान ग्रामीण मध्यम वर्ग

ग्रामीण क्षेत्रों में विकास के योजनाबद्ध परिणामों के कारण हरित क्रान्ति का सूत्रपात हुआ है। यह क्रान्ति परम्परागत काश्तकार जातियों के कारण सारे देश में आई है। कुछ अवधि हो जाने के बाद इन काश्तकारों के हाथ में राजनैतिक और आर्थिक शक्ति आ गई। जब ये काश्तकार अपनी तुलना आजादी के पहले के जमींदारी के समय से करते हैं तब इन्हें लगता है कि वे अभी भी सांस्कृतिक व शैक्षणिक दृष्टि से वंचित या उपेक्षित है। इसी कारण सामाजिक तथा शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े ये वर्ग केन्द्रीय सेवाओं के लिये आरक्षण का आन्दोलन चला रहे हैं। यह कहना चाहिये कि पहले से ही अधिकांश राज्य सरकारों में और इसी तरह से शैक्षणिक संस्थाओं में इन वर्गों को नौकरी के लिये संरक्षण मिला हुआ है। देखा जाए तो यह उदीयमान ग्रामीण मध्यम वर्ग आज उच्च जातियों के साथ प्रतिस्पर्धात्मक संबंध रखते हैं। दलितों के साथ इनका संबंध भेदभाव पूर्ण प्रभुत्व का है। ग्रामीण मध्यम वर्ग और दलितों के बीच में, जहाँ दलितों में जागृति आ गई है, देश के कई भागों में हिंसात्मक घटनाओं की वृद्धि हुई है। ग्रामीण समाज के दलित और अन्य गरीब तबकों में अब असुरक्षा की भावना अधिक आई है और इसी कारण वे रोजगार की खोज में शहरों की ओर पलायन करते हैं। एक ओर इसका परिणाम हमें असंतुलित शहरीकरण में देखने को मिलता है, जहाँ शहरों में और खास करके महानगरों में बढ़ती हुई कच्ची बस्तियों तथा झोपड़ पट्टी में ये लोग रहते है, वहीं दूसरी ओर इसके कारण गाँवों में जातियों और वर्गों में संघर्ष देखने को मिलता है। इस संघर्ष का परिणाम हमें शहरों में गाँवों के गरीबों के लौटने के रूप में देखने को मिलता है। मतलब हुआ गाँव की गरीबी शहर की गरीबी में बदल गई है। आज शहरी स्थानान्तरण का प्रतिमान कुछ ऐसा हो गया कि

ग्रामीण समाज और अर्थव्यवस्था वाले अप्रवासी लोग गाँवों के अपने लगाव को छोड़ नहीं पाये हैं। लेटिन अमेरिका में ऐसा नहीं हुआ है। वहाँ तो गाँव का आदमी शहर में आकर गाँव को भूल जाता है। भारत में शहरी मलिन बस्तियों में जो अप्रवासी रहते हैं उनमें जाति तथा नातेदारी के संबंध छूट नहीं पाते। शहरों में आकर ये ग्रामीण लोग न केवल बढ़िया दिहाड़ी लेते हैं बल्कि ये शहरी जीवन की राजनैतिक शिक्षा, शहरी किस्म के उपभोगतावाद, अवकाश और जीवन में आगे बढ़ने की महत्वाकांक्षा से परिचित हो जाते है। यह कोई सामान्य बात नहीं है कि शहरों में रहने वाले कई लोग अपनी पर्याप्त बचत को संचित करके अपनी सम्पत्ति को बढ़ा देते हैं और गाँवों में नये भवन बनाते हैं और भूमि को खरीदते हैं। इधर दूसरी ओर खास करके उत्तरी भारत में ऊँची जातियों के कई परिवार दिवालियेपन की स्थिति पर पहुँच गये हैं और वे नये आर्थिक तथा सामाजिक परिवर्तनों के साथ अपना अनुकूलन करने में असमर्थ हैं। शहरों के प्रवासी यह भी प्रयास करते हैं कि उनका संबंध गाँवों के साथ तोड़ दें।

इस तरह के विश्लेषण में हम जिस तथ्य को विशिष्ट कहना चाहते हैं वह यह है कि अब ग्रामीण भारत में जातियों और वर्गों में संबंधों के नये सन्दर्भ पैदा हो गये हैं। पिछले दिनों में सामन्तवादी पद्धति के जो परम्परागत संरक्षण और भेदभाव के संबंध थे उनका स्थान अब संघर्ष और प्रतियोगिता के संबंधों ने ले लिया है। आज संकट यह है कि गाँवों में नया संस्थागत ढाँचा विकसित नहीं हुआ है जो इन बदलते हुए संबंधों का एकीकरण कर सके। वास्तविकता यह है कि आज भारतीय गाँव जैसा कि वे पहले थे, सामाजिक समुदाय नहीं रहे, उनका तो अब राजनीतिक समुदायों में रूपान्तरण हो गया है। यह तो हो गया है लेकिन कोई संस्थागत आधार खड़ा नहीं किया जा सका है जिसे सभी समूह मान्यता दे सकें।

सरकार के तत्वावधान में जिन संस्थाओं का निर्माण गाँवों में हुआ है उनके प्रति लोगों में स्वीकारोक्ति की व्यापक और गहरी भावना है। इसके कारण गाँवों के लोग राज्य को पराया समझ कर चलते हैं। उनमें अलगाव की भावना है। इस तरह की स्थिति जो संरचनात्मक परिवर्तन के कारण आई है, गहरे संकट की ओर संकेत करती है। लेकिन कुछ लोगों का कहना है कि यह पृथक्करण, आंतकवाद और हिंसा की विचारधारा है। इसका परिणाम यह हुआ है कि समाज के कुछ भाग न केवल संस्थागत ढाँचों से अपने स्वयं को अलग-थलग पाते हैं, वे समाज के विकास की और राष्ट्र की जो विचारधारा है उससे भी निराश हो गये हैं। ऐसा क्यों हैं? ऐसी कौनसी परिवर्तन की प्रक्रियाएँ हैं जिनके कारण यह सब हुआ है? इसका एक कारण तो लोगों का राज्य के बारे में बोध है और दूसरा समाज में जो नई संरचनाएं और वैचारिक परिवर्तन आये हैं, शायद उन्होंने ही ये परस्पर विरोधी विचार पैदा किये हैं। संविधान तथा राज्य के आयोजन की जो विचारधारा है उसने सामाजिक न्याय, समता या समाजवादी समाज के प्रतिमान पर जोर दिया है। संविधान के "राज्य के नीति निर्देशक तत्वों" ने प्राथमिक शिक्षा के सार्वभौमीकरण तथा निरक्षरता के उन्मूलन पर बड़ा जोर दिया है। इस दिशा में होने वाले परिवर्तनों पर रुकते हुए और आधे मन से प्रयास हुए हैं।

आज भी लगभग आधी जनसंख्या अनपढ़ है, कुछ राज्यों में स्त्रियों की निरक्षरता का दर लगभग 60 प्रतिशत तक है। केवल केरल और कुछ राज्यों के कतिपय जिलों और संघ द्वारा शासित प्रदेशों में सम्पूर्ण सारक्षरता का लक्ष्य प्राप्त हुआ है। यह देखा गया है कि यदि देश के विभिन्न समूहों में शिक्षा है तो इन समूहों को राज्य की समतावादी नीतियों का लाभ मिला है। केरल में तो यह देखने को मिलता है कि यदि लड़कियों ने सातवें दर्जे तक शिक्षा पायी है तो उन्होंने छोटे परिवार के मानक को अत्यधिक प्रभावी ढंग से स्वीकार किया है। शिक्षा, स्वास्थ्य तथा हाईजिन में सुधार लाती है, स्कूलों में, स्कूल के बच्चों में और खास करके गरीबों में जो स्कूल छोड़ने की प्रवृति है उसमें भी कमी आई है और इसके कारण राज्य के स्रोतों से जो लाभ मिलते हैं उनको प्रभावी ढंग से काम में लिया जाता है। इसी शिक्षा के कारण सम्पूर्ण परिवार की उद्यमिकता की योग्यता में बढ़ावा होता है।

निरक्षरता के उन्मूलन का क्षेत्र ऐसा विशाल है, जहाँ हम बहुत बड़ी असफलता देखते हैं। निरक्षरता उन्मूलन तथा शिक्षा के सार्वजनीकरण के अभाव में तथा जनसंख्या और स्वास्थ्य नीतियों में एक प्रकार का सावयवी संबंध है। हमारी अधिकांश समस्याएँ जिन्होंने भारत को संकट की अवस्था में पहुँचाया है, उनकी कुंजी जनसंख्या के नियन्त्रण में है। न्याय के संरचनात्मक मुद्दे, बेरोजगारी और बुनियादी साधनों के लिये दबाव, तथा विकास के लक्ष्यों से जुड़ी हुई अन्य समस्याएँ जनसंख्या से जुड़ी हुई हैं।

सन् 2001 की जनसंख्या के जो आँकड़े हैं वे इस बिन्दु पर कोई आशा नहीं बंधाते। यह देखा गया है कि जिन राज्यों में शिक्षा का स्तर ऊँचा है। तथा स्वैछिक संस्थाऐं संगठित रूप से राज्य के कार्यक्रमों को सफलतापूर्वक बढ़ाती हैं वहाँ जनसंख्या वृद्धि न्यून है। लेकिन जनसंख्या वृद्धि का दर ऐसे राज्यों में ऊँचा है, जहाँ शिक्षा का स्तर नीचा है। इन राज्यों में उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान और बिहार सम्मिलित हैं। इन सभी राज्यों में जनसंख्या वृद्धि ऊँची है। यह रुचिकर बात है कि ये वे राज्य हैं जो विकास के अधिकांश संकेतकों में निम्न स्थान पर हैं। ऐसे राज्यों में जहाँ शिक्षा का अभाव है, गरीबी का प्रतिशत ऊँचा है, कृषि में न्यून उत्पादन है, निरक्षरता का दर ऊँचा है, विकास के लिये काम करने वाली स्वैच्छिक संस्थाओं में गतिशीलता का अभाव है और सामाजिक असंतोष तथा हिंसा की जातीय समस्याएँ अधिक हैं। इस प्रतिमान को जिसे गुन्नार मिर्डल "संचयी" कार्य कारण संबंध कहते हैं, निम्नतर विकास की एक प्रक्रिया है और इसका पुन: अभिस्थापन कुछ संवेदनशील क्षेत्रों में योजनाबद्ध निवेश द्वारा होना चाहिये। ये क्षेत्र हैं: आर्थिक व्यवस्था, शिक्षा और बुनियादी संरचनाएँ।

जनसंख्या दर की वृद्धि के अगणित परिणाम हैं जिनका हमारे समाज के संकट से सरोकार है। इसके अतिरिक्त हमारे समाज और उसकी अर्थव्यवस्था का निकट संबंध जातियों और वर्गों के बीच के अन्तर्कलह से भी है। मध्यम वर्गीय काश्तकार जातियों का गाँवों में प्रभुत्व बढ़ने के कारण दलितों और उनके बीच में एक और संघर्ष बढ़ा है और दूसरी ओर दलित और अन्य उच्च जातियों व वर्गों के बीच में यह कलह बढ़ाया गया है। इस तरह की कलह उन राज्यों में जैसे कि बिहार, उत्तर

प्रदेश और मध्य प्रदेश के उन भागों में बढ़ी है जहाँ गरीबी ज्यादा है और जनसंख्या वृद्धि की दर भी ऊँची है। कुछ इसी प्रकार की स्थिति देश के अन्य भागों में भी देखने को मिलती है जहाँ ऐसी ही संरचनात्मक दशाऐं हैं। इन संरचनात्मक दशाओं के कारण ग्रामीण क्षेत्रों से जो लोग शहर की ओर खिंचे हुए गये हैं, उन्होंने शहरी संकट को और अधिक बढ़ा दिया है।

हमारे देश में शहरों का जो विकास हुआ है, उसने भी एक विचित्र प्रतिमान प्राप्त कर लिया है। यह प्रतिमान महानगरों में बहुत ऊँचा है और इसी परिमाण में जब हम मुख्य कस्बों, व छोटे शहरों और गाँवों में जाते हैं तो कम हो जाता है। इसका यह अर्थ निकलता है कि महानगरों और शहरी क्षेत्रों, मुख्य शहरों और अन्य निम्न शहरों में अनौपचारिक क्षेत्र में रोजगार पैदा करने की गतिविधियां सबसे अधिक हैं। इस तरह की स्थिति गाँव और शहरों के बीच के अन्तर को बढ़ा देती है। इसका कारण यह है कि इन शहरों में मलिन बस्तियों और झोपड़ पट्टियों की संख्या में वृद्धि हुई है। इसी कारण शहरों में असन्तोष, हिंसा और अपराध में बढ़ोतरी हुई है। मलिन बस्तियों में रहने वाले लोगों का राजनैतिक दबाव प्रत्यक्ष रूप से शहरी मध्यम वर्ग के हितों के साथ संघर्ष में आता है। और इससे शहरी जीवन की बुनियादी व्यवस्था पर असहनीय दबाव पड़ता है। भारत में रुचिकर बात यह है कि शहरी अप्रवासी गाँवों के साथ अपना संबंध बनाये रखते हैं और इस कारण शहरी जीवन का अन्यायपूर्ण बोध और असन्तोष ग्रामीण जीवन में भी पहुँच जाता है। और वहाँ भी संघर्ष और हिंसा की शुरूआत हो जाती है।

बहुत लम्बे समय से भारत ही क्यों, दुनिया के कई भागों में ग्रामीण और शहरी, सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्थाओं में मेलजोल बना रहा है। लेकिन आज बढ़ती हुई जनसंख्या के दबाव ने संबंधों के सन्तुलन को तोड़ दिया है। यदि संरचनात्मक दृष्टि से देखें तो संबंधों की इस टूटन के कारण संघर्ष का जन्म हुआ है। और विचारधारा की दृष्टि से गाँव और शहर दोनों में राज्य के प्रति अलगाव की भावना पैदा हो गई है। गाँव के गरीब लोगों का शहर के प्रति मोह भंग हो गया है। इनका आरोप है कि राज्य की विकास नीतियाँ अमीरों के हित में है। मध्यम वर्ग भी राज्य की नीतियों के प्रति सहानुभूति नहीं रखता। यह बड़ी रुचिकर स्थिति है। ग्रामीण मध्यम वर्ग राज्य की नीति को उद्योग बढ़ाने वाली और पूंजीपतियों की सहायक समझता है, और शहरी मध्यम वर्ग राज्य की कल्याणकारी नीतियों जैसे कि आरक्षण को उनके अस्तित्व के लिये खतरा मानता है।

जातियों के परम्परागत व्यवसाय

यह सही है कि ग्रामीण तथा शहरी मध्यम वर्गों के सांस्कृतिक तथा राजनैतिक क्षेत्रों में निरन्तरता है। लेकिन आर्थिक क्षेत्र में इन दोनों में एक बढ़ता हुआ असन्तोष है। शहरी औद्योगिक या व्यावसायिक वर्गों में पिछले दिनों जातियों के परम्परागत धंधे होने के कारण एक पृथक अस्तित्व था। उदाहरण के लिये जैन जाति के लोगों का व्यवसाय में प्रभुत्व था और यह जाति खेती बाड़ी से कटी हुई थी। इसमें संदेह नहीं है कि आजादी के बाद हमारे राजनैतिक अभिजनों का एक बहुत बड़ा भाग

ग्रामीण उच्च वर्ग और मध्यम वर्ग की जातियों से था। और व्यवसाय के क्षेत्र में भी लोग मुख्य रूप से ग्रामीण उच्च जातियों के थे। यह भी सही है कि ग्रामीण मध्यम जातियों ने राजनैतिक शक्ति को प्राप्त किया है लेकिन वे ऊँची जातियों की तुलना में तकनीकी तथा व्यवसायिक धन्धों या प्रशासनिक और प्रबन्धन सेवाओं में पीछे हैं। इसी कारण पिछड़े वर्ग इन धन्धों में अपने आरक्षण की माँग करते हैं। व्यापार, धन्धे और उद्योग दोनों में गाँव की ऊँची और मध्य जातियाँ और वर्ग पिछड़ गये हैं। इसका कारण यह है कि ये जातियाँ और वर्ग अपने परम्परागत व्यवसायों में ही लगे हुए थे। उद्योग धंधे और व्यापार इनके लिये नये हैं।

काश्तकार परिवारों के दबाव का एक बहुत बड़ा कारण यह भी है कि ये परिवार परम्परा से खेती पर निर्भर थे और इनके लिये आज मध्यम वर्गीय जीवन पद्धति को अपनाना बहुत कठिन हो गया है। यह मध्यम वर्गीय जीवन पद्धति सामाजिक और सांस्कृतिक गुणात्मक परिवर्तन के कारण बराबर बदलती रहती है। एक या दो पीढ़ी में जाकर राज्य द्वारा निर्धारित 15 से 18 एकड़ सिंचित भूमि के, भूमि सिलिंग से ये परिवार भी टूटने लगते हैं। इससे एक विचित्र स्थिति पैदा हो जाती है। इन टूटे हुए परिवारों को गैर-कृषि क्षेत्र में जाने का कोई रास्ता नहीं दिखाई देता और किसानों की नई पीढ़ी अधोगामी सामाजिक गतिशीलता या यहाँ तक कि दिवालियेपन की ओर जाने के लिये मजबूर हो जाती है। हमारे देश में किसान अपनी संचित पूंजी और बचत का व्यवसाय या उद्योग में विनिमय करें यह अपवाद रूप में देखने को मिलता है। ऐसी घटनाएँ पंजाब में भी नहीं हुई जहाँ भारत में सबसे पहले हरित क्रान्ति आई। महाराष्ट्र और गुजरात में यह आंशिक रूप में ही देखने को मिलता है। किसान की संचित पूंजी तथा बचत का विनियोग यानी कृषि से व्यवसाय या उद्योग की ओर जाने के कुछ प्रमाण आन्ध्र प्रदेश में मिल सकते हैं।

विशेषकर कामा और रेड्डी जो कृष्णा गोदावरी घाटी में रहते हैं, उन्होंने धीरे-धीरे नकद फसल लेने के कारण औद्योगिक उत्पादन की ओर मुंह मोड़ा है। इससे उनके जमीन जायदाद और वाणिज्य में अन्तर आया है। इस तरह की गतिशीलता, कहना चाहिये, अपवाद ही है। हालांकि हरित क्रान्ति ने बहुत कुछ दिया है, परन्तु आज आवश्यकता इस बात की है कि कृषि से बाहर रोजगार के अवसर ढूंढे जाएं। समाज और कृषि अर्थव्यवस्था के स्वास्थ्य सुधार के लिये यह बहुत जरूरी है कि रोजगार के अवसर कृषि उद्योग, नौकरी और औद्योगिक उत्पादन और धन्धों आदि में खोजे जाने चाहिये। अब हमारे गाँवों और विशेष कर युवाओं में ग्रामीण जीवन के प्रति पूर्ण मोह भंग हो गया है। ग्रामीण जीवन जाति और वर्ग के तनाव के कारण अत्यधिक राजनैतिक हो गया है और इससे सम्पूर्ण सामुदायिक जीवन टूट गया है। यह टूटन विशाल जनसंख्या और संरचनात्मक अनिश्चितता के कारण, बोझिल हो गई है। इस समस्या के हल के लिये ग्रामीण-शहरी और कृषि औद्योगिक विकास को एक एकीकृत योजना की आवश्यकता है। इसके अभाव में हमारी हरित क्रांति भी जिसकी चमक पूंजी व तकनीकी पिछड़ेपन के कारण धुंधली हो गई है, हमें थोड़े समय के लिये सामाजिक संरचनात्मक संकट से जो सामने दिख रहा हैं, राहत दे सकती है।

विशाल शहरी संकट मुंह बांये खड़ा है

ग्रामीण समाज में जो खाई हमें वर्ग जाति समूहों में दिखाई देती है, उसका समानान्तर वह शहरी औद्योगिक क्षेत्र में देखने को मिलता है। हमने पहले इस ओर ध्यान आकर्षित किया है कि गाँवों से शहरों की ओर होने वाले स्थानान्तरण के बड़े गंभीर परिणाम हमारे सामने हैं। शहरीकरण के राष्ट्रीय अनुमान जो हमें प्राप्त हैं, बड़ी बेचैनी पैदा करने वाले हैं। 21 वीं शताब्दी के दूसरे भाग में पहुँच कर भारत की जनसंख्या 1 अरब के आँकड़े को पार कर जायेगी। इसका मतलब हुआ, हमारी जनसंख्या चीन से भी ज्यादा होगी। तब शहरी क्षेत्रों और खास करके महानगरों पर जो दबाव पड़ेगा उसे सहन करना मुश्किल हो जायेगा। ऐसा लगता है कि शहरी संकट के विशाल होने के साथ हमारा ग्रामीण संकट और अधिक जटिल हो जायेगा।

अब तक हमने संरचनात्मक गतिशीलता और परिवर्तन की प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप संकट के जो नये आयाम उभरे हैं, उनका विवेचन किया है। इस परिवर्तन के कारण जो सांस्कृतिक परिणाम सामने हैं वे भी हमारी व्यवस्था में एकीकरण नहीं लाते। यह अवश्य है कि नवीन ग्रामीण मध्यम वर्ग और शहरी व्यावसायिकों तथा उद्यमियों के समूह ने नवीनीकरण तथा किसी चीज को प्रारम्भ करने की पहल की क्षमता अवश्य बताई है। इस तरह की क्षमता के साथ ही व्यक्तिगत त्याग, सामाजिक कल्याण की भावना और सामाजिक उत्तरदायित्व का दमन हुआ है। और व्यक्तिगत तपस्या उन मूल्यों में से है जिसने गांधी जी द्वारा चलाये गये आजादी के आन्दोलन को प्रेरित किया था, का अभाव है। यूरोप में जिन औद्योगिक और व्यावसायिक वर्गों में गैर दकियानूसी आचारों की प्रधानता है, वह हमारे यहाँ इन समूहों में नहीं है, या जापान में जिस प्रकार का राष्ट्रीय उपभोक्तावाद है, वैसा हमारे यहाँ नहीं है।

हमारे यहाँ भारतीय उद्यमियों ने अपने व्यापार और धन्धों में जो सफलता पाई है उसकी केन्द्रीयता परिवार और नातेदारी, क्षेत्रवाद और भाषा राजनैतिक नेता, और अधिकारी तन्त्र आदि के साथ निहित संबंधों में है। दूसरे शब्दों में, भारतीय उद्यमियों की सफलता नातेदारी आदि संबंधों से जुड़ी हुई है। संरचनात्मक दृष्टि से देखें तो यह प्रायः पाया गया है कि स्थापित व्यवसायों में नये उद्यमियों और व्यापारियों का प्रवेश वर्जित है। समाज के आधुनिकीकरण में परम्पराओं की निरन्तरता बराबर बनी हुई है। इसका बड़ा दूषित परिणाम यह हुआ है कि इन लोगों ने "राजनीतिक" संबंधों का दुरूपयोग किया है। और नियन्त्रित आर्थिक व्यवस्था में औद्योगिक घरानों की संख्या में बड़ी वृद्धि हुई है लेकिन इसके साथ-साथ आचार संहिता का बहुत बड़ा पतन भी हुआ है। आर्थिक विकास के अवसर राज्य के तत्वावधान में बहुत विकसित हुए हैं और राज्य ने विकास के नये सांस्कृतिक मुहावरें भी बनाये हैं। लेकिन इन मुहावरों ने जहाँ एक ओर राज्य और जनता के संबंधों में अलगाव पैदा किया है, वहीं दूसरी ओर ऐसी स्थिति पैदा कर दी है कि जनता की राज्य पर निर्भरता बढ़ गई है। यह प्रक्रिया सांस्कृतिक अभिमुखता की है जिसने व्यवसाय, धन्धे, राजनीति, शिक्षा आदि में असैद्धांतिक उपयोगितावाद को जन्म दिया है। अब राज्य नये ग्रामीण और शहरी मध्यम वर्गों की उन्हीं की मूल्य

व्यवस्था पर प्रशासन करता है। इसका परिणाम हमें सार्वजनिक जीवन के भ्रष्टाचार में देखने को मिलता है और इसी कारण हमारी वैचारिकता में भी कटुता आ गई है। ये सब अभिमुखता के तार्किक परिणाम हैं।

इस सबने हमारे काम करने के व्यवहार को गड़बड़ा दिया है। कैसी विडम्बना है कि राज्य इसलिये स्थापित किया गया था कि वह आर्थिक और सामाजिक हस्तक्षेप में सक्रिय पहल करेगा, वह अब ऐसी संस्था समझी जाने लगी है जो चालबाजों को लाभान्वित करती है तथा उन लोगों को जो भ्रष्ट तरीकों से सार्वजनिक स्रोतों से और धन का उपयोग करते हैं, तथा इसे शीघ्र बढ़ाने के लिये आतुर हैं, उन्हें पर्याप्त अवसर देती है। राज्य ने नौकरी देने की भावना को सशक्त कर दिया है। वह काम करने के आचार को बढ़ावा नहीं देता। यह इसी प्रक्रिया का परिणाम है कि लोग "काम करने के अवसर" के बजाय सरकारी नौकरियों की माँग करते हैं। सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से समाज के वंचित लोगों को नौकरी के लिये आरक्षण देने की नीति सही इरादे से बनायी गई थी। इस नीति का उद्देश्य सदियों से पिछड़े हुए लोगों को आरक्षण द्वारा खामियाजा देना था। लेकिन आज तो स्थिति ऐसी है या ऐसी होने की संभावना है कि आरक्षण के ये सब अधिकार वंशानुगत विशेषाधिकार में बदल जायेंगे।

वंचन पर फलती - फूलती साम्प्रदायिकता

ऊपर हमने समकालीन भारत में जिस तरह के संकट का उल्लेख किया है, उसके कारण एक वैचारिक अराजकता आ गई है और यह अराजकता वैचारिकी के अवसान के बिना आई है। वैचारिकी तो जीवित है और यही नहीं अपने प्रभुत्व के लिये प्रत्येक वैचारिकी प्रतियोगिता में है। यहाँ पर हम दो संकटकालीन विचारधाराओं का उल्लेख करेंगे जिनका भारत आज मुकाबला कर रहा है। ये विचारधाराएँ हैं: राष्ट्रीयता और साम्प्रदायिकता। इन दोनों का हमारे स्वतन्त्रता आन्दोलन में एक लम्बा इतिहास है। राष्ट्रीयता की विचारधारा को देश के विभाजन के समय एक धक्का लगा, लेकिन यह बच गई। साम्प्रदायिकता आज राष्ट्रीयता की विचारधारा के लिये बहुत बड़ी धमकी है। साम्प्रदायिकता का अर्थ संकुचित शब्दों में धार्मिक समूहों और विशेष करके हिन्दुओं और मुसलमानों में संघर्ष तथा असहनशीलता की भावना को पैदा करता है। यह भावना उन सामाजिक शक्तियों और समूहों—ग्रामीण और शहरी मध्यम वर्गों में पैदा होती है जिनका हमने ऊपर उल्लेख किया है। साम्प्रदायिक संघर्ष बार-बार उन लोगों में जो आचार की दृष्टि से जड़हीन आर्थिकवाद या राजनैतिक अवसरवादिता का गुणगान करते हैं, देखा जाता है। यह स्थिति राजनैतिक मूल्यों की प्रतिबद्धता में नहीं है जिसने भारत में एकाधिक परम्परा और सहिष्णुता को युगों-युगों तक बनाये रखा है और जो आज भी पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हुई है। देखा जाये तो साम्प्रदायिकता, वंचितता जनित चिन्ता के शोषण पर फलती-फूलती है। ऐसी अवस्था को समतावादी तथा समाज कल्याण की न्यायिक प्रशासनात्मक नीतियों द्वारा रोका जा सकता है। इन नीतियों को धार्मिक अल्पसंख्यकों के वंचित समूहों पर लागू करना चाहिये। साम्प्रदायिकता भारत में एक और अर्थ में खतरनाक हो जाती है जब यह राष्ट्रीयता का विरोध करती

है। भारत एक ऐसा समाज है जो जाति, धर्म, भाषा, संस्कृति और क्षेत्र आदि पर आधारित है। भारत की एकता हमेशा कुछ ऐसे मूल्यों पर बनी रही है जो विस्तृत तथा लचीले हैं और जिनमें लोगों की एक निश्चित सामान्य भागीदारी रही है। ये विस्तृत और लचीले मूल्य जिनमें सबकी भागीदारी होती है, व्यावसायिक कुशलता, तकनीकी, शिल्प-कला और बाजार से जुड़े हुए संबंधों में देखे जा सकते हैं। यह भागीदारी तब भी थी जबकि हमारे यहाँ धर्म, भाषा या क्षेत्र में अन्तर था। इस तरह की स्थिति को हम भारत की "सभ्यता" की एकता की तरह देख सकते हैं। यह एकता राष्ट्र और राज्य से भिन्न है। यह इसी कारण है कि हजारों वर्षों से भारत एक ऐसा देश रहा है जिसमें धार्मिक, सांस्कृतिक और भाषायी भिन्नता के लोग समन्वय के साथ रहे हैं। भारत के शासक जो विभिन्न धार्मिक पृष्ठभूमि से आये हैं उन्होंने इस परम्परा को आदर के साथ देखा है, और अपनाया है। इसने क्षेत्रीय स्वायत्तता को पर्याप्त महत्व दिया है और इसमें कई प्रकार का केन्द्रीय नियत्रंण रहा है। हमारे पास कुछ ऐतिहासिक और मानवशास्त्रीय प्रमाण हैं जो बताते हैं कि मुगल शासन आने के बाद यहाँ केन्द्रीयकरण बढ़ गया। और यह ब्रिटिश राज तक बराबर बढ़ता ही रहा। ब्रिटिश उपनिवेशवादी शासन और उसके संस्थागत नवीनीकरण ने राष्ट्रीय राज्य की विचारधारा को बढ़ाया है और ऐसा करने में पश्चिमी देशों से पर्याप्त प्रेरणा मिली है। इस सबके होते हुए भी भारतीय संविधान एक अनोखा दस्तावेज है जो केन्द्रीयकरण की ओर अभिमुख है यद्यपि इसमें शक्ति के विकेन्द्रीयकरण की पर्याप्त गुंजाइश है।

राष्ट्रीयता की जो मानक संरचना है, वह संविधान में देखी जा सकती है। इसमें राज्य को एक धार्मिक, समाजवादी और प्रजातान्त्रिक राष्ट्र की तरह प्रस्तुत किया गया है। यह संविधान मनुष्य के बुनियादी अधिकारों की रक्षा करता है और ऐसा करने में जन्म, धर्म और लिंग के भेदभाव पर विचार नहीं करता। आजादी के बाद से लेकर आज तक हमारे सामाजिक और आर्थिक विकास का जो चरित्र रहा है, वह ऐसा है जिसे अमल में लाने की रणनीति पर जो सर्वसम्मति थी, वह दिन-ब-दिन गिर रही है। देखा जाये तो सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रियाओं ने इस संघर्ष को तो अधिक ताकतवर कर दिया है लेकिन लोगों में आज जो खाईयां हैं वे वर्ग के आधार पर नहीं खिंच पाई हैं। ये खाईयाँ जाति वर्ग और धर्म के कारण टूट-फूट जाती हैं।

अनेकता की परम्परा को चुनौती

इस वातावरण में हिन्दू और मुसलमान दोनों समुदायों के मध्यम वर्गों के विकास ने साम्प्रदायिक विचारधारा को तैयार करने के लिये एक सुस्पष्ट प्रचार को आधार दिया है। आज के इस तरह के वैचारिक विकास में राजनैतिक दलों और चौगुटे को ऐसा अवसर मिला है कि वे साम्प्रदायिकतावाद की वैधता को खुले आम आगे बढ़ा सकें। कांग्रेस पार्टी के प्रभाव का पतन, मुस्लिम देशों में इस्लामी कट्टरवाद की बढ़ती हुई लहर की इस अवस्था में हिन्दू और मुस्लिम दोनों सम्प्रदायवादियों ने राह से हटकर इस स्थिति का निर्वचन किया है। इन सब ने साम्प्रदायिक पूर्वधारणाओं को मजबूत किया है। देखा जाए तो, संरचनात्मक दृष्टि से, साम्प्रदायिकता

का यह चेहरा अधिक भयावह दिखाई देता है इसका आधार एकदम पैदा होने वाला आवेश नहीं है जिसे हम साम्प्रदायिक हिंसा में देखते हैं और जिसके निहित स्वार्थ होते हैं। इस तरह के आवेश के परिणाम गहरे और विस्तृत होते हैं। यह आवेश तो सभ्यता की वह विचारधारा है जिसे हम हजारों वर्षों से भारत की परम्परा के साथ जोड़ते रहे हैं, और जो आज एक चुनौती है। भारतीय सभ्यता की परम्परा अनेकता और विविधता में है जिसका मतलब यह है कि सभी धार्मिक पंथों और जीवन पद्धति के लिये सहिष्णुता रहे। आंशिक रूप से धार्मिक कट्टरवाद में पश्चिमी प्रकार की आधुनिकीकरण के लिये निराशा दिखाई देती है।

इस प्रकार की धार्मिक अभिमुखता का जब राजनीतिकरण किया जाता है और जब राष्ट्रीयता तथा आर्थिक व सामाजिक विकास के लिये नियम बनाये जाते हैं, तब यह साम्प्रदायिक स्वरूप ले लेता है। जब इस तरह का कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया जाता है कि किस भाँति यह विचारधारा आधुनिक धर्मनिरपेक्षता, प्रजातान्त्रिक राज्य के मुद्दों के साथ में तालमेल रखेगी, तब हमारा उत्तर कमजोर हो जाता है। भारत जो अब भी राष्ट्र राज्य बनने की प्रक्रिया में है, साम्प्रदायिकता का यह स्वरूप अधिक चुनौती देने वाला है। जैसे कोई भवन बन जाता है, उसका निर्माण पूरा हो जाता है, उसी तरह से कोई राष्ट्र बनकर तैयार नहीं होता। राष्ट्र बनने की तो एक प्रक्रिया होती है जो बराबर गतिमान रहती है। धार्मिक कट्टरता का जो स्वरूप साम्प्रदायिकता में दिखाई देता है, वह धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र राज्य की निर्माण की प्रक्रिया में विघटनकारी है।

यह कहा जा सकता है कि देश में आज जो भी संकट है, इसका कारण स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हमने जिस रास्ते को अपनाया है, वह है। हमें लगता है कि इस तरह की विचारधारा अगर भ्रामक नहीं है तो, दोषपूर्ण अवश्य है। विकास कोई एक रेखीय प्रक्रिया नहीं है, यह तो प्रतिक्रियात्मक प्रक्रिया है। हमारी प्रक्रिया सामाजिक संरचना और उसकी ऐतिहासिकता में जो भी विकल्प और सीमाएँ उपलब्ध हैं उन पर विचार करते हुए हमने राज्य की पहल पर जो आयोजन का प्रारूप अपनाया है, वह बहुत बढ़िया है। इस प्रारूप को बनाये रखने का जो भी मुद्दा है, उसका उद्गम ऐतिहासिक है और पश्चिमी देशों में भी ऐसा ही कुछ है, ऐसी अवस्था में हमें इसको इतिहास के संदर्भ में देखना चाहिए। आयोजन के इतिहास से कुछ सबक हमें अपने आप स्पष्ट दिखाई देते हैं जैसे कि विकेन्द्रीयकरण की प्रासंगिता, लोगों की भागीदारी और विकास की प्रक्रिया, स्वैच्छिक समूहों की भूमिका, शिक्षा के विकास में और विशेष करके स्त्री शिक्षा तथा निरक्षरता के उन्मूलन में निर्णायक भूमिका, समन्वित ग्रामीण शहरी आयोजन की आवश्यकता, बुनियादी समस्याओं में सुधार और पर्यावरण में सहायक औद्योगीकरण। अब, विस्तृत रूप से, सब यह भी मानते हैं कि गाँवों और छोटे कस्बों में रोजगार के अवसर पैदा करने चाहिये और शीघ्रता से लोगों की जीवन पद्धति में सुधार लाना चाहिए। इस प्रकार की नई बातें जिस तरह के आयोजन की प्रक्रिया को अपनाया है, उसमें निहित हैं। जिस बुनियादी दिशा और दर्शन को हमने स्वीकार किया है, उसके सामने नई चुनौतियाँ भी आई हैं। ये चुनौतियाँ इस कारण आई हैं कि

हाल में हमने बाजार पर आधारित नीति में बदलाव संबंधी उपागम को अपनाया है।

राज्यतन्त्र की बदनामी

'दि इकोनोमिस्ट' ने अपने 4 मई, 1991 के अंक में प्रकाशित एक सर्वेक्षण में यह कहा है कि भारतीय राज्यों द्वारा नियन्त्रित अर्थव्यवस्था और इसके आत्मनिर्भरता का लक्ष्य विकास के प्रयास में मुख्य रूकावट है। कई आर्थिक संकेतकों में भारतीय अर्थव्यवस्था लगभग एशिया के सभी देशों में पीछे है। इन संकेतकों में है : कृषि में वास्तविक पैदावार, औद्योगिक उत्पादन में औसत वार्षिक वृद्धि, गरीबी में औसत वार्षिक कमी, और पाँच वर्ष से कम के बच्चों में मृत्युदर में कमी और यहाँ तक कि आयात-निर्यात के आत्म निर्भरता के लक्ष्यों में कमी, इत्यादि। इस सर्वेक्षण के अनुसार राज्य की नीतियों के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था में जो शक्ति है उसका पूरी तरह से विकास नहीं हुआ है। भारत किसी पिंजड़े में बन्द एक शेर की तरह है। इसे 'दि इकोनोमिस्ट', ने अपने 16 नवम्बर, 1991 के अंक में एक और सर्वेक्षण का उल्लेख किया है। इस सर्वेक्षण में बताया गया है कि एशिया के पूर्व और दक्षिण पूर्व के देशों में आर्थिक विकास की दर बहुत तेज गति से बढ़ी है और इसका कारण बाजार जनित उनकी खुली अर्थव्यवस्थाएं हैं। इन अर्थव्यवस्थाओं के बुनियादी सबक पर उपसंहारात्मक टिप्पणी करते हुए यह सर्वेक्षण लिखता है : "राज्य की गतिविधियों में आर्थिक विकास पहली पसन्द होनी चाहिये। इसका यह मतलब नहीं है कि सरकार कमजोर वर्गों पर कल्याणकारी खर्च बढ़ाये लेकिन इसकी वरीयता तो उत्पादन में वृद्धि करना होना चाहिये। बाजार और व्यक्तिगत सम्पत्ति के प्रति प्रतिबद्धता के अभाव में उत्पादन में वृद्धि होना, अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता और तीव्र गति से विकास होना, सम्भव नहीं है। बाजार का पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होना आवश्यक नहीं है। होना चाहिए कि जो कुछ आय होती है, सापेक्षिक रूप से उसका बराबर बंटवारा होना चाहिये और कामगारों को उत्प्रेरित करने के लिये थोड़े कर होने चाहिये।"

इस तरह का जो विश्लेषणात्मक कारण दिया गया है, यह विश्वस्तरीय स्थिति में जो परिवर्तन आये हैं उसके साथ मेल खाता है। इन परिवर्तनों से ज्ञात होता है कि अब दुनिया में जैसा कभी सोचा नहीं जा सकता उस तरह का सहयोग एक खुले हुए पूंजीवादी तथा बाजार के साथ सहानुभूति रखने वाली आर्थिक नीति के कारण है। यह आर्थिक नीति सारी दुनिया में प्रजातांत्रिक राज व्यवस्था के साथ मेल खाती है। इस दिशा में हाल में भारत ने अपनी आर्थिक नीतियों की दिशा में एक सावधानी पूर्वक बदलाव किया है। अब यह सही तरह से अनुभव किया जाने लगा है कि आर्थिक गतिविधियों में राज्य की भूमिका का विस्तार एक सीमा से अधिक होने पर दक्षता में कमी आती है, और भ्रष्टाचार पनपता है। इसे हम व्यापार और उद्योग के क्षेत्र में देख सकते हैं। राज्य जिन क्षेत्रों में उत्पादन करता है, उनमें प्रतियोगिता नहीं होती और लोगों की कीमत पर एक सुरक्षित पूंजीवाद फलता-फूलता है। इसी कारण आर्थिक उदारीकरण और इसके विश्वव्यापीकरण की सक्षम कड़ी का होना आवश्यक है। इस तरह की कड़ी न केवल अधिक दक्षता के लिये लेकिन तकनीकी विकास जिसके कारण अधिक तादाद में उत्पादन हो सके और यह उत्पादन गुणवत्ता का हो, आवश्यक है। ऐसे

सहयोग में पिछड़ जाने के कारण अब हमारी हरित क्रान्ति में भी स्थिरता आ गई है। लेकिन इस तरह की नीति की भी सीमाएँ हैं।

भारत जैसे विकासशील देशों को अपने देश की ऐतिहासिकता को देखना चाहिए। कुछ मुद्दों में यह ऐतिहासिकता हमें बताती है कि इनका निर्माण सामाजिक संरचना द्वारा निर्धारित होता है। हमारी नीतियों पर, मूल्य और राजनीतिक व्यवस्था का दबाव होता है। पीरे बोर्दियों, यूरोप के एक अग्रणी समाजशास्त्री हैं। इन्होंने आज प्रचलित बाजार अर्थव्यवस्था की तार्किकता के प्रभुत्व पर और फ्रांस के व्यक्तिवाद पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा प्रेरित न्यून दृष्टिकोण वाले आर्थिक सिद्धांत से कुछ देशों की आँखें चौंधिया गई हैं। यह सिद्धांत उत्तर और दक्षिण के संबंधों को तोड़ रहा है, और इस तरह का तोड़ना तब तक चलता रहेगा जब तक ये अध कचरे अर्थशास्त्री इस बात को भूल नहीं जाते हैं कि छोटी और सबसे ऊपर लम्बी अवधि में किस प्रकार की नैतिक त्रासदी और आर्थिक मूल्यों को चुकाना पड़ता है। इस तरह के सिद्धांत की आर्थिक वैधता वास्तविक राजतन्त्र में यही परिणाम देती है। इस अवस्था में बाल अपराध, अपराध, मद्यपान, सड़क दुर्घटना आदि बढ़ते रहते है। बोर्दियों ने यह विचार 'गार्डियन विकली' में अनूदित ले मुण्डे में छपे एक साक्षात्कार में रखे थे।

बोर्दियो ने जो कुछ कहा है, उसका संदर्भ यूरोप है। हमारे संदर्भ में हमें आर्थिक उदारीकरण की नीति को इस तरह बनाना है कि यह हमारी सामाजिक व राजनीतिक दशाओं के साथ मेल खा जाये। सुधार की प्रक्रियाओं पर स्वयं प्रजातन्त्र का दबाव होता है और यह दबाव जब आवश्यक हो तब देखने को मिलता है। ऐसा करने में प्रजातन्त्र अपने सामाजिक उत्तरदायित्व और मानव चेतना के साथ जुड़ जाता है। इसका अर्थ होगा कि हमें समाज के कमजोर वर्गों की समानता और वस्तुओं के न्यायिक वितरण पर जोर देना चाहिए। भारत में आने वाले कई वर्षों तक हमें ऐसे आर्थिक सुधार की नीति को बनाये रखना होगा जो समाज कल्याण की सुरक्षा प्रदान करे और व्यक्ति की पहल को उत्प्रेरित करे तथा उत्पादन की क्षमता को बढ़ाये। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम गांधी जी और नेहरू जी के सामाजिक और आर्थिक विकास के प्रारूप को जो लुप्तप्राय है लागू करें। लेकिन इस प्रारूप में जो नवीनीकरण की व्याख्या है उसे दुनिया के बदलते हुए सामाजिक व आर्थिक पर्यावरण पर लागू करें। इसका मतलब यह है कि गांधी और नेहरू के प्रारूप में आज के नये संदर्भ के लिये जो प्रासंगिकता है, उसकी खोज करके उसे लागू करें।

संदर्भ ग्रन्थ

- 'दि इकोनोमिस्ट, 4 मई, 1991
- दि इकोनोमिस्ट, 16 नवम्बर, 1991
- बोर्दियो, पीरे, 'गार्डियन वीकली', 2 फरवरी, 1992

भारतीय समाज का परिचय : अनेकता में एकता और एकता में अनेकता

4

सिद्धांत और व्यवहार दोनों रूपों में भारत विविधताओं का देश है। अनेकता में एकता और एकता में अनेकता अपने आप में इसकी सटीक विशेषता हैं। विभिन्न जातियों और समुदायों से जुड़े, लोगों की संस्कृतियां, धर्मों एवं भाषाओं का यह वृहत् संश्लेषण है, जो अतीत में विदेशी आक्रमण और मुगल एवं ब्रिटिश शासन के बावजूद अपनी एकता और संबंद्धता को संवर्धित करता है। यह ऐसा संश्लेषण है जो भारत की संस्कृतियों को एक अद्वितीय पच्चीकारी का रूप देता है। भारत ने ब्रिटिश राज के विरूद्ध एक संगठित सत्ता के रूप में लड़ाई लड़ी। दरअसल, भारत अन्य महाद्वीपों में बिना किसी के समतुल्य अपने तरह की एक अलग दृश्यावली है। विदेशी हमलों, विश्व के अन्य भागों से आप्रवास और विभिन्न भाषाओं, संस्कृतियों और धर्मों के अस्तित्व ने एक तरफ इस की संस्कृति को सहिष्णु बनाया, तो दूसरी ओर इसी विशिष्टता और ऐतिहासिकता ने इसे एक अद्वितीय नैरंतर्य और जीवन संस्कृति प्रदान की। यह एक बदलता हुआ समाज है, क्योंकि यह स्थिर नहीं है। स्थायित्व के साथ-साथ इसमें परस्पर विरोधी अभिरुचियों और विश्वदृष्टियों का व्यापक प्रसार है। आप्रवास और आक्रमणों एवं सांस्कृतिक, भाषायी और क्षेत्रीय मतभेदों के कारण जो अलगाव दिखाई देते हैं, उनसे कभी-कभी तनाव और अशांति की स्थिति पैदा हो जाती है। अनगिनत जातियाँ, वर्गों और जातीय समूहों के कारण जो धनी और गरीब अभिजात एवं जनसामान्य, पूजा पद्धति एवं सम्प्रदाय में बंटे हुए हैं एवं कुछ मिली जुली श्रेणियों एवं संस्कृतियों में, शास्त्र विरूद्ध सिद्धांतों, सामाजिक अंत:क्रिया के भिन्न प्रकारों और लचीलापन एवं द्वन्द्व ये कुछ अपरिहार्य सामाजिक परिणाम हैं।

विविधताओं की विशेषता

हिन्दू, जैन, बौद्ध, इस्लाम, सिक्ख और ईसाई हमारे प्रमुख धर्म हैं। कई सौ बोलियों के अलावा यहाँ पन्द्रह राष्ट्रीय भाषाएं हैं। यहाँ विविधता का संबंध न केवल जातीय संरचना, धार्मिक और भाषागत विशिष्टता से है बल्कि रहन-सहन के प्रतिरूपों, जीवन शैली, कृषि व्यवस्था, पेशा, विरासत और उत्तराधिकार कानूनों और जन्म, विवाह, मृत्यु से संबंधित रीति रिवाजों और अनुष्ठानों आदि से भी है। स्वातंत्रयोत्तर भारत अनेक विषमताओं और बाधाओं के विरूद्ध एक संगठित राष्ट्र है। तमिलनाडु, आंध्र प्रदेश, असम, पूर्वोत्तर, पंजाब और जम्मू-कश्मीर में साम्प्रदायिक कम्पन

अनुभव किए गए थे। दो सौ वर्ष पुराने औपनिवेशिक शासन से नव स्वाधीन राष्ट्र का एकीकरण काफी मुश्किल काम था। भारत की एकता का विचार इसके सभी ऐतिहासिक और सामाजिक सांस्कृतिक तथ्यों, यहाँ तक कि इसकी सांस्कृतिक विरासत में अन्तर्निहित है। भारत एक धर्म निरपेक्ष राज्य है। आज, इसके पास विभिन्न क्षेत्रों, धर्मों, संस्कृतियों एवं भाषाओं से संबंध रखने वाले लोगों को आश्वासन देने वाला संविधान है। यह सभी सामाजिक-आर्थिक स्तरों से जुड़े लोगों को सुरक्षा प्रदान करता है। पंचवर्षीय योजनाएँ और कुछ अन्य विकास योजनाएं समाज के गरीब एवं कमजोर वर्गों के उन्नयन में सहायक सिद्ध हुई हैं। हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई और अन्य आस्थाओं के लोग अपने पूजा स्थलों के साथ समूचे देश में फैले हुए हैं और वे साथ-साथ रहते हैं तथा एक-दूसरे के पर्व त्यौहारों आदि का सम्मान करते हैं। वे राजनैतिक गतिविधियों में साथ-साथ हिस्सा लेते हैं। भारत की राजनैतिक एकता समान प्रशासनिक और संवैधानिक व्यवस्था एवं भूमि कानून के द्वारा बनाए रखी गई है। छः प्रमुख धार्मिक समूहों के अलावा जरथ्रुस्तों और यहूदियों के छोटे समूह भी हैं। संख्या की दृष्टि से बहुतायत वाले हिन्दू, जो संपूर्ण जनसंख्या का 82.7 प्रतिशत हैं, शैव, वैष्णव, शाक्त और स्मार्त जैसे अनेक सम्प्रदायों में विभाजित हैं। कबीर पंथ, सतनामी और लिंगायत जैसे सम्प्रदायों की उत्पत्ति हिन्दुत्व के उद्धत स्वभाव के कारण हुई। यद्यपि ब्रह्म समाज और आर्य समाज जैसे संगठनों और राधास्वामी प्रणामी एवं स्वामीनारायणी पंथवादी समूहों का उद्देश्य सामाजिक सांस्कृतिक सुधार है, हिन्दुत्व विशेष की तुलना में अपने अनुयायियों को आस्था और विश्वास के वैकल्पिक तरीके प्रदान करने की वे उद्घोषणा करते हैं। समाज के कमजोर वर्गों के उन्नयन को अपनी नीति के पालन में भारतीय राज्य ने शिक्षा, रोजगार और राजनीतिक संस्थाओं, प्रतिनिधित्व के क्षेत्रों में विशेष लाभ पहुँचाने के लिये अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों के रूप में कुछ समूहों को सूचीबद्ध किया है। यहाँ तक कि इन समूहों के लोग अपनी सांस्कृतिक और धार्मिक निष्ठा एवं अस्मिता के आधार पर अनेक उप समूहों में बंटे हुए हैं।

मुसलमान, ईसाई, सिक्ख, बौद्ध, जैन, पारसी आदि नाम वाले गैर-हिन्दू समूह भी अपने धार्मिक विश्वासों और सांस्कृतिक प्रथाओं के आधार पर अलग-अलग दिखाई देते हैं। व्यापक रूप में, मुसलमान सुन्नी और शिया के रूप में जाने जाते हैं, जो क्रमशः हनीफ़ विचार सम्प्रदाय और शफ़ी सम्प्रदाय का अनुसरण करते हैं। ईसाई सामान्यतया रोमन कैथौलिक और प्रोटेस्टेंट धार्मिक रूपों के अनुयायी हैं और इसलिये उनके अपने-अपने साम्प्रदायिक चर्च हैं। सिक्ख मजहबी और सरदार के रूप में जाने जाते हैं और दोनों गुरुद्वारा पूजा में विश्वास रखते हैं। लंगर, संगत और पंगत में उनकी समानता और भाईचारे की आस्था झलकती है। बौद्धों में महायान और हीनयान सम्प्रदायों एवं जैनियों में दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों के लोग समूचे भारत में जाने जाते हैं। सिक्खों, बौद्धों और जैनियों के बीच जातियों का एक प्रकार और जाति से मिलते-जुलते समूह पाए जाते हैं लेकिन वे अस्पृश्यता का वैसा व्यवहार नहीं करते जैसाकि हिन्दुओं के मामले में पाया जाता है। पारसी यद्यपि

एक छोटा समुदाय हैं, उनमें भी वर्ग के अनुरूप सामाजिक-सांस्कृतिक विभाजन हैं। महत्वपूर्ण कस्बे और शहर, नदियों, समुद्र तटों एवं व्यापार और तीर्थ मार्गों के किनारे पाए जाते हैं। यह पटना, कोलकाता, वाराणसी, हरिद्वार, मुम्बई, चेन्नई, सूरत, भड़ोच, इलाहाबाद, पांडिचेरी, गोवा और अन्य बहुत से शहरों के बारे में सच है। कोलकाता, बम्बई (मुम्बई) और मद्रास (चेन्नई) शहरों के विकास में व्यापार और राजनीतिक कारकों, विशेष रूप से सोलहवीं सदी में ईस्ट इंडिया कम्पनी के प्रवेश के कारण ने योगदान दिया।

सांस्कृतिक पच्चीकारी

भारतीय सांस्कृतिक परम्परा अद्वितीय है। धर्म का भाव (नियामक व्यवस्था), कर्म (व्यक्तिगत नैतिक प्रतिबद्धता) और जाति (जाति) सामाजिक स्तरीकरण के श्रेणीबद्ध सिद्धांतों के रूप में भारतीय संस्कृति का मूलाधार है। इन तत्वों के संरूपण का एक निश्चित आधार और वैचारिक सर्वानुमति का परिणाम है, भारतीय समाज में स्थायित्व, और संतुलन है इसलिये इसकी संस्कृति में कोई भारी खराबी नहीं आई। कहा गया है कि सांस्कृतिक व्यवस्था में परिवर्तन होता हैं, व्यवस्था का नहीं। दूसरे शब्दों में, सांस्कृतिक और सामाजिक मूल्यों और आदर्शों का आधार कुछ बदलावों के साथ अभी बना हुआ है। धर्म, कर्म और जातियों के मूल्य बड़े पैमाने पर सामाजिक और सांस्कृतिक गतिविधियों को दिशा-निर्देश देते रहते हैं। इसलिये, परिवर्तन व्यवस्था के अन्तर्गत होता है, व्यवस्था का नहीं। जबकि सवाल यह है कि क्या बिना व्यवस्था को बदले, व्यवस्था के अन्दर परिवर्तन लाया जा सकता है।

अनेकता में एकता के स्रोत क्या थे? उप महाद्वीप में विगत आंदोलन, सांस्कृतिक और सामाजिक गतिशीलता में बाधाओं का अभाव, युद्ध और विजय, साम्राज्यों और शासकों का बदलाव, हिन्दुत्व का अखिल भारतीय स्वरूप, रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्यों की भूमिका ने भारत के लोगों के सांस्कृतिक सम्मिश्रण में सार्थक भूमिका का निर्वाह किया। भरतनाट्यम, कुचीपुड़ी, मोहिनी अट्टम, कथकली, ओडिसी और मणिपुरी जैसे नृत्य रूपों ने सांस्कृतिक और सामाजिक दृष्टि से लोगों को एक साथ लाकर भारत की एकता में सहयोग प्रदान किया। संत-कवियों, जिन्होंने भारत की रग-रग में भक्ति के उपदेश द्वारा समर्पण का संदेश फैलाया। रहीम, रसखान, मीरा, कबीर, नानक, चैतन्य और नरसी मेहता ने भजन, कीर्तन, जागरण, पद, साखी और रागों के रूप में भक्ति के विभिन्न प्रकारों को न केवल लोकप्रिय बनाया, बल्कि असहमति, विरोध और सुधार की प्रभावशाली नई परम्परा का भी सूत्रपात किया।

धार्मिक और सांस्कृतिक भिन्नता और विरोध एवं सुधार की धारा के बावजूद भारत का पवित्र भूगोल संगठित रूप में बना रहा। हिमालय एकता के महान प्रतीक के रूप में समादृत है। ब्रदीनाथ, पुरी, द्वारका और रामेश्वरम् के नाम से चारों हिन्दू धर्म के केन्द्र भारतीय अवयववाद के चार स्तंभों की तरह हैं। गंगा, यमुना, नर्मदा, गोदावरी और कावेरी जैसी नदियों ने समान रूप में महान् भारतीय सभ्यता की आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक सामर्थ्य में योगदान दिया। अत: हरिद्वार, प्रयाग, वाराणसी, गया, अमरनाथ आदि जैसे शहरों और जाने माने कस्बों की कहानी है। वैष्णोदेवी, पुष्कर, उज्जैन,

ओंकारेश्वर और नासिक का महत्व भारतीय समाज की एकता में कोई कम नहीं है। अनेक बौद्ध विहारों, जैन मंदिरों, गुफाओं, मस्जिदों, गुरूद्वारों, रागों, त्यौहारों, मेलों, आश्रमों, पुरूषार्थों और यहां तक कि कर्म के सिद्धांतों (सुकर्म) ने सभ्यता और सांस्कृतिक अस्तित्व के रूप में भारतीय जनता को संगठित किया।

भारतीय संस्कृति की ऐसी अद्वितीयता का इसके गोपनीय स्वभाव के कारण आसानी से नहीं पता चलता। इसके लिये इसके इतिहास के संदर्भ में भारत की संस्कृति का गहन अध्यन करने की जरूरत है। समावेशन और आत्मसातकरण सामाजिक और सांस्कृतिक सामीप्य में रहते हैं। बाद में ईसाई भी उनसे जुड़ गए। आज हिन्दू, जैन, सिक्ख, मुसलमान, ईसाई और अन्य आस्थाओं के लोग सरकार, उद्योग, वाणिज्य और सार्वजनिक जीवन के अन्य क्षेत्रों में साथ-साथ हिस्सा लेते हैं। इस प्रकार, घोर वैविध्य के बावजूद एकता लगातार बनी हुई है। विविधता तो हजारों जाति समूहों में प्रतिबिम्बित होती है, जिनमें प्रत्येक के अपने रीति-रिवाज, नियम और जीवन पद्धति हैं। जैसा कि पहले कहा गया है, भाषाई, धार्मिक और अन्य जातीय विभिन्नताओं के संदर्भ में भी इसे देखा जा सकता है। एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र की जीवन पद्धति और यहाँ तक कि एक ही गाँव में विभिन्न जातियों और धार्मिक समूहों में भिन्नता होती है।

अकबर सर्वाधिक शक्तिशाली मुगल सम्राट, ने दीन-ए-इलाही के नाम से राज्य धर्म की अवधारणा को प्रायोजित किया, जो हिन्दू धर्म और इस्लाम का संश्लेषण था। गाँवों में मुसलमानों के अधिकांश ने पहचान के परे अपने सामाजिक जीवन को बदल डाला। विवाह जैसे अपवादों को छोड़कर उन्होंने जीवन के सभी क्षेत्रों में बेहिचक हिन्दुओं के साथ मेल-जोल कर लिया। हिन्दू राजा और मुसलमाल बादशाह व्यक्ति के रूप में दोनों समुदायों से साहित्यिक एवं कलात्मक योग्यताओं के कारण समादृत थे। कबीर और नानक इस्लाम की शिक्षाओं से बेहद प्रभावित थे। इस्लाम में धर्मांतरण और बाद में ईसाई धर्म में और आज बौद्ध धर्म में, सामूहिक संस्कृति का परिणाम हैं। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने जीवन भर राष्ट्रीय एकता और अखण्डता को साम्प्रदायिक सौहार्द्र के माध्यम से, गरीबों एवं दलितों के उत्थान और न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था को प्राप्त करने के लिये काम किया।

आधुनिक भारत में एकता और अनेकता

औपनिवेशिक भारत के दो इतिहास हैं। पहला, उपनिवेशवाद, जो उपनिवेशवादियों के द्वारा प्रस्तुत किया गया, और दूसरा भारत की संस्कृति और सभ्यता का उसकी बौद्धिक और दार्शनिक गर्मजोशी के माध्यम से बनाया गया। भारत का इतिहास, इसकी वास्तु निधि, इसका साहित्य, दर्शन, संगीत, नाटक, नृत्य और इसकी अन्य ललित कलाएं, सबने भारत के सामाजिक जीवन में योगदान किया है, और ब्रिटिश शासन द्वारा भी इन्हें नष्ट नहीं किया जा सका। यह इसका इतिहास है जो अंग्रेजी राज के दौरान नजरअंदाज और उपेक्षित किया जाता रहा।

महात्मा गांधी क्रांतिकारी बदलाव चाहते थे, फिर भी, वे इन परिवर्तनों को भारत की परम्परा और सांस्कृतिक विरासत के साथ जोड़ना चाहते

थे। आधुनिक भारत के वास्तुशिल्पी, जवाहरलाल नेहरू ने आधुनिक और धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण से भारत के अतीत को आदर और गर्वानुभूति के साथ कायम रखा। नेहरू लिखते हैं, "अभी तक अतीत हमारे साथ है और हम जो कुछ हैं वह हमें अतीत से मिला है। हम इसकी रचना हैं और हम इसमें डूबे हुए हैं। जो इसे समझता और अनुभव नहीं करता है कि हमारे अंदर कुछ जीवंतता है, वह वर्तमान को नहीं समझ पाता। इसे वर्तमान के साथ जोड़कर और भविष्य की ओर बढ़ाकर वहाँ से तोड़ना जहाँ यह जुड़ा हुआ नहीं है, और यह सब विचार और कार्य को संपादित करे, वही जीवन है।"

एक अन्य परिच्छेद में नेहरू ने भारत की सांस्कृतिक विरासत पर प्रकाश डाला है : "उभरता हुआ मध्यवर्ग कुछ सांस्कृतिक जड़ों के साथ लगा रहना चाहता था जो उन्हें उनके निजी मूल्यों में विश्वास देता था, जो कुंठा और अपमान की अनुभूति को कम करता था जिसे प्राचीन भारत में विदेशी विजेता और शासन ने पैदा किया था, इसकी सांस्कृतिक विविधता और महानता सभी भारतीय लोगों की साझी विरासत थी, जिसमें हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई एवं अन्य धर्म शामिल थे और उनके पूर्वजों ने इसे बनाने में मदद की थी।" लेकिन नेहरू कभी नहीं चाहते थे कि अतीत का भूत वर्तमान पर छा जाए। वास्तव में, वे लोकतांत्रिक मनोवृत्ति और आधुनिक दृष्टिसम्पन्न व्यक्ति थे।

स्वाधीन भारत के संविधान ने संपूर्ण भारत में कानून का राज स्थापित किया। सभी नागरिक समान और एक ही शासन के अधीन हैं। जन्म आधारित विशेषाधिकार को खत्म कर दिया गया। धर्म, भाषा, क्षेत्र, जाति या समुदाय विशेषाधिकार और सुविधा पाने का आधार नहीं रह गए। समाज के कमजोर वर्गों, अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों को उनके और ऊँची जातियों एवं वर्गों के बीच की खाई को पाटने के लिये विशेष रिआयतें प्रदान की गई। आज, कोई जाति अथवा सामाजिक समूह किसी प्रकार की अयोग्यता का सामना नहीं कर रहा है। महिलाओं को सभी क्षेत्रों में पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त हैं। "फूट डालो और राज करो" की नीति, जिसे इस देश में अंग्रेजी राज द्वारा स्वीकार किया गया था, व्यवहार में अब नहीं दिखाई देती। विकास की प्रक्रियाओं और समतावादी विचारधारा ने उपनिवेशवादी शोषण को बेदखल कर दिया।

समृद्ध सांस्कृतिक विरासत, समतावादी नीतियों और कार्यक्रमों तथा कानून का शासन होने के बावजूद स्वातंत्र्योत्तर भारत में संकीर्ण वफादारी सीमित संबंध और आदिम अभिरुचियाँ बढ़ती ही गई। आज हमें भारत के अनेक हिस्सों में अलगाववादी ताकतों की गतिविधियाँ दिखाई देती हैं। भारत भूमि पर तीव्र अंतर्विरोध है। एक ओर बहुत सम्पन्न ऊँची जाति और वर्गों के लोग हैं तो दूसरी ओर बेहद गरीब निचली जाति और वर्ग के लोग। विभिन्न जातियों, धर्मों, क्षेत्रों और भाषायी समूहों के लोग सम्पूर्ण भारत में फैले हुए हैं।

धर्म, भाषा, क्षेत्र, रीतिरिवाज और परम्परा जैसी भिन्नता पर आधारित अल्पसंख्यक समूह सभी जगहों पर दिखाई दे सकते हैं। यहाँ तक कि तथा कथित बहुसंख्यक समूह – हिन्दू, अनेक सम्प्रदायों, जातियों, गोत्रों और भाषायी समूहों में विभाजित हैं। इन समूहों में अपने सदस्यों के लिये बेहतर

शिक्षा, रोजगार एवं एक विशेष जीवन स्तर की लालसा पाई जाती है। विभिन्न जातियों और समूहों से जुड़े सभी सदस्यों को समान अवसर और उपागम की प्राप्ति नहीं हो पाती, इसलिये वे अनुपाति न्याय से वंचित रह जाते हैं। जीवन में असमान अवसरों की ऐसी स्थिति जो स्वयं सामाजिक व्यवस्था की असमानता में निहित है, तनाव, आपसी अविश्वास और कुंठा को बढ़ावा देती है।

एकता की चेतना और भारतीयता की अनुभूति इस को अनेक स्थितियों के कारण गंभीर रूप से बाधित होती है। आज, आदर्श ढाँचे और सामाजिक ढाँचे की अपनी वास्तविक स्थिति के बीच समतुल्यन के अभाव के कारण भारत भयंकर समस्या का सामना कर रहा है। यहाँ तक कि सुव्यवस्थित नीतियों और कार्यक्रमों ने जिनका उद्देश्य समतावादी समाज का बोध कराना है, कुछ नई असमानताओं और असंतुलनों को पैदा किया।

भारतीय संविधान यह घोषणा करता है कि भारत एवः धर्म निरपेक्ष राज्य है जिसमें जाति, पंथ, क्षेत्र, भाषा, धर्म आदि के आधार पर विशिष्टता और भेदभाव की अनुमति नहीं है। जनता को मौलिक अधिकार दिए गए हैं जिसके अनुसार आदिम अथवा आरोपित विचार आधुनिक भारत में किसी भी स्थान पर नहीं मिलते हैं। संविधान कहता है कि "भावनात्मक एकता" सही मायने में भारत की अनेकता में एकता का परिणाम है। एक अवधारणा और सच्चाई के रूप में अखण्ड भारत ने राष्ट्र राज्य के रूप में उसी भारतीय विचार के बारे में विवाद के कारण एवं एक ही सामाजिक सांस्कृतिक विचार प्रक्रिया में व्यावहारिक चुनौतियों के आरोपण के कारण अपनी विश्वसनीयता को खो दिया है। एक अस्मिता के रूप में भारत की अवधारणा लम्बे विवाद के बावजूद अपने उसी विचार और व्यावहारिकता के साथ बनी हुई है। भारतीय संविधान में समानता, भ्रातृत्व और राष्ट्रवाद से संबंधित प्रशंसनीय प्रावधानों के बावजूद सामाजिक जीवन की खुरदरी और अन्तर्विरोधी बनावट इसकी गवाही दे रही है। ज्यॉ ड्रेजे और अमर्त्य सेन ने नये उदारीकरण और उनमुक्त बाजार के परे जनता की बेहतरी के लिये सामाजिक अवसरों के विस्तार के लिये तर्क प्रस्तुत किए हैं। राष्ट्र राज्य के रूप में भारत बना रह सकता है, अगर प्राथमिक शिक्षा, स्वास्थ्य, सामाजिक सुरक्षा, भूमि सुधार और सामाजिक परिवर्तन के प्रोत्साहन जैसे कुछ क्षेत्रों में यह काम करें। भारत में स्थानीय वंचन का तीव्र अलगाव इसके राष्ट्र राज्य के रूप में बने रहने का प्रमुख समाधान है।

भारत जैसे बहुल अथवा बहुजातीय समाज में जातीय, जाति अथवा वर्ग समूहों की अतिव्याप्ति है। सामाजिक श्रेणी एवं तादात्मीकरण के तीन आधारों के रूप में जातीयता, जाति और वर्ग के बीच अंतर करना इन समूहों के संदर्भ में महत्वपूर्ण है।

बहुसंस्कृतिकवाद और सामाजिक सम्बद्धता

भारत की सामाजिक और सांस्कृतिक विविधता इच्छित जीवन पद्धति के रूप में और मनुष्य और समाज के बीच सामाजिक अस्तित्व एवं मध्यस्थ रचनातंत्र के अनिवार्य अंग के रूप में बहुसंस्कृतिकवाद को व्यक्त करती है। बहुसंस्कृतिकवाद का प्रतिदिन के जीवन-परिवार, पड़ोस, समुदाय, गाँवों, कस्बों

और वस्तुत: संपूर्ण विश्व के रूप में देखा जा सकता है। इस प्रकार का बहुसंस्कृतिकवाद मनुष्य और समाज एवं अतीत और वर्तमान के बीच संबंध कायम करने में सामाजिक जीवन की अनिवार्य रणनीति बन जाता है। बहुसंस्कृतिक समाज में मर्यादा की रक्षा के साथ दोहरी संभावना एक वास्तविक सामाजिक संबंध का चित्रण करती है।

आज, सांस्कृतिक पृथक्करण अधिजैविक परिघटना के रूप में संस्कृति के लिहाज से और जनता एवं उसके सामाजिक जीवन के अपनत्व के हथियार के रूप में संस्कृति के उपयोग से उत्पन्न हुआ है। संस्कृति एक आर्थिक गुण के रूप में बदल रही है और यह मन की राजनीति (सामूहिक मन) के रूप में भी उपयोग की जाती है। लेकिन बहुसंस्कृतिकवाद मानव जीवन की विभिन्न प्रस्तुतियों एवं श्रेणियों के लिये सापेक्षिक दूरी को सार्थक बनाता है। स्वीकृति के तंत्र और सापेक्षिक बहुसंस्कृतिकवाद श्रेणीबद्ध विरोधी है और यह सम्मान, स्तर और सत्ता के समुचित वितरण की एक प्रविधि है। यह दूसरों को उनके मूल्यांकित सामाजिक सांस्कृतिक स्वामित्व से पदावनत नहीं करता है। इस प्रकार, राष्ट्र राज्य एक संयोगी बहुसंस्कृतिकवादी विचार है जिसके अंतर्गत मूल्य और अर्थ विभिन्न स्तरों पर अलग-अलग परिभाषित किए गए हैं और सामाजिक रूप से वितरित किए गए हैं। सामाजिक अवस्थितियों के अर्थ और मूल्यांकन में बदलाव राष्ट्र राज्य और समाज के नए दृष्टिकोण को सूचित करता है जो सौहार्द्र पैदा कर सकता है, यहाँ तक कि नए अभीष्ट अर्थों पर आधारित द्वन्द्व शब्दों के द्वारा लोगों के संसार को और नया आकार दे सकता है।

आजादी के बाद औपनिवेशिक ढाँचे और सामाजिक यथार्थ को बेदखल कर एक नया दृष्टिकोण प्रस्तावित और कार्यान्वित किया गया। जैसे भारतीय राज्य और इसकी जनता इस जोखिम में सफल रही, यह अभी पहल है। सन् 1960 में जाति, सामंतवाद, संस्कृति और धर्म से जुड़े हुए ढाँचों के प्रति प्रतिक्रियाएँ हुईं और बहुत जोरदार ढंग से हुईं, लेकिन इनमें से कुछ विशेष रूप से उत्तर आधुनिकता से मोह के कारण उद्योगवाद से विमोह की प्रशाखा के रूप में कम से कम उद्‌भावना के स्तर पर पुन: तैरती रहीं।

समकालीन प्रवृत्तियाँ और अनेकता में एकता

स्वातंत्र्योत्तर काल में भारतीय समाज में कौन सी घटनाएं हुई? सामान्य रूप से, सामाजिक परिवर्तन की कोई समान पद्धति और दिशा अस्तित्व में नहीं आई और अभी तक असमानता के नए रूपों के माध्यम से दिशा प्रदर्शित होती है। परिपूरक संरचनात्मक परिवर्तन ही घटित हुए, सामाजिक और आर्थिक स्तर पर हानि और लाभ के संबंध में आनुपातिक समतामूलक संबंध नहीं बने। यद्यपि प्राप्ति के दृढ़ीकरण और हानि के मुआवजे की प्रक्रिया में नए घटिया असंतुलित मानदंड दृष्टिगोचर होते हैं। आर्थिक सम्पदा के रूप में सामाजिक सम्पदा का स्थान्तरण और बाद में राजनीतिक सम्पदा पाने वालों में बहुत प्रत्यक्ष प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। यद्यपि अपने कल्याण के प्रति राज्य को उदासीन प्रवृत्ति के कारण खोने वाले धीरे-धीरे कुछ-कुछ खोई हुई प्रतिष्ठा को पुन: प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।

सामान्यतया अर्जित करने वाले मध्यवर्ती किसान जातियों के बीच से होते हैं जिन्होंने अपने लाभ को दृढ़ किया और उसे चुनावी संख्या और राजनीतिक ताकत में बदल दिया, लाभ पाने वालों के बीच सत्ता का संघर्ष अपरिहार्य जंग बन जाता है। 1967 में आधे से अधिक राज्यों में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की हार के बाद राजनीतिक दलों में टूट, गुटबंदी और गठजोड़ प्रभावी हो गया। केन्द्र-राज्य सम्बन्धों में कड़वाहट, जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में चलाए गए नव निर्माण आंदोलन, मंडल विरोधी आंदोलन, ओ.बी.सी. का पुनरूत्थान, नए "माँग समूह", नागरिक स्वातंत्र्य की धारणा से प्रेरित सक्रियता, एन.जी.ओ. के प्रचुरोद्भव, जनहित याचिका, न्यायिक सक्रियता, महिलाओं और कमजोर वर्गों को अधिकार सम्पन्नता और शासन पर बहस पिछले तीन दशकों के बहुत महत्वपूर्ण परिणाम हैं। इन नए मुद्दों के आलोक में जाति (विचारधारा के रूप में), सांस्कृतिक गतिशीलता, बिरादरी और अंतर्जातीय संबंधों से जुड़े परम्परागत पैमानों का सामान्य जीवन में निर्णायक उपादान नहीं रह गया है। व्यापक स्तर पर एक नया सांस्थानिक समूह सत्ता की राजनीतिक (गठजोड़, टूट और गुटबंदी) विस्थापन, शिक्षा, विद्युतीकरण, आधुनिक पेशे, एवं रोजगार, आर्थिक स्थिति, सामाजिक स्तर और भारतीय गाँव की तीन विशेषताओं के बीच गठजोड़ को संस्थापित कर रहा है। नई मनोवृत्ति जाति और समूह की संरचनात्मक और सांस्कृतिक क्षेत्र, निर्माण और जमीनी सच्चाई और परिकल्पित एवं ठोस संसार के बीच अंतर की अनिश्चितता के द्वारा बाधित नहीं होती है। इसलिये, "अनेकता में एकता" और एकता में अनेकता जैसे उक्तियां नए प्रतिमानों, पैमानों और सामाजिक परिवर्तन की दिशा के आलोक में फिर से लिखे जाने की माँग करती है।

धर्म, भाषा और अखण्डता

सांस्कृतिक पहचान सम्प्रदाय धर्म और भाषायी संबंधों और अंत:क्रियाओं से बनती है। उल्लिखित समूह के लोगों का बहिष्कार और समावेश इन संबंधों द्वारा निर्धारित होता है। विभिन्न जाति समूहों में विवाह सजातीय जाति नियम, गोत्र, की विजातीयता और पिता एवं माता पक्ष के संबंधों में परिहार के अनुसार होता है। जाति समूहों के अलावा, मुस्लिम, ईसाई, सिक्ख, पारसी, जैन और अन्य आदिवासी समूहों जैसे अन्य समुदाय भी हैं, जो अपने अपने पैमानों के अंतर्गत अपने समूहों में विवाह और सामाजिक अंत:क्रियाओं को सीमित रखते हैं। जबकि, जातीय समूह और जातियाँ अपने असली अथवा परिकल्पित हितों को टकराहट के कारण अस्मिताओं को व्यासीय रूप में विरोध करती दिखाई देती है। हितों की ऐसी टकराहट साम्प्रदायिकता में भी बदल सकती है। कुछ समूह अपनी भारी संख्या अथवा श्रेष्ठ सामाजिक उत्पत्ति से राष्ट्रीय संसाधनों का एक बड़ा हिस्सा घेर कर अनुचित लाभ प्राप्त कर सकते हैं। कम संख्या वाले अन्य समूह वंचित अनुभव कर सकते हैं जिसके विषय में अनुभव करते हैं कि वह उनकी उचित मांगें हैं। पारस्परिक अविश्वास, संबंधहीनता और दूरी की स्थिति विभिन्न समूहों के बीच पैदा हो सकती है। जातीय समूहों को "आदिम सामूहिकता" कहा जाता है। एक परिप्रेक्ष्य यह है कि सापेक्षिक वंचन सभी जातीय संघर्षों का मूल कारण है।

न्यायपूर्ण वितरण का अभाव संसाधनों की विभेदक सुगमता और सांस्कृतिक भिन्नताएँ जातीय समस्याओं के मुख्य कारणों के रूप में विचारणीय है।

कभी-कभी "बाहरी" और "भीतरी" भिन्नता के कारण जातीय द्वन्द्व होते हैं। वे (बाहरी) के विरूद्ध हम (भीतरी) की मनोवृत्ति अधिकांश समाजों में है। आप्रवासियों के साथ विदेशियों जैसा व्यवहार किया जाता है। ऐसी समस्या तब उठ खड़ी होती है जब असमी, बंगाली, गुजराती, उड़िया, हिन्दी, कश्मीरी, पंजाबी, उर्दू, मराठी और सिंधी बोलने वाले लोग राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में एक दूसरे को भिन्न समझते हैं। एक राज्य से संबंधित लोग बहुधा दूसरे राज्य के लोगों को बाहरी समझते हैं। वे अपने राज्य में उनको रोजगार देना पसंद नहीं करते। उप क्षेत्रों, शहरों, कस्बों और यहाँ तक कि गाँवों में बहुधा भीतरी और बाहरी के बीच रेखा खींच दी जाती है। भारत एक बहुजातीय समाज है जहाँ जाति, भाषा, धर्म और क्षेत्र के स्तर पर भिन्नता मौजूद है।

धर्म ने भारतीय समाज में शुरू से ही एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। विभिन्न समूहों से जुड़े हुए लोगों के संबंध में इसके अनेक रूपों और नामावलियों की परिकल्पना की गई है। इस प्रकार, भारत एक बहुधार्मिक समाज भी है। बौद्धिक आबोहवा और सामाजिक संरचना के बदलाव की तुलना में समय-समय पर विभिन्न धर्मों के रूपांतरण और परिवर्तन पाए गए हैं। भारत में धर्म कभी स्थिर नहीं रहा है। आज यह राजनीति के अखाड़े और आर्थिक जीवन में अतिक्रमण करता है।

धार्मिक आंदोलन भारत के सामाजिक सांस्कृतिक जीवन में एक चिरस्थायी विशेषता रखते हैं। पूर्व वैदिक और वैदिक धर्म, बुद्ध और महावीर द्वारा प्रशस्त रूढ़िहीन धार्मिक धारा और ईश्वरवादी धर्म जिनमें भक्ति तत्व शामिल हैं, समय-समय पर अस्तित्व में आए। वैष्णववाद, शैववाद और रूढ़िवादी ब्राह्मणवाद जैसे धार्मिक सम्प्रदाय की एकता में अनेकता के प्रतीकात्मक प्रतिनिधि बने रहे। धर्म की इन प्रशाखाओं के अलावा भारत के अलग-अलग हिस्सों में विभिन्न लोगों द्वारा अनेक लौकिक सम्प्रदाय और धार्मिक पद्धतियों का विकास हुआ था।

1931 की जनगणना के अनुसार भारत में दस धार्मिक समूह मौजूद थे। ये थे- हिन्दू, जैन, बौद्ध, जोरास्टर, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, यहूदी और अन्य जन जातीय एवं गैर जनजातीय धार्मिक समूह। 1961 की जनगणना में केवल सात धार्मिक वर्गों का उल्लेख है-हिन्दू, जैन, बुद्ध, मुस्लिम, ईसाई, सिक्ख और अन्य धर्म एवं सम्प्रदाय। भारत में धर्म वास्तव में एक जटिल तथ्य है। उदाहरण के लिये सांस्कृतिक और जनजातीय धर्म के तत्व विभिन्न स्तरों पर मिलेजुले रूप में पाए जाते हैं। इस तरह यह महान् और "लघु" परम्पराओं के बीच एक अंतःक्रिया है। सांस्कृतिक हिन्दू धर्म और जनजातीय धर्म के बीच भी एकता पाई जाती है। उदाहरण के लिये संथाल अनेक उच्च जातियों के त्यौहार मनाते हैं। निम्न और अस्पृश्य जातियों में भी ऐसे मामले मिलते हैं। कुछ जनजातियाँ शिव की पूजा करती हैं।

ईसाइयत और इस्लाम में रूपांतरण विगत दो दशकों से अधिक समय से विवाद का मुद्दा बना हुआ है। यह कहा जाता है कि विशेष रूप से 1920 के दशक में और आजादी के बाद भी भारत के

विभिन्न हिस्सों में दलित एवं जनजातीय वर्गों के लोगों ने ईसाइयत, इस्लाम एवं सिक्ख धर्म स्वीकार कर लिया। जनजातियों ने अच्छी-खासी संख्या में बिहार, बंगाल, असम और अन्य क्षेत्रों में हिन्दू रीति रिवाजों एवं धार्मिक पद्धतियों को स्वीकार किया। उत्तर प्रदेश और महाराष्ट्र में हजारों हरिजनों ने बौद्ध धर्म को स्वीकार किया। बहला-फुसला कर अथवा जबर्दस्ती धर्म परिवर्तन निश्चित रूप से भारतीय संविधान और भूमि कानून के खिलाफ है। धर्म परिवर्तन के लिए अनेक कारक उत्तरदायी हो सकते हैं, लेकिन यह तो तय है कि बहुत से लोग धार्मिक रूढ़ियों से स्वयं को मुक्त करने के लिये धर्म परिवर्तन करते हैं।

रिपोर्टों में ऐसा कहा गया है कि बहुसंख्यक धार्मिक समुदायों की अपेक्षा अल्पसंख्यक धार्मिक समूहों में साक्षरता का प्रतिशत अधिक दिखाई देता है। पारसी, जैन, यहूदी और ईसाई ऐसा ही उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। ईसाई समुदायों को छोड़कर ये समुदाय भी हिन्दू और मुसलमानों की अपेक्षा पहले से ही व्यापार और वाणिज्य में लगे हुए हैं। हिन्दू और मुसलमानों के पास तरह-तरह की पेशागत बानगियाँ मिलती हैं क्योंकि वे संख्या में अधिक हैं और वे पूरे देश में फैले हुए हैं। अल्पसंख्यक समूह विशेष क्षेत्रों, उपक्षेत्रों और शहरों में पाए जाते हैं और इसलिये, वे अपने को लाभकारी स्थिति में पाते हैं। सीरियन ईसाई, मोपला, पारसी और कुछ अन्य समूह केरल और महाराष्ट्र में अपनी सुनियोजित स्थिति के कारण भी लाभान्वित होते हैं।

बहुधार्मिक गाँव भारत में बहुजातीय गाँवों के रूप में एक परिघटना के रूप में बहुत स्पष्ट नहीं दिखाई देते। जबकि, उत्तर प्रदेश में हिन्दू काश्तकार और मुस्लिम जमींदार और इसके विपरीत भी देखे जा सकते हैं। कर्नाटक में कुछ बड़े हिन्दू भूस्वामियों के यहाँ मुस्लिम काश्तकार और नौकर हैं, जबकि मुस्लिम भूस्वामियों के यहाँ हिन्दू नौकर थे। मुसलमान विभिन्न आर्थिक कार्यकलापों में संलग्न थे क्योंकि उनके पास अधिक जमीन नहीं थी। हिन्दुओं के पास आम के बागान होते थे लेकिन मुसलमान आम का व्यापार करते थे। हिन्दू और मुसलमान त्यौहारों और शादी ब्याह के अलावा विभिन्न अवसरों पर एक दूसरे से मिलते थे। जब एक विशेष धार्मिक समुदाय किसी आर्थिक क्षेत्र में निपुणता हासिल कर लेता था तो इसके ग्राहक अन्य भिन्न-भिन्न धर्मों से जुड़े हुए होते थे।

शहरों में, हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे को उनके त्यौहार के अवसर पर बधाइयाँ देते हैं। दंगों और संकट की स्थिति में, वे एक दूसरे के बचाव में आ खड़े होते हैं। नवम्बर 1984 के दिल्ली और अन्य स्थानों पर हुए दंगों में हिन्दुओं ने बड़ी संख्या में सिक्खों को आश्रय और सुरक्षा प्रदान की थी। सिक्ख और हिन्दू सदियों से पंजाब में भाईचारे के साथ रहते आए हैं सिर्फ उस स्थिति को छोड़कर जो इंदिरा गांधी की हत्या और भारत सरकार द्वारा आपरेशन ब्लू स्टार से पैदा हुई थी, जिसमें आतंकवादी सिक्खों को स्वर्ण मंदिर से भगाया गया था।

विभिन्न धार्मिक समुदायों और विशेष आर्थिक प्रकार्यों में सामंजस्य, जिसे वे सम्पादित करते हैं, बहुधा देखा गया है। उदाहरण के लिये पारसी शराब के व्यापार में, मोपला केरल, मैसूर,

चेन्नई, मुम्बई में व्यापारी हैं। जैन व्यापारी मुम्बई, गुजरात, राजस्थान, कर्नाटक और बंगाल में पाए जाते हैं। इस तरह का सामंजस्य ग्राम स्तर पर भी पाया जाता है। गुजराती बनिया, तेलगू कोमती, तमिल चेतियार और राजस्थानी बनिया के रूप में हिन्दुओं ने आर्थिक गतिविधियों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। जबकि, अनेक दूसरी जातियों ने भी वाणिज्य और व्यापार में प्रवेश कर लिया है। जातिगत बाधाएं कमजोर और स्थानिक गतिशीलता बहुत बढ़ी है। समूचे देश में विभिन्न समुदायों के फैलाव और उनकी आर्थिक गतिविधियों में विविधता से सामाजिक एकता की प्रक्रिया मजबूत हुई है।

हिन्दुत्व स्थिर धर्म नहीं है। वैज्ञानिक ज्ञान, तकनीकी विकास, संचार के विकसित माध्यमों और धर्मनिरपेक्षता की प्रक्रिया के प्रसार के कारण धीरे-धीरे इसमें बदलाव आया है। हिन्दुत्व एक जटिल स्थिति है। परा-भारतीय स्तर पर शिक्षा, जन संचार, प्रेस और विस्थापन ने धर्मनिरपेक्ष मूल्यों को बढ़ावा दिया है। जबकि, स्थानीय स्तर पर धार्मिक पद्धतियाँ बहुत हद तक अप्रभावित रह गई हैं।

भारत को नियत विकसित अथवा प्राथमिक सभ्यता के रूप में चित्रित किया गया है। क्योंकि देश के भीतर शासकों के बीच लड़ाइयाँ और विदेशी आक्रमणों के बावजूद इसकी निरंतरता और अबाधित इतिहास है। भारतीय सभ्यता की शक्ति का प्रमुख स्रोत इसकी परम्परा के विभिन्न अंशों में पारस्परिक क्रिया है। परम्पराओं को जो लिपिबद्ध हैं, हिन्दू अथवा इस्लामी साहित्य, धार्मिक ग्रंथों और लिपियों में स्थान मिला है। इन्हें "वृहद परम्पराएं" कहा जाता है। वे परम्पराएं, जो अलिखित और मौखिक रूप से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में संचारित की गई हैं, "लघु परम्पराएं" कहलाती हैं। परम्परा के दोनों प्रकार एक दूसरे से निरंतर पारस्परिक क्रिया करते हैं। वृहद परम्परा के तत्व जब लोगों को प्रभावित करते हैं तो इसे "सार्वभौमीकरण" की प्रक्रिया कहते हैं। वास्तव में परम्परा को वृहद अथवा लघु कहना जनता को "वृहद" अथवा लघु की पदवी देता है क्योंकि यहीं लोग हैं जो साक्षर और निरक्षर हैं। परम्पराएँ व्यवहार और अन्तर्वैयक्तिक संबंधों के प्रतिमानों का संकेत करती हैं। वे स्वभाव में प्रतीकात्मक होती हैं लेकिन उनकी श्रेणीबद्धता मानव प्राणी को श्रेणीबद्धता का संकेत करती है। निरक्षर लोगों को लघु और साक्षर लोगों को वृहद कहना, यहाँ तक कि संकेत द्वारा मूल्य निर्धारण करना है। इस प्रकार, धर्म एक बहुत जटिल स्थिति है। उन पैमाने के स्पष्टीकरण द्वारा इसे आसान बनाना जरूरी है जो आस्थावान लोगों को बिना किसी भेदभाव के एक ही तंरग दिए रखता है, जो निस्संदेह जाति, क्षेत्र, सांस्कृतिक विरासत, आर्थिक स्थिति, शैक्षिक स्तर आदि पर आधारित होता है।

यद्यपि धर्म एक जोड़ने वाला तंत्र है, इसका उपयोग संकीर्ण सामाजिक और राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये किया जाता है। बहुत से संगठन और समूह विशेष धार्मिक समूह से संबंद्ध लोगों से समर्थन अथवा पक्ष पाने के लिये धार्मिक नियम और चेतना को उत्पन्न करने की दृष्टि से धर्म के नाम पर बनाए जाते हैं। हिन्दू महासभा और मुस्लिम लीग इस पद्धति के स्पष्ट उदाहरण हैं। यहाँ तक कि शैक्षिक संस्थाएँ हिन्दू, जैन, मुस्लिम,

ईसाई और सिक्खों के नाम पर बनी हैं। धार्मिक समूहों की तरह कुछ जातियाँ भी राजनीति में अपने सदस्यों को प्रेरित करती हैं।

भाषा संस्कृति का एक पहलू और सीखने का एक औजार है। यह अच्छी जीवन पद्धति और इसकी निरंतरता एवं परिवर्तन को सुनिश्चित करती है। ज्ञान का क्षेत्र निर्मित करना बिना भाषा के संभव नहीं है। भाषा विभिन्न सामाजिक स्तरों के साथ अपने विशिष्ट संगठनों के संबंध में एक सामाजिक प्रघटना भी है। कुछ लोग प्रदत्त भाषा के लिखित और मौखिक दोनों पक्षों पर अधिकार रखते हैं, जबकि दूसरे साधारण आदमी के केवल मौखिक पक्ष तक पहुँच है। सांस्कृतिक भाषा अथवा कोई दूसरी भाषा कुछ लोगों के लिये स्रोत बन सकती है, जबकि उनके ज्ञान की कमी सामाजिक और सांस्कृतिक गतिशीलता में रूकावट सिद्ध हो सकती है। भाषायी समूह अथवा सामूहिकता एक समय सशक्त आदिम पहचान बनती है और कुछ ऐसे अन्य समूहों के विरोध में जातीय अथवा साम्प्रदायिक रूप में बदल सकती है।

भाषा जीवंत शक्ति है, यह स्थिर प्रघटना नहीं है। यह सामाजिक निर्माण में बदलाव, शासक वंश और विशिष्ट ऐतिहासिक स्थितियों की माँग की प्रतिक्रिया में परिवर्तित होती है। प्राचीन भारत में पाली और प्राकृत मुख्य भाषाएं थीं। संस्कृत को समूचे भारत में हिन्दू संस्कृति के वाहक का दर्जा मिला हुआ था। उसके बाद असमी, बंगाली, गुजराती, हिन्दी, कश्मीरी, मराठी, उड़िया, पंजाबी, सिंधी और उर्दू आदि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएं आईं। द्रविड़, परिवार (मराठी को छोड़कर) की भाषाएं प्रायद्वीपीय भारत में पाई जाती हैं। इनमें तमिल, तेलगू, मलयालम और कन्नड़ शामिल हैं। दोनों समूहों की ये प्रत्येक भाषाएं अपने में कुछ बोलियों को समाहित किए हुए हैं जो विभिन्न भाषाई क्षेत्रों में रहने वाले लोगों द्वारा बोली जाती हैं।

भारतीय आर्य भाषाएं साहित्यिक भाषाओं में तेजी से विकसित हुईं। इन भाषाओं की उत्पत्ति से सांस्कृतिक परिवर्तन हुए जिससे ऊँची जातियों में संस्कृत भाषा के प्रभुत्व और श्रेष्ठता में कमी आई जिसके तुरंत बाद लोकप्रिय मुहावरों और जनसामान्य की भाषा के प्रयोग से धार्मिक और सामाजिक सुधारों की धारा चल पड़ी। हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति के आमने सामने होने से विशेष रूप से उत्तर भारत में रोचक परिणाम और मिश्रित संस्कृति आई।

ग्रियर्सन के अनुसार, भारत में 179 भाषाएं और 544 बोलियां हैं। जबकि, इस अनुमान को प्रामाणिक रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता जब तक बोली को भाषा के अन्दर शामिल नहीं किया जाता। भारतीय संविधान ने अपनी आठवीं अनुसूची में पन्द्रह भाषाओं को मान्यता दी है। ये हैं–असमी, बंगाली, गुजराती, हिन्दी, कन्नड़, कश्मीरी, मलयालम, मराठी, उड़िया, पंजाबी, संस्कृत, सिंधी, तमिल, तेलगू और उर्दू। हिन्दी को अंग्रेजी के साथ भारत की कामकाजी भाषा का दर्जा दिया गया है। वे लोग, जो राजस्थानी, मैथिली, मणीपुरी और नेपाली बोलते हैं, चाहते हैं कि उनकी भाषा को आठवीं अनुसूची में शामिल किया जाए। संथाली, मुंडारी ही बहुत अधिक संख्या में लोगों द्वारा बोली जाती है। अखण्ड भारत में 73 प्रतिशत से ऊपर लोग भारतीय आर्य भाषाएं, 20 प्रतिशत लोग द्रविड़ भाषाएं, 1.3 प्रतिशत लोग आस्ट्रिक भाषाएं और केवल 0.85 प्रतिशत लोग चीनी तिब्बती भाषा बोलते थे। तीन मुख्य भाषा

परिवार में अंत:क्रिया ने भारतीय समाज के सांस्कृतिक एकीकरण में योगदान दिया है।

भारत की वर्तमान संरचना भारत के भाषायी पैमाने का व्यापक रूप से प्रतिनिधित्व करती है। राज्य पुनर्संगठन आयोग ने (एस.आर सी.) भाषायी समानता और निरंतरता के आधार पर राज्यों का गठन किया। जबकि, बिहार, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश और पंजाब जैसे छ: हिन्दी भाषी राज्यों में असंगतियाँ हैं। इन राज्यों में बोली जाने वाली भाषाएं हिन्दी की विशालता में शामिल हो गई हैं। बाकी राज्यों, उदाहरण के लिये, असम, बंगाल, उड़ीसा, आंध्र प्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक, तमिलनाडु और केरल में क्रमश: असमी, बंगाली, उड़िया, तेलगू, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल और मलयालम बोलने वालों की संख्या अधिक है।

उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश और राजस्थान निश्चय ही बड़े राज्य हैं। इन राज्यों की जनता द्वारा समय-समय पर छोटे राज्यों की मांग उठती रही है। छोटा नागपुर, बिहार के संथाल परगना और उससे सटे बंगाल, उड़ीसा और मध्य प्रदेश के क्षेत्रों के आदिवासी अपनी पृथक भाषा, संस्कृति, प्रशासनिक व्यवहार्यता और भौगोलिक सामीप्य के आधार पर अलग झारखण्ड राज्य बनाने की मांग करते रहे हैं। टिक्कुसों द्वारा अपने शोषण के कारण भी वे झारखण्ड राज्य बनाने की मांग करते हैं (गैर आदिवासी जैसे जमींदार, साहूकार और अन्य अधिवासी)। इन्हीं माँगों के कारण झारखंड एक अलग राज्य की स्थिति प्राप्त कर चुका है। ठीक वैसी ही मांग उत्तर प्रदेश में उत्तरांचल और मध्य प्रदेश में छत्तीसगढ़ राज्य के निर्माण को लेकर उठाई जाती रही हैं। उसी तरह आज उत्तरांचल और छत्तीसगढ़ अलग राज्य की स्थिति में है।

ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान भाषा समस्या का मौलिक कारण भारत में ब्रिटिश द्वारा अंग्रेजी को थोपना है। अंग्रेजी में शिक्षा प्रदान करने की यह नीति अंग्रेजी राज के लिये लाभकारी सिद्ध हुई लेकिन भारतीय जनता के लिये नहीं। विश्वविद्यालय और कालेज अधीनस्थ पदों के वैयक्तिक प्रशिक्षण के उद्देश्य को पूरा करने के लिये स्थापित किए गए। राष्ट्रवादी नेताओं ने इस नीति को ब्रिटिश द्वारा बाबू वर्ग पैदा करने की एक मुक्ति के रूप में देखा। नेहरू लिखते हैं, "ब्रिटिश ने भारत में एक नई जाति अथवा वर्ग पैदा किया है, अंग्रेजी शिक्षित वर्ग, जो अपनी निजी दुनिया में रहता है, जनसाधारण से कटे हुए और यहाँ तक कि विरोध के समय भी अपने शासकों को हमेशा देखते रहे।" इस प्रकार देशी अभिजात उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में मैकाले की अंग्रेजी शिक्षा नीति के फलस्वरूप बाबू वर्ग में तब्दील हो गया ।

भारत हमेशा से विशेष अभिजात भाषाओं के साथ बहुभाषी सभ्यता वाला देश रहा है और स्थानीय, क्षेत्रीय और अखिल भारतीय भाषाओं में निरंतर अंत:क्रिया होती रही है। विभिन्न अन्त:क्रियात्मक स्तरों पर एकता और सम्मिश्रण भारतीय उपमहाद्वीप की विशेष पहचान है। व्यापक विविधताओं के बीच एकल भाषा का सिद्धांत, जो राष्ट्रीय अस्मिता, सौहार्द्र और एकता के लिये आवश्यक है, को प्राय: चुनौती मिली है। लगभग 90 प्रतिशत लोग पन्द्रह राष्ट्रीय भाषाओं को अपनी मातृभाषा के रूप में दावा करते हैं। जबकि,

कामकाजी (राष्ट्रीय) भाषाएं भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची के अनुसार हिन्दी और अंग्रेजी हैं। वास्तविकता यह है कि राष्ट्रीय भाषाएं व्याप्ति में क्षेत्रीय हैं। यहां तक कि आज अंग्रेजी को लाभप्रद और प्रतिष्ठित नौकरियाँ पाने के लिये अनिवार्य प्रमाण पत्र समझा जाता है। इस प्रकार अंग्रेजी, ने अभिजात और जनसाधारण के बीच खाई पैदा कर दी है। क्षेत्रीय और स्थानीय नेताओं ने समय-समय पर हिन्दी अथवा कुछ अन्य "राष्ट्रीय" (क्षेत्रीय) भाषाओं द्वारा अंग्रेजी को बेदखल करने की दृष्टि से "भाषायी स्वायत्ता" की मांग उठाई है। ऐसी मांग केवल हिन्दी के प्रयोग की माँग को रोकने के लिये खोजी गई और हिन्दी/अंग्रेजी के स्थान पर राष्ट्रीय/क्षेत्रीय भाषाओं के प्रयोग को प्रोत्साहित करने के लिये भी की गई। त्रिभाषी सूत्र की खोज राष्ट्रीय एकता के लिये की गई थी जिसमें हिन्दी, अंग्रेजी और एक क्षेत्रीय भाषा सीखना शामिल किया गया।

समूचे देश के लिये कामकाजी भाषा के रूप में हिन्दी की वकालत से आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु, केरल, कर्नाटक, बंगाल और असम जैसे गैर हिन्दी भाषी क्षेत्रों में तीखा विरोध पैदा हुआ। दूसरी ओर, देशी भाषाओं ने अपने संरक्षण और समृद्धि के लिये अपेक्षित ध्यान खींचा। एक दृष्टिकोण यह है कि देशी भाषाओं का बढ़ता हुआ प्रयोग भावनात्मक एकता और राष्ट्रीय दृढ़ीकरण पैदा कर सकता है क्योंकि यह लघु उच्च वर्ग पर सीधा प्रहार करेगा जो प्रशासन, नियम-प्रवर्तन पेशों, व्यवसाय और उद्योग में अंग्रेजी के प्रयोग के बल पर संस्थापित हैं, जो संचार का प्रमुख साधन है।

जाति क्षेत्र और भाषा

जाति संरचना व्यापक रूप से क्षेत्रीय होती है और भाषा की सीमा के साथ-साथ चलती है। उदाहरण के लिये, आंध्र प्रदेश में उपजातियां निश्चित संख्या में पाई जाती हैं। वे आंध्र-प्रदेश से बाहर की समान जाति से अन्तर्विवाह नहीं करती हैं। उनके द्वारा बोली जाने वाली भाषाएं भी भिन्न हैं। इस प्रकार, जाति, क्षेत्र और भाषा का साथ-साथ अस्तित्व रहता है और उनमें निश्चित मात्रा में एकरूपता पाई जाती है। जबकि, भारत में एक लिपि के अभाव से भी भाषायी विक्षोभ को समय-समय पर बल मिला।

हम इस कथन से समाहार कर सकते हैं कि जातीयता और क्षेत्र के रूप में भाषा सामूहिकता का आदिम आधार है और इसलिये यह सामाजिक पदवी, आर्थिक विकास, शिक्षा और राजनीति जैसे सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उसी तरह की भूमिका निभाती है। सांस्कृतिक प्रघटना होने के कारण भाषा अनेक अवसरों पर बहुत संवेदनशील मुद्दा बन जाती है। भाषा संबंधी विवादों और दंगों से कई बार राष्ट्रीय एकता और अखण्डता को खतरा पैदा हो जाता है। त्रिभाषा सूत्र का प्रयोग ऐसी समस्याओं को कम करने की युक्ति के रूप में और राष्ट्रीय एकता और अखण्डता की शक्तियों को मजबूत करने के लिये हुआ था। भाषा संचार का माध्यम और ज्ञान का संवर्धन है जो कुछ हाथों में सत्ता का माध्यम होने का कारण बनती है।

उपसंहार

भारत को एक ऐसे समाज के रूप में चित्रित किया जा सकता है जिसमें अनेकता में एकता और एकता में अनेकता पाई जाती है। क्योंकि ये लेखन और व्यवहार दोनों में बहुलतावादी समाज है। असंख्य विसंगतियों के बावजूद भारत ने प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक काल में अपनी एकता बनाए रखी। हम इसके सभी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पहलू में एकता देखते हैं। भारत आज एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है। यहां विभिन्न क्षेत्रों, भिन्न-भिन्न भाषा-भाषियों और अलग-अलग धर्मों एवं आस्थाओं में विश्वास करने वाले सभी लोगों के लिये एक ही संविधान और समान नियम कानून हैं। आज हिन्दू, जैन, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई और अन्य आस्थाओं वाले लोग प्रशासन, राजनीति और सार्वजनिक जीवन में साथ-साथ हाथ बंटाते हैं। जातीय, भाषायी और धार्मिक विविधता सामूहिक राष्ट्रीय उद्देश्यों की प्राप्ति में बाधक नहीं होती। भारत की सांस्कृतिक विरासत विभिन्न संस्कृतियों के संश्लेषण का जीवंत उदाहरण है।

भारतीय संविधान के अलावा, पंच वर्षीय योजनाएं, समाजवादी मूल्यों का फैलाव, केन्द्रीय सरकार और नागरिक एवं अपराध कानूनों की सामूहिक संस्था भारत की एकता और बहुलतावादी चरित्र को मजबूत करते हैं। जाति, प्रजाति एवं मत पर आधारित भेदभाव विशेषाधिकारों और सुविधाओं का बहुत समय तक आधार नहीं होते हैं। समाज के कमजोर वर्गों, जिसमें अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और अन्य पिछड़ी जातियां शामिल हैं, को विशेष सुविधाएं और अवसर प्रदान किए गए हैं जिसमें वे अपने पददलित स्तर और स्थिति को ऊपर उठा सकें। स्त्रियों को भी सभी क्षेत्रों में पुरुषों के बराबर अधिकार मिले हुए हैं।

संदर्भ ग्रन्थ

- खिलानी, सुनील, पेन्गिवन बुक्स, नई दिल्ली, 1997
- चटर्जी, पार्थ, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1998
- नेहरू, जवाहरलाल, 'द डिस्कवरी ऑफ इंडिया' (फोर्थ एडीशन) मेरीडियन बुक्स लिमिटेड, लंदन, 1956
- बोस, एन.के. कल्चर एण्ड सोसायटी इन इंडिया, एशिया पब्लिशिंग हाउस, मुंबई, 1967
- सेन, अमर्त्य, 'इन इक्वलिटी दी इक्जामिन्ड', ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1992
- सेन, अमर्त्य और ड्रीजे, ज्यॉ, इंडिया : 'इकॉनोमिक डेवलेपमेंट एण्ड सोशल अपॉर्चुनिटी', ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1996
- सिंह, योगेन्द्र, 'मॉडनाइजेशन ऑफ इंडियन ट्रेडीशन', थामसन प्रेस न्यू डेल्टी, नई दिल्ली, 1973
- शर्मा, के.एल. 'इंडियन सोसायटी' (टेंथ रीप्रिंट एडीशन), एन.सी.ई.आर.टी., नई दिल्ली, 1998
- श्रीनिवास, एम.एन., 'सोशल स्ट्रक्चर, इन द गजेटियर ऑफ इंडिया : कंट्री एण्ड पीपुल वाल्यूम। द गवर्नमेंट ऑफ इंडिया पब्लिकेशन, 1973,

भारत में जाति एवं वर्ग

5

प्रस्तुत निबंध में उन बहुत सी कठिनाइयों को हल करने का प्रयास किया गया है, जो जाति के विश्लेषण में उभरकर आती हैं। वास्तव में इससे संबंद्ध साहित्य से इसे सही रूप में बहुत अधिक भिन्न करना कठिन है, हालांकि विभिन्न परिप्रेक्ष्यों के आधार पर इस पहलू का विश्लेषण किया गया है। इस विषय में अनुमानात्मक सिद्धांतों की भी कमी नहीं है, विशेष रूप से औपनिवेशिक मानवजाति वेत्ताओं के कार्यों में, जिन्हें हम आज भी प्रामाणिक सबूत की तरह प्रयुक्त करते हैं।

वर्तमान में पाए जाने वाली गतिशील अवस्थाओं की उपेक्षा करके बहुत से विश्लेषकों ने भारतीय समाज को "जाति समाज" की तरह प्रचारित किया है। इन्होंने जाति को व्यक्तिवादिता एवं विशेष रूप से पाश्चात्य वर्ग व्यवस्था के विपरीत महसूस किया है।

जाति प्रारूप की व्याख्या

ऐन्द्रे बितई ने भारतीय व्यवस्था में जाति प्रतिमान के महत्व एवं योजना का विश्लेषण करते हुए इसके मौलिक लक्षणों को प्रतिपादित किया है। जाति प्रतिमान के लक्षण हैं :

1. यह अवलोकित व्यवहारों पर नहीं बल्कि उन विचारों पर आधारित है जो कि कुछ भाग के लोगों द्वारा व्यक्त किए गए, हालांकि उसमें द्वितीयक अनुभाविक सामग्री को भी प्रयुक्त किया गया।
2. भारत में जाति एक प्रकार की प्राथमिक एवं सार्वभौमिक सार्थकता के साथ जुड़ी हुई है जैसी कि शास्त्रीय पुस्तकों में कल्पना की गई है।
3. इस पूरी व्यवस्था को कमोवेश स्पष्टत: सूत्रबद्ध "जीवन या जीवन के नियम" से नियंत्रित रूप में देखा जाता है।
4. विभिन्न जातियाँ जो कि व्यवस्था की मूलभूत इकाइयाँ हैं, जिन्हें हम अनुपूरक प्रकार्यों की पूर्ति करने वाला समझते हैं, और उनके आपसी संबंधों का अस्तित्व गैर-विरोधात्मक होता है।

ऐन्द्रे बितई इस प्रारूप के दो खतरों की तरफ इशारा करते हैं। पहला कि यह सिद्धांत इतना अधिक सामान्य या आम है कि इसे किसी भी समाज पर लागू किया जा सकता है, और दूसरा यह आर्थिक एवं राजनैतिक जीवन से सम्बद्ध पहलुओं को स्पष्ट करने में असफल रहता है। बितई ने

देखा कि प्राथमिक रूप से यह लुइ ड्यूमों के कार्यों से सम्बद्ध है, उन्होंने इसे हिन्दुत्व के विश्वासों को समझने में महत्वपूर्ण माना। उनके विचारों में "हितों का अध्ययन राजनीतिक एवं आर्थिक समस्याओं को समझने में समान रूप से महत्वपूर्ण है, और उनका तंजौर के अध्ययन में किया गया जाति का विश्लेषण इसका अच्छा उदाहरण है।

योगेन्द्र सिंह के कार्यों में जाति में आए परिवर्तनों को समझने का प्रयत्न किया गया है, जहाँ पर कि वर्ग के कारकों को जाति की श्रेणियों के ढांचे में, एक नई पहचान के साथ संचालित किया गया है। इस तरह की घटनाओं में, जातियों का उल्लंघन भी हो जाता है, यह उन विरोधाभासों को इंगित करते हैं, जो पहले नजर नहीं आते थे।

एम.एन. श्रीनिवास की संस्कृतिकरण की अवधारणा जाति में परिवर्तन की सशक्त प्रक्रिया को दर्शाती है। संस्कृतिकरण को उस विशिष्ट संदर्भ में देखा जाना चाहिये जिसमें यह घटित होता है और दूसरा इसे सम्पूर्ण रूप में जाति व्यवस्था में परिवर्तन की ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में देखा जाना चाहिये।

सांस्कृतिक परिवर्तन की दूसरी प्रक्रिया का वर्णन श्रीनिवास ने किया है। इसे वे "पाश्चात्यीकरण" कहते हैं। यह लोगों के मूल्यों, मानदण्डों और उनकी सांस्कृतिक मौलिकता में पूरी तरह परिवर्तन लाते हैं। योगेन्द्र सिंह इसका आशय विशेष रूप से जाति से और सामान्य रूप से भारतीय समाज के "संरचनात्मक परिवर्तन" से लेते हैं और सार रूप में इसे पदानुक्रम के विरूद्ध विद्रोह या आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में देखते हैं।

ये संरचनात्मक परिवर्तन भूमि सुधार, शिक्षा का प्रसार, सामाजिक विधान, प्रजातंत्रीकरण, औद्योगीकरण एवं नगरीकरण के रूप में परिलक्षित होते हैं। जाति व्यवस्था पर इनके प्रभाव यह हैं कि ये बहुधा अनुकूली तकनीक के रूप में परिलक्षित होते हैं। जैसे जातीय संघ एवं सामाजिक गतिशीलता। ये संघ अपने सदस्यों की भौतिक एवं सांसारिक लक्ष्यों की पूर्ति के लिये प्रयास करते हैं और उन्हें अपनी वंचनाओं एवं संरचनात्मक रूकावटों के लिये और जागरूक करते हैं। ये संघ कभी-कभी गैर-जातीय प्रकार्यों से भी सम्बद्ध होते हैं, परन्तु वे वर्ग नहीं होते हैं। क्योंकि ये बहुत से वर्गों की स्थितियों से आते हैं। अन्त: जातीय विरोधाभासों को वहाँ ऊपर नहीं आने दिया जाता और यह साझी वंचना वर्ग चेतना की भावना भी उत्पन्न कर सकती है।

जाति व्यवस्था को आर्थिक संबंधों की व्यवस्था के रूप में भी समझा जा सकता है। इस विषय में जोन मेन्चर लिखते हैं कि जाति व्यवस्था नीचे तबके के लोगों के लिये शोषण एवं दमन के एक व्यवस्थित उपकरण की तरह काम करती है। इस व्यवस्था का एक कार्य यह भी है कि यह इनके सामूहिक हितों या उद्देश्यों में समानता वाले वर्गों को बनने से रोकती है। मेन्चर ने "वर्ग" का प्रयोग मार्क्स के अर्थों में किया है और जातीय संबंधों को समझाने के लिये मार्क्सवादी प्रारूप को अपनाया है। इस तरह जाति शोषण की व्यवस्था है। जबकि उसें अन्योन्याश्रिता और पारस्परिकता की व्यवस्था होना चाहिए। जाति संस्तरण सर्वहारा चेतना एवं "वर्ग संघर्ष" विकास का निवारण करता है। यह इसलिये हो रहा है क्योंकि जाति अपनी वैधता अत्यधिक सामाजिक आर्थिक विभिन्नता रूपी आंशिक मुखौटे से उत्पन्न करती है।

यहाँ एक संगीन मुद्दा यह है कि "वर्गों" को हम संस्तरण की एक व्यवस्था के रूप में भारतीय समाज में उस तरह से संस्थापित नहीं पाते जैसे कि जाति को पाते हैं। आगे हम यह भी देखते हैं कि अधिकतर जाति में होने वाली समस्याएँ अभी वर्ग की प्रकृति की हैं और ये आर्थिक प्रभुत्व और आधीनता, विशेषाधिकार और अधिकारों से वंचित, अत्याधिकता एवं न्यूनता के संबंधों से संबंद्ध होते हैं। मूलभूत रूप में यह समस्याएं विशेषाधिकार वालों और बिना अधिकार वालों के बीच की है और इन्हें स्पष्ट समूहों में हम ठोस रूप से मार्क्सवादियों की तरह नहीं देख सकते, क्योंकि यहाँ वर्ग विरोधाभास, वर्ग चेतना एवं वर्ग एकता की स्थिति से बहुत भिन्न है क्योंकि इसमें वर्ग की प्रकृति की समस्याएं होती हैं लेकिन समाज विभाजन के रूप में हम वर्गों को सामाजिक-आर्थिक इकाई के रूप में नहीं पाते हैं।

ऐन्द्रे बितई कहते हैं कि अधिकार सत्ता एक संप्रभु जाति से दूसरी संप्रभु जाति में स्थानान्तरित होती है, और ये स्वयं जाति संरचना में स्थानान्तरित होती है और दूसरी भिन्न संरचनाओं जैसे पंचायत एवं राजनीतिक दलों में स्थानान्तरित होती है। इस परिवर्तन के परिणामों पर बितई कोई विचार प्रकट नहीं करते हैं। क्या हम जाति संरचना में परिवर्तन के परिणामों का अध्ययन समानता और असमानता की जांच किए बगैर कर सकते हैं? जब तक कि हम एक असमतावादी व्यवस्था के अन्तर्निहित प्रारूप के लचीलेपन का विश्लेषण ना कर लें तब तक यह बहुत मुश्किल होगा कि औपचारिक संस्थाओं का उदय जैसे किसी जाति संरचना का जाति विहीन संस्था में परिवर्तन कैसे होता है। अपने समग्र रूप में भी एक जाति संप्रभु या प्रभावी नहीं होती और "प्रभावी समूह" में बहुत सी जातियों का समावेश होता है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि धीरे-धीरे असमानता की महत्ता कम हो जाती है।

जाति एवं वर्ग के अन्तर्संबंध

मेरा ऐसा मानना है कि परिवर्तन एक तरह की संरचना है और असमानता दूसरी तरह की। शुरू में भी हम जाति को परिभाषित करते हुए दूसरी जाति से उसके कार्यों के विभेद को देखते थे और साथ ही अपनी ही जाति में भी विभेदों को देखते थे। इस तरह हम कह सकते हैं कि भिन्नताएं आवश्यक रूप से जातिगत असमानताओं से सम्बद्ध नहीं है। कार्यों की भिन्नता कुछ नई असमानताएं ला सकती हैं, जो कि पहले से ही विद्यमान असमानताओं को और भी मजबूत कर सकती है, और इस स्थिति में ये विभिन्नताएं सबसे निम्न जाति के लिये दुधारी तलवार की तरह हो जाती हैं और साथ ही किसी दूसरी व्यवस्था में भी यह वैसे ही हो जाती हैं। हमारे पास एक तरफ "सर्वहारा जमींदार" या भूस्वामी हैं दूसरी तरफ कुछ नए अमीर, नए-प्रभावशाली समूह और नए जमींदार हैं। इसके फलस्वरूप ग्रामीण समुदायों में एक नई सरंचना का उदय देखने को मिलता है।

जाति पर होने वाले अध्ययन परम्परागत क्षेत्रीय कार्यों के लिये एक रास्ता देते हैं, जिनसे कि समसामयिक विश्लेषण (Synchromic analysis) की उत्पत्ति हुई। यह जाति को एक संतुलित, सुसंगत एवं सहवेदी व्यवस्था के रूप में दिखाने पर बल देते थे। परिवर्तन बहुधा संबंधों के सावयवी से खंडात्मक, बंद से खुले और सुसंगत से असंगत रूप में आ

जाने को दर्शाते थे। तो भी अनुभवाश्रित प्रमाणों से ऐसा लगता है कि जाति व्यवस्था में परिवर्तन उद्‌विकासीय-अनुकूलन के रूप में होता है। एक असमानता की संरचनात्मक और पदानुक्रम से दूसरे असमानता की संरचना में आने को जाति व्यवस्था में परिवर्तन के रूप में विश्लेषित किया जा सकता है। जाति व्यवस्था में होने वाले परिवर्तन की इस समस्या को समझने के लिये हमें एक समाज के लोगों की "मिश्र प्रस्थिति" का विश्लेषण करना होगा। हम विश्लेषण की ईकाई के रूप में "परिवार" या व्यक्ति या दोनों को ले सकते हैं। इस उपागम में हम जाति को एक गतिशील प्रक्रिया के रूप में देखते हुए ध्यान में रखते हैं। अत: रूपान्तरण की प्रक्रिया को समझने के लिये हमें किसी प्रणाली की आवश्यकता होती है। अब इस संदर्भ में जाति वर्ग अन्तर्संबंध की विवेचना करूँगा।

जाति एवं वर्ग दोनों पर संकीर्ण दृष्टिकोण रखने का विवाद हुआ है। "जाति प्रारूप" के परिप्रेक्ष्य के अनुसार जाति को एक अतिमेहराबी (over arching) वैचारिक व्यवस्था के रूप में देखा जाता है। यह सामाजिक जीवन के सभी पक्षों को सम्मिलित करती है, विशेष रूप से हिन्दुओं को एवं सामान्य रूप से अन्य समुदायों को। इसका एक अर्थ यह है कि जाति मूल रूप से भारतीय समाज की निम्न संरचना का एक भाग है। इस प्रकार व्यवसाय, श्रम विभाजन, विवाह के नियम, अवैयक्तिक संबंध ये सभी अधिसंरचना के तत्व हैं। ये जाति की वैचारिकता के पुनरूत्पादन को व्यक्त करते हैं। इसके परिणामस्वरूप ये प्रश्न उठता है :- किस रूप में जाति नियमों की एक व्यवस्था है? यों जाति को अन्य क्षेत्रों की तुलना में, वैचारिक स्वीकृति बहुत मुश्किल से दी जाती है, जातीय समूह और उसके सदस्य जो क्रिया कलाप करते हैं, वे जो कि जाति व्यवस्था के परम्परात्मक स्वीकृतियों से हट कर होते हैं और कहीं वे उनसे जुड़े हैं ऐसा क्यों है? यह ध्यान में रखने की बात है कि एक जाति के सदस्य एक दूसरे के प्रतिस्पर्धी होते हैं, परन्तु वे एक दूसरे को सहयोग भी करते हैं? वर्ग पर आधारित भिन्नताएं जाति के अन्दर घोषित रूप में पाई जाती हैं। एक जाति के सदस्य एक गाँव में कभी-कभी भारतीय वर्ग भेदों के प्रतिनिधि होते हैं........ जब हम विवाह के प्रासंगिक नियमों को देखते हैं, तो वे वास्तव में वर्ग दशा की धुरी को प्रासंगिक बातचीत के रूप में परिभाषित कर सकते हैं।

जाति असमानता को सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक दोनों रूपों में देखती है। ड्यूमों अपनी प्रतिष्ठित पुस्तक.......... "होमो हाइरारकस" में मानते हैं कि जाति व्यवस्था पर आधारित असमानता एक विशेष प्रकार की असमानता होती है। उनके अनुसार जाति को समझने के लिये शुद्धता और अशुद्धता का विचार बहुत मूल विचार है। यह भारत में जाति संस्तरण का बहुत मौलिक ढांचा है। उनके विश्लेषण के अनुसार जाति व्यवस्था का "आदर्श प्रारूप" मानवजातीय एवं सैद्धांतिक व्याख्या पर आधारित है। टी.एन. मदन ड्यूमों के संस्तरण की सार्वभौमिक आवश्यकता मानने के विचार का समर्थन करते हैं। वे कहते हैं कि भारतीय समाज अधिकांशत: स्थिर समाज रहा है; समाज में परिवर्तन हुआ है, लेकिन इसका आमूल रूपान्तरण नहीं हुआ है।

विशिष्ट ग्रामीण-नगरीय संदर्भ में जाति समूहों को "जाति" के रूप में देखना, जाति व्यवस्था पर आनुभाविक यथार्थ के रूप में समझने का आधार है। यह इसकी स्थापना का एक श्रोत है और समाज में परिचय या पहचान है। बाद के स्तर में, पहचान होना आज के अनौपचारिक रोजमर्रा के संबंधों के लिये प्रकार्यात्मक आवश्यकता नहीं है। उदाहरण के लिये उत्तर प्रदेश के कान्यकुब्ज ब्राह्मण और तमिल ब्राह्मण के बीच विवाह के लिये जाति साधारणत: कोई आधार नहीं है। तो भी वे जो कुछ समान होता है उसके आधार पर संबंध महसूस कर सकते हैं, बल्कि किसी मुसीबत या आपत्ति में सहयोग भी कर सकते हैं। अत: कोई पूछ सकता है: क्या जाति एक हित समूह है? क्या सामान्य हित भिन्न जाति और भिन्न क्षेत्र के लोगों को ज्यादा सहजता से निकट लाते हैं, समान जाति की अपेक्षा? जाति निश्चित रूप से एक श्रोत है, परन्तु इस श्रोत की प्रकृति जाति से जाति में, और उस क्षेत्र में जाति की प्रस्थिति के आधार पर भिन्न होती है। जाति परिचय, जाति सदस्यता उच्च एवं मध्य जाति के सदस्यों के लिये भार हो जाता है, क्योंकि उस व्यवसाय में, संसद और विधानसभा में, और उच्च संस्थाओं में प्रवेश के लिये अन्य पिछड़े वर्गों, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिये स्थान का कुछ प्रतिशत आरक्षण होता है।

यह सोचना कि जाति और वर्ग वैचारिक रूप से एक दूसरे के विरोधी हैं, यह सही दृष्टिकोण नहीं है। यह अनुमान लगाना कि जाति के टूटने से वर्ग का उदय होगा, जाति और वर्ग के विषय में यह त्रुटिपूर्ण अवधारणा है। ये दोनों भारतीय सामाजिक गठन के अविछिन्न भाग हैं। इसलिये इनके अन्तर्संबंध का अध्ययन निरन्तरता और परिवर्तन को देखते हुए होता है।

जाति एक बहुत जटिल व्यवस्था है यह सामान्य रूप से एक सत्ता शक्ति संबंधों अथवा नाममात्र के आर्थिक क्रियाकलापों की व्यवस्था नहीं है। अगर यह एक पक्ष में कमजोर होती है तो दूसरे में सुदृढ़ हो जाती है। नि:सन्देह कुछ रद्दोबदल, संकलन और परिवर्धन इसमें होते रहते हैं। हमें संजीदगी से इस व्यवस्था की गतिशीलता का विश्लेषण करने की आवश्यकता है। आखिर जाति रीति-रिवाजों, शुद्धता, अशुद्धता एवं सामाजिक जीवन के अन्य अभौतिक पक्षों के आधार पर चलती है। उदाहरण के लिये जाट सभा केवल एक जाति संगठन नहीं है, यह किसानों का एक प्रभावशाली संगठन है। इसी तरह किसान सभा किसानों का एक संगठन नहीं है, यह ऐसी जातियों का संगठन है जो कि कृषि कार्य करते हैं, विशेष रूप से उत्तर भारत के जाट, एवं अन्य राज्यों में उनके ही प्रतिरूप। आगे यह मानना कि जाति केवल एक ग्रामीण प्रघटना है, और वर्ग एक ऐसी वास्तविकता जो कि शहरों एवं कस्बों से जुड़ी हुई है, यह एक कोरी कल्पना है। हम उदाहरण के लिये जयपुर के एक जाति चुनाव को देखते हैं।

करीब पन्द्रह वर्ष पूर्व स्टेशन रोड पर बिल्कुल शहर के मध्य खंडेलवाल वैश्य महासभा का वार्षिक चुनाव हुआ था। कई सौ कारें, जीपें, आटोरिक्शा एवं दुपहिए वाहन चुनाव के लिये इस्तेमाल किए गए थे। चुनाव होने के स्थान पर सड़क के दोनों ओर करीब 60 पंडाल लगाए गए थे। यातायात को मोड़ा गया था और स्थिति को

नियंत्रण में रखने के लिये पुलिस टुकड़ी तैनात की गई थी। यह केवल एक जातिवादी प्रदर्शन ही नहीं था, बल्कि अपनी-जाति में ही होने वाली गुटबंदी भी थी। इसमें निर्वाचित लोगों को अपने हजारों रुपये इस चुनाव में लगाकर आखिर क्या मिलेगा? हम इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिये जाति और वर्ग की अन्त:क्रिया को समझने के लिये एक संजीदा आनुभविक विश्लेषण कर सकते हैं।

पूरे भारतवर्ष में आपको जाति संरचना में कोई वास्तविक एकरूपता नहीं दिखाई देगी। भारत में हजारों जातियाँ हैं, विभिन्न नाम एवं नामावलियों के साथ, लेकिन पूरे देश में केवल पाँच या छह वर्गों का अस्तित्व ही मिलता है। यह याद रखना आवश्यक है कि भारतीय समाज के सामाजिक विभाग के आधार वास्तव में एक दूसरे से बहुत अधिक भिन्न नजर आते हैं, लेकिन हैं नहीं। यहाँ एक बड़ी संख्या में मध्यम वर्ग है जो कि उत्पादन की प्रणाली से सीधे-सीधे सम्बद्ध नहीं है और ये आधुनिक भारतीय राज्य तंत्र की एक पृथक शाखा की तरह हैं।

भारत में वर्ग-संघर्ष का परिणाम जाति संघर्ष है और जाति संघर्ष का परिणाम वर्ग संघर्ष है। इन दोनों को अलग करके देखना फिजूल और अरुचिकर है। एक विधि-विज्ञानीय तर्क या दलील के रूप में हम कह सकते हैं कि ये दोनों अलग हैं क्योंकि ये पृथक सामाजिक एवं आर्थिक वास्तविकताओं को मानते हैं, लेकिन इसे स्वीकार नहीं किया जाएगा क्योंकि इस बात के पर्याप्त प्रमाण एवं पर्याप्त समर्थक नहीं हैं कि ये अलग-अलग अस्तित्व है। यह परिप्रेक्ष्य जो कि जाति वर्ग अन्तर्संबंध को भारतीय सामाजिक गठन में अध्ययन कर रहा है, यह संरचना के विश्लेषण, संस्कृति, इतिहास, द्वन्द्वात्मकता को समाज के उच्च एवं निम्न समुदायों में समझने के लिये इन्हें फोकस करता है। अन्तर्संबंध को हम जाति एवं वर्ग के बीच अनुकूलता या संतुलन पर लागू नहीं कर सकते हैं। अन्योन्याश्रिता, अन्तर्विरोध, संतुलन एवं सामाजिक संबंधों के नेतृत्व, ये सब अन्तर्संबंध के अविभाज्य लक्षण हैं। ऐन्द्रे बितई कहते हैं कि गाँवों में जाति, वर्ग एवं सत्ता का संस्तरण कुछ हद तक एक दूसरे को आच्छादित किए रहता है, लेकिन इनके कुछ मुद्दे समान भी हैं। एन्द्रे बितई यह भी कहते हैं कि अब सामाजिक जीवन में बहुत से क्षेत्र कुछ हद तक "जाति रहित" भी हो रहे हैं। इसके अलावा परम्परात्मक ब्राह्मण, वीर राजपूत की अवधारणा, भारतीय कारीगरों की परम्परा, भारतीय व्यापारी वर्ग एवं अनेक सांस्कृतिक परम्पराएं भी भारतीय समाज में साथ-साथ रहती हैं।

हम मानते हैं कि जाति व्यवस्था की बहु-आयामिता एवं जटिलता की वजह से, जाति की कोई सुनिश्चित परिभाषा देने में बहुत सी कठिनाइयां आती हैं। जाति के संरचनात्मक पक्ष को हम संस्तरण के सिद्धान्त के आधार पर वर्णित कर सकते हैं। जाति को एक सांस्कृतिक व्यवस्था के रूप में कुछ विशिष्ठ विचारों जैसे अशुद्धता एवं शुद्धता, ऊँच नीच की धारणा, पृथक्करण एवं सामूहिकता के आधार पर समझा जा सकता है।

एफ.जी. बेली जाति को एक बंद संस्तरण की व्यवस्था के रूप में देखते हैं, जबकि बितई जाति व्यवस्था को "बंद" और "खुले" दोनों पक्षों के रूप में मानते हैं। हमने देखा है कि बेली जाति की खंडात्मकता को बढ़ते हुए पाते हैं। भारतीय संरचना

में बढ़ती हुई विभिन्नता के कारण ऐसा होता है। विश्लेषण में पाई जाने वाली ये विविधताएँ जाति की सामान्य परिभाषा देने में बाधक है। (1963:107-24)

हालांकि वास्तव में जाति बहुत लचीली व्यवस्था नहीं है, तो भी यह अपने सदस्यों को कुछ क्षेत्रों में जाने के लिये अनुमति देती है। एक जाति अन्तर्जातीय संबंधों के बारे में उसके जो प्रतिमान हैं उनसे स्वयं को निर्देशित करती है। फिर भी, कोई भी जाति अपनी प्रथाओं, रीतियों एवं अधिकारों के संबंध दूसरी जाति से रखने के संबंध में स्वायत्ता रखती हैं।

श्रीनिवास उल्लेख करते हैं कि आज भी कृषि के उत्पादन में बहुत सी जातियों के सहयोग की आवश्यकता होती है। जाति प्रणाली का यह इस्तेमाल काफी फैला हुआ है। (1966, 1979: 237-42) मार्क्स ने भारत में जाति की स्थिरता को "एशिएटिक मोड आफ प्रोडक्शन" के साथ जोड़ कर देखा है। (1951, 1965) बितई ड्यूमों पर भारतीय समाज में "जाति-पर्यावलोकन" (Caste-view) को बढ़ावा देने का आरोप लगाते हैं बितई के अनुसार इस प्रकार के "जाति प्रारूप" विचारों और मूल्यों के अध्ययन को भौतिक हितों के विश्लेषण की सुविधा मुहैया नहीं करवाते। इन दोनों के बीच एक द्वन्द्वात्मक संबंध है। और ड्यूमों और पिकोक के "दोहरे विरोध" (binsary opposition) की धारणा मार्क्स के द्वन्द्वात्मक धारणा से बहुत दूर है। बितई यह सुझाव भी देते हैं कि आर्थिक एवं राजनीतिक संघर्ष अपने अन्दर कुछ डिग्री तक स्वायत्ता लिए हुए हैं, इसलिये वे जाति और धार्मिक विश्वास और विचारों का स्वतंत्र रूप से अध्ययन कर सकते हैं। (1996:71-31) जाति प्रारूप इस तरह की समझ को स्वीकृति नहीं देता है। एडमंड लीच समझते हैं कि सहयोग जाति को इंगित करता है और प्रतिस्पर्धा वर्ग को, यह एक सहज और अविश्वसनीय धारणा है। प्रभुत्व जाति के परिवार ना केवल आपस में प्रतिस्पर्धा रखते बल्कि अपने प्रभुत्व को बनाए रखने के लिये छोटी जातियां बड़ी जाति का आश्रय पाने के लिये आपस में प्रतिस्पर्धा करती हैं। यह प्रतिस्पर्धा नई बात नहीं है बल्कि पुश्तैनी दुश्मन भी जमीन पर अपने हक के लिये संघर्ष करते रहते थे। प्राचीन और मध्य भारत में ब्राह्मणों और क्षत्रियों में सत्ता और जमीन पाने के लिये लड़ना बहुत सामान्य था। लीच के अनुसार जाति केवल "जाति थी और उसमें वर्ग जैसी स्थिति तब उत्पन्न होती थी जब संरक्षक एक दूसरे के साथ प्रतिस्पर्धा करना शुरू कर देते थे (1960-1-10) लीच इस तथ्य की अवहेलना करते हैं कि निम्न जातियां उच्च जातियों के बीच एक दूसरे के विरूद्ध अन्तर्जातीय संघर्ष एवं विद्रोह होते ही रहते हैं, यह एक ऐतिहासिक तथ्य है।

वर्ग की व्याख्या

मार्क्स की वर्ग एवं वर्ग संघर्ष की अवधारणा भारत के कृषि एवं नगरीय-औद्योगिक संरचनाओं के अध्ययन के लिये एक "प्रमाण" बन गई है। मार्क्स (1951) ने स्वयं जाति की विवेचना की है और अपने भारत पर लिखे दो लेखों में ग्रामीण समुदाय की परम्परागत धारणा भी दर्शाई है। शुरू में मार्क्स ने "एशिएटिक मोड आफ प्रोडक्शन" के

विशेषताएं बताईं कि इसमें भूमि के रूप में निजी स्वामित्व का अभाव है और अर्थ नीति स्थिर होती है क्योंकि जाति, कृषि एवं ग्रामीण कारीगरों में एक प्रकार का प्रतिबंध होता है। फिर भी सी.टी. कुरियन कहते हैं कि एशिएटिक मोड़ का विश्लेषण वर्ग अन्तर्विरोध एवं वर्ग संरचना की भूमिका को नहीं नकारता है। पूँजीवाद से पहले भारत का आर्थिक गठन ना तो वर्गविहीन था ना ही स्थिर। सामाजिक संबंध और शोषण दोनों ही जाति एवं वर्ग के साथ ही साथ आधारित आधार थे। (1980:96-106)

वर्ग की विवेचना के लिये दो प्रश्न प्रासंगिक हैं: (1) भारतीय समाज की वर्ग संरचना के विश्लेषण के लिये हम कौन सी पद्धति इस्तेमाल करते हैं? और (2) वर्ग-जाति अन्तर्संबंध क्या हैं, और प्रत्येक क्षेत्र में इसकी शाखाएं एवं इनके अन्तर संबंध कैसे हैं? यहाँ इन प्रश्नों की व्याख्या मार्क्स की अवधारणा को स्वीकार या अस्वीकार करने के लिये नहीं है, बल्कि यह देखना है कि यह हमें कितनी महत्वपूर्ण अन्तरदृष्टि देते हैं।

अशोक रूद्र, भारतीय कृषि जनसंख्या में वर्ग प्रतिस्पर्धा का विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि भारतीय कृषि में केवल दो वर्ग हैं—बड़े जमींदार या भूस्वामी और कृषि मजदूर। ये दोनों वर्ग एक दूसरे से विरोधात्मक संबंध रखते हैं और इसके परिणामस्वरूप भारतीय ग्रामीण जीवन में अन्तर्विरोध या असंगति आती है (1978:816-23) रूद्र जैसे ही विचार ए. आर. देसाई के भी हैं। (1975) रूद्र जोरदार रूप से यह बहस करते हैं कि भारतीय कृषि में पूँजीवादी संबंध और पूँजीवादी विकास पाया जाता है। हालांकि यहाँ दो वर्ग हैं- साधन सम्पन्न और साधनहीन। भारत के राज्य पूँजीवादी समाज के प्रतिमानों को अपने विकास की योजना की धुरी के रूप में ग्रहण करते हैं। इस सूत्र का एक और निहितार्थ यह है कि इसका ढाँचा जो कि सारे विश्व पर लागू हो जाता है, वह भारतीय समाज पर भी भली-भाँति लागू हो जाता है। इसका दूसरा निष्कर्ष यह है कि भारतीय समाज के विश्लेषण के लिये जो महत्वपूर्ण चर हैं, वह सभी स्थितियों और संदर्भों में आर्थिक ही हैं।

बी.एम. डांडेकर (1978:102-24) के अनुसार भारत में वेतन भोगी लोगों की हड़ताल बहुत आम बात है और इनमें शामिल लोगों का वेतन दो सौ से कई हजारों तक में होता है। अत: वेतनभोगियों को एक विजातीय श्रेणी के रूप में देखा जाना चाहिए। मार्क्सवादी मानदंडों के अनुसार पूरी कार्यशक्ति में से तीन चौथाई कामगार इससे छूटे हुए हैं। भारत में एक "कल्याणकारी राज्य" के रूप में सबसे ज्यादा नौकरियां सरकारी है। क्या भारतीय राज्य एक उद्योगपति अथवा वेतनभोगी नियोक्ता की तरह एक पूँजीवादी दमनकारी और शोषणकारी संस्था है? करीबन एक करोड़ कामगार लघु स्तरीय उद्योगों या अपने परिवार द्वारा चलाए गए कारोबारों में लगे हुए हैं और इन कामगारों में सामान्यत: वर्ग अन्तर विरोध या हड़ताल नहीं होती है। सम्पूर्ण श्रमिकों में से केवल एक बटा नौ ही संगठित श्रमिक हैं। क्या हम मार्क्सवादी अवधारणा को स्वीकार कर सकते हैं? भारतीय वर्ग संरचना के गंभीर विश्लेषण के लिये वर्गों का आच्छादन, जाति एवं व्यवसाय, अभिजात संघर्ष, दवाब समूह, गुटबंदियाँ, मध्य वर्ग का प्रभाव एवं मिश्रित समूहों

का अस्तित्व एवं कुलीन किसान ये सब महत्वपूर्ण भाग हैं। जजमानी व्यवस्था को भी वर्ग संबंध एवं साधन के संबंध के रूप में विश्लेषित किया जा सकता है। अब हम जाति पदानुक्रम और व्यवसाय को देखते हैं।

जाति पदानुक्रम एवं वर्ग संघर्ष

दलितों पर आक्रमण होते हैं, उनकी हत्या की जाती है, उनकी महिलाओं से बलात्कार किया जाता है और भी कई तरह से उन्हें अपमानित किया जाता है। अरूण सिन्हा (1978:675-76) के अनुसार यह हरिजनों के खिलाफ एक "वर्ग युद्ध" है ना कि इत्तिफाक से होने वाली नृशंसताएं। "इकोनोमिक एंड पोलिटिकल वीकली के एक अंक में सिन्हा कहते हैं कि बिहार के गाँवों में ऐसे अमीर किसान वर्ग का उदय हो रहा है जो सभी जातियों जैसे चमार, दुसाद, कुर्मी, यादव भूमिहार आदि जातियों के लोगों से कृषि श्रमिक का काम लेते हैं और ये अपने जाति संगठन को छोड़कर अपने झगड़ों के लिये ट्रेड यूनियन की तरह लड़ते हैं। यह लड़ाई जाति की ना होकर वर्गों की हो जाती है। परन्तु यह तथ्य है कि ये हरिजन या चमार कृषि मजदूर अपने ब्राह्मण या भूमिहार प्रतिपक्ष से बराबरी नहीं कर सकते क्योंकि ये दोनों वर्ग संरचना में समान स्थान रखते हैं।

स्वतंत्रता के बाद की वास्तविक स्थिति यह है कि पिछड़ी जातियों के अमीर किसानों का वर्ग, वर्ग पदानुक्रम में सबसे ऊपर की स्थिति में है। यह वर्ग ऊँची जातियों की सामाजिक एवं राजनैतिक प्रभुता के खिलाफ लड़ रहे हैं। बिहार में जनता पार्टी की सत्ता के दौरान इन पिछड़ी जातियों को ऊँची जातियों से संघर्ष को बढ़ाने के लिये प्रोत्साहित किया गया। ये पिछड़े हुए वर्ग जाति पदानुक्रम में "माध्यमिक स्तर" पर हैं और वर्ग संरचना में भी इनकी यही स्थिति है। जनता दल के समय में बिहार में प्रभुता की संरचना में परिवर्तन आया, इससे राज्य में राजनीतिक अर्थव्यवस्था में परिवर्तन आया। ब्राह्मणों ने बहुत हद तक अपनी राजनैतिक प्रभुता खो दी।

अन्य जगहों के साथ, बेलची, आगरा, पंतनगर, मराठवाड़ा एवं बाजितपुर में सामूहिक हत्याकांड, लूटपाट एवं अनूसूचित जाति की स्त्रियों के साथ बलात्कार की घटनाएं हुई। यह जाति व्यवस्था की तुलना में वर्ग संघर्ष एवं वर्ग संगठन को दर्शाती है जैसा कि अत्याचार विरोधिनी समिति ने अपने प्रतिवेदन में कहा। (1979:45-52) समिति ने महाराष्ट्र में अनुसूचित जातियों पर होने वाले दमन की प्रकृति एवं सीमा के बारे में अनुसंधान किया। अनुसूचित जातियों के लोग गरीब किसान भी हैं एवं कृषि श्रमिक भी हैं। समिति की रिपोर्ट में गांव की गरीब महिलाओं एवं विशेष रूप से दलित महिलाओं के मानसिक एवं शारीरिक दमन एवं शोषण के बारे में विशेष रूप से बल दिया गया है। समिति की जाति के बारे में निकाले गए परिणाम एवं अवलोकन बहुत अर्थपूर्ण हैं, क्योंकि जाति उत्पादन के संबंधों की व्यवस्था के रूप में होती है। बिहार में रनवीर सेना एवं चरम वामपंथियों के बीच जो निरन्तर संघर्ष होते रहते हैं इसमें नीची जाति के गरीब लोगों एवं ऊँची जाति के विशेषकर भूमिहारों के बीच हत्या और प्रतिहत्या (घात-प्रतिघात) होती रहती है।

निम्नलिखित मुद्दों को ध्यान में रखना चाहिए:-

1- जाति व्यवस्था आर्थिक शोषण की बहुत अधिक प्रभावशाली पद्धति के रूप में कार्य करती है। संप्रभु वर्ग भी राजनैतिक सत्ता एवं सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं, जो कि जाति पदानुक्रम को आगे बढ़ाती है और सुदृढ़ करती है, भूमि पर स्वामित्व को प्रदर्शित करती है और आर्थिक पदानुक्रम सामाजिक पदानुक्रम में निकटतम संबंध है।

2. जाति निश्चित रूप से उत्पादन के साधनों एवं भरणपोषण से संबंध निर्धारित करती है, विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में। जातिगत दंगे वर्ग हितों के संघर्ष को प्रतिबिम्बित करते हैं।

3. जाति उत्पादन के साधनों का भी उल्लेख करती है, क्योंकि यह उत्पादन की दशाओं एवं साधनों में लोगों एवं समूहों के शामिल होने को नियंत्रित करती है और यह राजनैतिक-विधि-विधानों के क्रियाकलापों के लिये सामाजिक संरचना का प्रबंध करती है।

4. बी.आर. अंबेडकर ने सही कहा था कि जाति व्यवस्था केवल श्रम विभाजन नहीं है, बल्कि यह श्रमिकों का विभाजन भी है। हालांकि जाति श्रमिकों को अपने लिये वर्ग बनाने से रोकती है। अत: जाति एक "झूठी चेतना" की विचारधारा में देखी जाती है। मैंने देखा कि जाति एवं वर्ग दोनों ने दलितों की पहचान एवं आंदोलन को उभारने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। (1997:35-53)

5. जाति एवं धर्म निरंतर रूप से एक विशेष वर्ग संरचना को चलाने में सहयोग करते हैं।

6. जाति अभी भी सामन्ती विचारधारा का भाग बनी हुई है। आगे समिति कहती है कि "जाति भारतीय समाज का एक बहुत महत्वपूर्ण पक्ष है। यह उत्पादन के संबंधों के स्तर पर दमन की विशिष्ट विधि का प्रतिनिधित्व करती है।" यह कहना पूरी तरह असंगत है कि वहाँ पर केवल वर्ग के मुद्दे हैं और ऐसे प्रश्न जाति से संबद्ध नहीं है। क्योंकि जाति का विभाजन विशुद्ध आर्थिकता से परे है पर वर्गों में यह अभी भी दृढ़ रूप में है। इस तरह विशिष्ट जातियों से सम्बद्ध प्रश्नों को सभी प्रगतिवादियों और वामपंथियों, दलित, अदलित संगठनों द्वारा उठाया जाना चाहिए। आज की वास्तविकता में वर्ग हित जाति एवं वर्ग शोषण के साथ चल रहे हैं।

जाति के सरंचनात्मक पक्ष जैसे आर्थिक एवं राजनैतिक आयामों का महत्व कम आंका जाता रहा है। इसलिये सामाजिक स्तरीकरण के सांस्कृतिक पक्षों का विश्लेषण भारत के सामाजिक गठन की गहन समझ करवाता है, क्योंकि ये दोनों एक दूसरे से अविभाजित हैं। जैसा कि हमने देखा वर्गों का प्रकार्य जाति के संदर्भ में हीं होता है, इसी तरह जाति संघर्ष भी वर्ग और भूमि संबंधी संघर्ष होते हैं। उच्च और निम्न जातियों के बीच की दरारें ही बहुत हद तक भूस्वामी, साझेदार और कृषि श्रमिकों के बीच में संघर्षों को बढ़ावा देती है।

चार मूल बिन्दू हैं जो कि जाति एवं वर्ग के संबंधों एवं उनके रूपान्तरण को समझाते हैं। ये हैं: (1) द्वन्द्वात्मकता (2) इतिहास (3) संस्कृति और (4) संरचना।

द्वन्द्वात्मकता का अभिप्राय केवल मात्र समाज के ज्ञानात्मक ढाँचे के द्विआयामी खंडन से ही नहीं है। इसका अभिप्राय उन प्रभावकारी धारणाओं से है जिनके द्वारा असमान समूहों और पुरुषों एवं स्त्रियों के बीच विरोधाभासों को उजागर किया जाता है और संबंधों पर प्रकाश डाला जाता है। इतिहास काल्पनिक नहीं है क्योंकि यह पौराणिक ज्ञान, धर्म ग्रन्थों और आदर्श रचनाओं पर आधारित नहीं है, बल्कि इतिहास द्वारा वर्तमान कार्य अवस्थाओं और संबंधों के बारे में सार्थक विवरण प्राप्त होता है। संस्कृति केवल सांस्कृतिक क्रियाओं, संस्कारों, धार्मिक कृत्यों इत्यादि को ही सम्मिलित नहीं करती बल्कि संस्कृति में जीवन के नियम विशिष्ट सुविधा प्राप्त और वंचित लोगों के बीच संबंध और विरोध के तरीकों का समावेश भी पाया जाता है। परन्तु संरचना प्रादुर्भाव के बाद एक संगठन का रूप धारण करती है और तत्पश्चात इतिहास की धारा को एक ढंग से निर्धारित करने की शक्ति बन जाती है। इस प्रकार संरचना किसी एक समय पर सामाजिक घटकों के बीच संबंधों को दर्शाती है, लेकिन एक ऐतिहासिक उपज और वास्तविकता के रूप में इन तत्वों को संरचनात्मक ऐतिहासिक उपागम का सार मानते हुए जाति और वर्ग संरचना में परिवर्तन को रूपान्तरणकारी प्रक्रियाओं की संज्ञा दी जा सकती है।

संरचनात्मक परिवर्तनों की निम्नलिखित प्रक्रिया, जो उपरोक्त निदर्शनात्मक व्याख्या से उभरकर आती है, वह इस प्रकार है :-

1. अधोगामी गतिशीलता और सर्वहाराकरण।
2. उर्ध्वगामी गतिशीलता एवं बुर्जुआकरण।
3. ग्रामीण लोगों के लिये नगरीय आय और गांवों में गतिशीलता।
4. गाँवों की गैरकृषकीय आय और गतिशीलता।

अगर आज हम भारत में जाति और वर्ग के बारे में अधिक और पूर्ण समझ प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें इन मूल विषयों की तरफ अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है।

संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. 20 वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के दौरान जाति पर किए गए कार्यों में निम्नलिखित को सम्मिलित करते हैं : एच.एच. रिजले, 1909
   'दा पीपल ऑफ इंडिया' ई, सेनार्ट, 1930, कास्ट इन इन्डिया :
   'दा फैक्स एण्ड दा सिस्टम', जे.एस. फरनीवाल, 1939
   'नीदरलैण्ड, इण्डिया : ए स्टडी ऑफ 'प्लूरल इकोनमी', जे.एस. हट्टन, 1946, कास्ट इन इण्डिया इत्यादि।
2. उदाहरण के लिये जी.एस.के. घूरिए, ई सेनार्ट, एम.एन. श्रीनिवास और लुइस ड्यूमों इन सभी के कार्यों में जोर दिया गया है प्रतिमानों एवं मूल्यों की भूमिका पर जिन की वजह से, जाति व्यवस्था में प्रस्थिति को मजबूती मिली है। यहां तक कि जाति व्यवस्था में होने वाले सबसे कम परिवर्तन ने भी अपनी तरफ थोड़ ध्यान आकर्षित किया है।
3. जाति के अध्ययनों पर भारतीय एवं विदेशी विद्वानों द्वारा बहुत अधिक बल दिया गया। इसका तात्पर्य यह है कि जाति सामाजिक संबंधों में बहुत

ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। एन्द्रे बितई ने "जाति प्रारूप" - (1969:17-31) की रूपरेखा को सामाजिक संबंधों में "विचारों" की भूमिका के परिप्रेक्ष्य में देखा, यह अपनी जाति के अन्दर और विभिन्न जातियों के बीच सहयोग को सुनिश्चित करता है, फिर भी, बितई ने देखा कि इस तरह संदर्भ के ढांचें में यह लोगों के वास्तविक व्यवहार को जानने में अपर्याप्त हैं।

4. एन्द्रे बितई ने अपने तंजौर गांव (1965) के अध्ययन में पाया कि जाति संस्तरण में आर्थिक हितों और राजनैतिक अधिकारों की भूमिका सबसे महत्वपूर्ण होती है। लोगों को जाति वर्ग एवं सत्ता के आधार पर क्रमबद्ध किया जाता है, लेकिन विभिन्न क्रमों द्वारा बहुत अधिक मात्रा में सामंजस्य या उपयुक्तता दिखाई देती है।
5. जाति और वर्ग में निरन्तरता और परिवर्तन का तर्क देते हुए योगेन्द्र सिंह (1968) ने देखा कि ये दोनों भारतीय सामाजिक वास्तविकता के दो संपूर्ण अभिन्न अंग है। एक में परिवर्तन दूसरे से संबंधित होता है। अत: भारतीय समाज का "जाति प्रारूप" एक मूल्य सहित प्रतिपादन है।
6. आगे योगेन्द्र सिंह (1973) ने संस्कृतिकरण के संदर्भ में दो बातें बहुत स्पष्ट रूप से कही हैं: (1) एक समूह के लोगों का विशेष समय में विशेषत: सांस्कृतिक परिवर्तन के संदर्भ में संबंध रखता है और (2) संस्कृतिकरण की सांस्कृतिक गतिशीलता की ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में भारत में विभिन्न प्रारूपों में पाया जाता है। एम.एन. श्रीनिवास (1952) ने इस तरह की प्रक्रिया का एक रेखांकन किया जिसके अनुसार निम्न स्तर के लोगों का समूह मुख्य रूप से अपने सांस्कृतिक मान्यताओं के परिवर्तन के द्वारा या निम्न जाति द्वारा ब्राह्मणों के रहन-सहन की नकल करता है।
7. जोन-मेन्चर के अनुसार (1974) "जाति प्रारूप" प्रतिपक्ष "वर्ग प्रारूप" होता है। जाति, सत्ता एवं धर्म को अच्छी तरह समझाने के लिये "वर्ग उपागम" को प्रयोग किया जाना चाहिये। समान आर्थिक हितों को रखने वाले लोग ना केवल एक वर्ग के रूप में संगठित होते हैं, बल्कि उनके हितों एवं कल्याण में रूकावट बनने वालों के खिलाफ वर्ग को प्रेरित भी करते हैं।
8. मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार सार रूप में जाति एक आर्थिक संगठन है। यह ऊँची जाति के लोगों द्वारा नीची जाति के लोगों का शोषण एवं दमन की व्यवस्था है, जोकि भूस्वामी, मालिक और अमीर होते हैं। इस तरह जाति सर्वहारा चेतना एवं वर्ग संघर्ष को दबा देती है। यह गरीब लोगों को धर्म (कर्तव्य) और कर्म (भाग्य) की नीतियों के आधार पर निरन्तर "झूठी दिलासा" को सुदृढ़ करती रहती हैं।
9. ऐन्द्रे बितई (1965) ने स्पष्ट रूप से इंगित किया है कि ग्रामीण समुदाय में जाति ही एकमात्र निर्णायक कारक नहीं रह गई है। आर्थिक एवं राजनीतिक हित जाति संरचना के बाहर ही साकार होते हैं। वैधानिक जाति पंचायत एवं राजनीतिक दल ना केवल ग्रामीण समुदायों में संस्थापित हो गए हैं बल्कि उन्होंने परम्परागत ग्रामीण पंचायत एवं जाति व्यवस्था के प्रकार्यों

को भी गांवों से छीन लिया है। ऐन्द्रे बितई ने इन्हें जाति विहीन क्षेत्रों के रूप में उल्लेखित किया है।

10. लुई ड्यूमों (1970) बहुत जोरदार रूप में कहते हैं कि जाति पदानुक्रम की एक अनोखी सांस्कृतिक व्यवस्था है। समस्त जातीय समूहों को उच्च और निम्न में श्रेणीबद्ध करती है। उनसे संबद्ध नियम होता है उनकी शुद्धता और अशुद्धता और अधिक शुद्ध या कम शुद्ध और कम अशुद्ध या ज्यादा अशुद्ध इस तरह की सामाजिक संरचना ड्यूमों ने मुख्य रूप से ब्रिटिश शासन के पूर्व और उनके समय के संस्कृत ग्रंथ एवं भारतीय साहित्य के प्रमाण से पुष्ट की है। भारत की स्वाधीनता के बाद जो महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं वे बड़ी मात्रा में अभी भी ड्यूमों द्वारा जाति व्यवस्था को समझने में अछूते रह गए हैं।

11. साधारणत: ड्यूमों की जाती संबंधी टिप्पणियाँ अस्वाभाविक एवं एक तरफा (भेदपूर्ण) विचारों पर आधारित हैं। इन्होंने उन विचारों और मूल्यों पर जोर दिया है जो कि वास्तविक व्यवहारिक पक्षों को नकारते हैं और जाति के लचीलेपन और गतिशीलता को नकार देते हैं।

संदर्भ ग्रन्थ

- बेली एफ.जी., "क्लोज्ड सोशल स्ट्रेटीफिकेशन इन इण्डिया" यूरोपियन जनरल आफ सोशयोलोजी, वोल्यूम VII, 1963
- बितई ऐन्द्रे, कास्ट, क्लास एण्ड पावर, आक्सफोर्ड युनिविर्सिटी प्रेस, मुंबई, 1965
- ड्यूमों, लुई, "होमो हाइरारकीयस" पालादीन ग्रैनाडा पब्लिशिंग लि०, 1970
- मार्क्स, कार्ल, "आर्टिकल आन इण्डिया, एशिया पब्लिशिंग हाउस, मुंबई, 1951
- सिंह योगेन्द्र, "कास्ट एण्ड क्लास: सम आसपैक्ट आफ कन्टीन्यूटि एण्ड चेंज", सोशियोलोजीकल बुलेटिन, वोल्यूम XVII, न० 2, 1968
- श्रीनिवास, एम.एन., "सोशल चेंज इन मोर्डन इण्डिया; बर्कले, कैलीफोर्निया यूनिवर्सिटी प्रेस, कैलिफोर्निया, 1966
- हट्टन, जे.एच., "दा कास्ट इन इण्डिया; ओक्सफोर्ड, यूनिवर्सिटी प्रेस, ओक्सफोर्ड, 1946

जाति और राजनीति
संख्या की परिकल्पना 6

जातीय गणित की सीमाएँ

जातीय राजनीति के विश्लेषण में संख्या की परिकल्पना को मान लेना एक मामूली बात है। इस प्रकार प्राय: यह तर्क दिया जाता है कि राजनीतिक परिणाम निर्वाचन क्षेत्रों की जातीय संरचना द्वारा निर्धारित हो सकते हैं। यह समूची परिकल्पना नितांत मिथ्या प्रतीत होती है कि हिन्दू प्राय: जातीय निष्ठा से बंधे होते हैं, तो राजनीति से कुछ अलग क्यों होना चाहिए? यह एक ऐसा समय है जब जाति द्वारा राजनीतिक आधिपत्य प्राप्त करना बहुत घिसी पिटी बात हो गई है (जैसा कि 1996 के चुनावों में हमने देखा), लेकिन तब भी ऐसे समय में जाति अपनी वह प्रभावशाली भूमिका अदा करती प्रतीत नहीं होती। फिर भी जाति और राजनीति के विषय पर बहुत से महत्वपूर्ण कार्यों में ऐसा माना गया है राजनीतिक भविष्य मुख्यत: वैयक्तिक निर्वाचन क्षेत्रों की जातीय बनावट पर निर्भर करता है।

इस प्रकार के परिप्रेक्ष्य के वस्तुत: कुछ समस्याएं हैं। चुनाव परिणामों की छानबीन से यह बहुत आसानी से प्रकट हो जाता है कि राजनीतिक पार्टियाँ अगले चुनावों में अपनी सीट बचाने में बिरले ही समर्थ होती हैं। आज जहाँ भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) की पकड़ मजबूत है, आने वाले चुनाव में उस पर कांग्रेस अथवा समाजवादी पार्टी (एस पी) का कब्जा हो सकता है। इन पार्टियों के बारे में यह सच्चाई भी मान्य है कि वे प्रत्यक्ष रूप से जातीय निष्ठा पर आधारित हैं। समाजवादी पार्टी को नई उभरती हुई किसान जातियों, जैसे अहीर अथवा यादव, की वाहक कहा जाता है, फिर भी इसके चुनावी भविष्य का अनुमान लगा पाना आसान नहीं है। अगर जाति और राजनीतिक अभिरूचि इतने करीब से जुड़े होते, तो ऐसा न होता। उदाहरण के लिये, जनता दल (जिससे राष्ट्रीय जनता दल या राजद का जन्म हुआ) ने 1991 में बिहार के कोडरमा, छपरा और बेतिया चुनाव क्षेत्रों में जीत हासिल की, उनमें से 1996 और 1998 के चुनावों में भाजपा से दो सीटें हार गया। इसी तरह, 1991 में भाजपा उत्तर प्रदेश (यू पी) के जौनपुर, सैदपुर हाटमपुर और गाजीपुर चुनाव क्षेत्रों में जीती थी लेकिन 1998 में जनता दल से हार गई।

इसी तरह से महाराष्ट्र में शिवसेना ने 1991 में अमरावती सीट जीती थी, 1996 में यह

सीट रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इंडिया (आर पी आई) से हार गई। 1998 में वही सीट कांग्रेस ने जीत ली। महाराष्ट्र के भीड में भाजपा 1991 में जीती लेकिन 1998 में कांग्रेस से हार गई। ये उदाहरण यह प्रमाणित करते हैं कि भारत में चुनावी परिणाम पूर्व निर्धारित नहीं हो सकते, और इसलिये राजनीति में जाति की भूमिका को सावधानीपूर्वक समझना चाहिए।

इस आलेख में विस्तृत आकलन के क्रम में महाराष्ट्र, बिहार और उत्तर प्रदेश से उदाहरण दिए जायेंगे जिसमें जाति ने पिछले तीन चुनावों में चुनावी परिणाम को प्रभावित किया पिछले पांच दशकों में जिस तरह भारतीय राजनीतिक स्थितियों में बदलाव आया है, अत: हाल के चुनावों पर प्रकाश डालना अधिक प्रासंगिक होगा। इस वजह से 1991, 1996 और 1998 के चुनावों पर ध्यान दिया गया है। इन वर्षों में मंडल आयोग की सिफारिशों ने तथाकथित पिछड़ी जातियों की राजनीति को मजबूत करने में मदद की है। बहुजन पार्टी (बी एस पी) और मुलायम सिंह यादव एवं लालू प्रसाद यादव के जातीय समर्थन पर भी इस दौरान बहुत लिखा गया। प्रारम्भ से ही यह मान लेना जरूरी है कि जाति और चुनाव परिणामों से जनसंख्या का मेल बैठाना मुश्किल है। इसके दो कारण हैं। पहला यह कि पिछली जनगणना काफी पहले 1931 में प्रकाशित हुई थी, दूसरे जाति गणना की सूची जिलावार दी गई थी और वे जिले संसदीय चुनाव क्षेत्रों के बिल्कुल अनुरूप नहीं थे। फिर भी श्री सिंह के श्रमसाध्य प्रयास की सहायता से (1931) एक दूसरे से तुलना करने का प्रयास किया गया है। निस्संदेह, परिणाम सन्निकट, बल्कि गहरी सन्निकटता है (देखें भारत की जनगणना 1931, भाग दो सारणी, बम्बई के लिये, संयुक्त प्रांत आगरा और अवध के लिये, बिहार व उड़ीसा के लिये)। छोटे राज्यों के विधान सभा क्षेत्रों पर जनगणना को अध्यारोपित करने का प्रयास स्पष्ट कारणों से बहुत बड़ी गलती का शिकार हुआ, जबकि संसदीय क्षेत्रों के स्तर पर यह खतरा उठाया जा सकता है। यह अच्छा मौका है कि जनगणना की सूचना संसदीय क्षेत्रों की जातीय रूपरेखा का विश्वसनीय संकेत हो सकती है। जाति संख्या और चुनावी परिणाम के संबंध की परीक्षा न केवल जाति और राजनीति की हमारी समझ में एक दूसरा आयाम जोड़ने में मदद करती है बल्कि जाति व्यवस्था पर वैचारिक बहस के पुनरीक्षण का उपयोगी ढाँचा भी हो सकती है। अब हम उन मामलों की ओर नजर दौड़ाएँ, जिसे हमने अपने अध्ययन के लिये चुना है।

महाराष्ट्र – महाराष्ट्र में स्थिति जाति आधारित अवधारणा को आगे बढ़ाने में बिल्कुल सहायक नहीं हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि मराठा इस प्रांत की आबादी का बहुत बड़ा हिस्सा हैं जिससे कम संख्या वाली अन्य जातियाँ अल्पसंख्यक की स्थिति में आ गई हैं। सिर्फ मराठा ही समूची जनसंख्या का 31 प्रतिशत हैं। महाराष्ट्र के कोंकण क्षेत्र में उनकी जनसंख्या 40 प्रतिशत के आसपास है। इसके बाद भारी गिरावट है। महाराष्ट्र में महार संख्या की दृष्टि से दूसरी बड़ी जाति हैं, जो जनसंख्या का 4.7 प्रतिशत हैं। इसके बाद ब्राह्मण आते हैं जिनकी जनसंख्या केवल 3.9 प्रतिशत है। अन्य जातियाँ सामान्यतया 1 प्रतिशत से भी कम हैं (1990:117-18)। पिछले तीन चुनावों के दौरान

इस राज्य में राजनीतिक लड़ाई वस्तुतः कांग्रेस और भाजपा-शिवसेना गठबंधन के बीच रही है। रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इंडिया कभी-कभी बिना किसी संगति के दिखाई देती है। दरअसल कुछ निर्वाचन क्षेत्रों को छोड़कर महाराष्ट्र के परिदृश्य पर विरला ही कोई सामंजस्य दिखाई देता है। उत्तर मध्य मुम्बई में 1996 में शिव सेना जीती थी, जिस पर 1998 में आर पी आई और 1991 में कांग्रेस विजयी रही। हाल में आर पी आई की जीत, जो संभावित थी, कांग्रेस के साथ इसके गठजोड़ का परिणाम है। इस पर ध्यान देना दिलचस्प है कि आर पी आई ने केवल 1998 में अकोला और अमरावती के साथ-साथ चिमूर में विजय प्राप्त की, जब इसने कांग्रेस के साथ चुनावी समझौता किया था।

महाराष्ट्र वस्तुतः दो दलीय राज्य है। पिछले तीन चुनावों में कांग्रेस अथवा भाजपा शिव सेना ने आगे-पीछे की लड़ाई में जीत हासिल की। सामान्यतया मराठों की भारी उपस्थिति कुछ-कुछ कांग्रेस के साथ जुड़ती दिखाई देती है। ऐसा खासतौर से दक्षिण-पश्चिम महाराष्ट्र के खेड़, बारामती, कराड़, सांगली, लुहालकरंजी और कोल्हापुर जैसे क्षेत्रों के लिये सच है। इन सभी क्षेत्रों में कांग्रेस 1991 से 1998 के बीच लगातार जीतती रही है। कोपड़गाँव और शोलापुर, जो उसी क्षेत्र और उसी जाति परिदृश्य से जुड़ा हुआ है, कांग्रेस समय-समय पर भाजपा से हार गई। रामतक और भंडारा कुछ अलग कहानी कहते हैं। यद्यपि ये चुनाव क्षेत्र कुछ असामान्य हैं: जैसाकि यहाँ मराठों की आबादी 30 प्रतिशत से कम है, उन्होंने पिछले तीन चुनावों में कांग्रेस को वोट दिया था। मराठा प्रभावित क्षेत्रों के बारे में ऊपर उल्लेख किया जा चुका है।

सारणी-1

उच्च मराठा उपस्थिति (30 प्रतिशत से ऊपर) और चुनावी परिणाम

चुनाव क्षेत्र	चुनाव		
	1998	1996	1991
मुम्बई दक्षिण	कांग्रेस	भाजपा	कांग्रेस
मुम्बई दक्षिण मध्य	शिव सेना	शिव सेना	शिव सेना
अहमदनगर	शिव सेना	कांग्रेस	कांग्रेस
कोपड़ गाँव	कांग्रेस	भाजपा	कांग्रेस

स्रोत - एच.डी सिंह, 1996, 543, फेसेज ऑफ इंडिया, नई दिल्ली, न्यूमैन प्रकाशन, अप्रकाशित लोकसभा चुनाव परिणाम, 1998 और भारत की जनसंख्या, 1931 मुम्बई (भाग दो सारणी) मुम्बई गवर्नमेंटल सेंट्रल प्रेस।

इसी तरह मराठों और कांग्रेस के बीच तादात्म्य को हमेशा समझ पाना मुश्किल है। जिस तरह दूसरी जातियां इसको सत्ता में लाने के लिये जानी जाती हैं वैसे ही कांग्रेस को अस्वीकार करने के लिये मराठों को जाना जाता है।

भाजपा-शिवसेना गठबंधन के साथ भी ऐसी ही स्थिति है। यह गठबंधन विशेष रूप से मुम्बई के शहरी क्षेत्रों में अच्छा प्रदर्शन करता है। दक्षिण मध्य मुम्बई, उत्तर पश्चिम मुम्बई और उत्तर मुम्बई पर 1991 के चुनाव से अब तक भाजपा-शिव सेना की पकड़ बनी हुई है। इन चुनाव क्षेत्रों में उत्तर मध्य मुम्बई और उत्तर पूर्व मुम्बई की तरह लगभग वही जाति परिदृश्य शामिल है, लेकिन यहां कांग्रेस ने इस दौरान अच्छा प्रदर्शन किया। सामान्यतया भाजपा-शिवसेना और कांग्रेस मुम्बई और उसके आसपास की चुनावी छीना-झपटी में शामिल हैं। ठीक ऐसे ही जाति परिदृश्य वाले क्षेत्रों में राजनीतिक निष्ठाएं भी

बदली हैं। और ऐसे ही समय में विभिन्न जाति संगठनों ने प्राय: उसी तरह का राजनीतिक परिणाम उत्पन्न किया है।

यदि हम मुस्लिम घटक में प्रवेश करें तो परिवेश किसी सार्थक दिशा में नहीं बदलता दिखता। उदाहरण के लिये मुम्बई को लें। दक्षिण मध्य मुम्बई में अपेक्षाकृत 15-20 प्रतिशत से अधिक मुस्लिम आबादी 1991-1998 के दौरान भाजपा-शिव सेना को सफलतापूर्वक चुनाव जीतने से नहीं रोक पाई। औरंगाबाद में जहां 15-20 प्रतिशत मुस्लिम जनसंख्या है, 1996 और 1991 में शिव सेना प्रत्याशी विजयी हुआ।

अनुसूचित जातियों की उपस्थिति को ध्यान में रखे बिना चित्र पूरा नहीं हो पाता। मराठवाड़ा के चारों ओर के चुनाव क्षेत्र जहां अनुसूचित जातियों की जनसंख्या बहुत अधिक है, भाजपा-शिवसेना गठबंधन की अपेक्षा कांग्रेस का प्रदर्शन अच्छा दिखाई देता है। लातूर नांदेड़ और उस्मानाबाद में कांग्रेस कुल मिलाकर अपने विरोधियों से अच्छी स्थिति में रही। इन सभी चुनाव क्षेत्रों में अनुसूचित जातियों की आबादी बहुत अधिक है, जो जनसंख्या का लगभग 20-25 प्रतिशत है। महाराष्ट्र में सिर्फ अकोला दूसरी जगह है जहाँ अनुसूचित जातियों की इतनी अधिक आबादी है। लेकिन यह अभी दिए गए उदाहरण की पुष्टि नहीं करता। 1991 और 1996 में भाजपा या भाजपा-शिव सेना गठबंधन ने चुनाव जीता। 1998 में जब आर पी आई झटका देकर जीती, जैसाकि हमने पहले कहा था, तो यह कांग्रेस के समर्थन से ही संभव हो पाया था।

यह स्पष्ट है कि जातीय निष्ठाएँ अस्थिर होती है जब यह चुनावी विकल्प के रूप में सामने आती हैं। निश्चय ही यहाँ जाति की अपेक्षा और बहुत कुछ महत्व रखता है। लेकिन महाराष्ट्र भविष्य में एक विशेष उदाहरण प्रस्तुत कर सकता है जबकि संख्या की दृष्टि से समूचे राज्य में अन्य सभी जातियों पर मराठों का आधिपत्य है। व्यावहारिक रूप में महाराष्ट्र के प्रत्येक अंचल में विशिष्ट वर्ग इसी जाति से आते हैं। (1981: 56- 57)

सारणी-2

महराष्ट्र में अनुसूचित जातियों की भारी उपस्थिति (20 प्रतिशत से अधिक) और चुनाव परिणाम

चुनाव क्षेत्र	चुनाव		
	1998	1996	1991
लातूर	कांग्रेस	कांग्रेस	कांग्रेस
नांदेड़	कांग्रेस	कांग्रेस	कांग्रेस
उस्मानाबाद	कांग्रेस	शिव सेना	कांग्रेस
अकोला	आर पी आई	भाजपा	शिव सेना

स्रोत- भारत की जनगणना, 1991, एच.डी.सिंह 1996, 543, फेसेज ऑफ इंडिया, नई दिल्ली: न्यूमैन प्रकाशन, अप्रकाशित लोक सभा चुनाव परिणाम, 1998, संजीव के. बेहरा 1999 भारत में अनुसूचित जातियों की साक्षरता पर आधारित आँकड़ा (1991 की जनगणना पर आधारित) नई दिल्ली: इंडियन सोशल इंस्टिट्यूट।

मराठा जाति अपनी अधिसंख्या के कारण आंतरिक स्तरीकरण में निर्लिप्त होने का साहस कर सकती है। जिस स्तर की बहुसंख्या मराठा जाति की है। यह संभवत: इसके आंतरिक स्तरीकरण के लिए जिम्मेवार हो। कम से कम यह एक संभावित व्याख्या हो सकती है। जब मराठों को किसी अन्य जाति से खतरा नहीं है तब बाहरी दुनिया में मराठों को एकजुट होने और संयुक्त मोर्चा बनाने की बाध्यता बिल्कुल नहीं है। लेकिन बिहार और उत्तरप्रदेश में कोई एक जाति संख्या की दृष्टि से प्रभुत्वशाली नहीं है जैसा महाराष्ट्र में

मराठा है। इसलिए यू. पी. और बिहार के तथ्यों से तस्वीर को थोड़ा और व्यापक रूप से समझने में सहायता मिलेगी।

उत्तरप्रदेश - यूपी के बारे में जनगणना से जो सूचना मिलती है वह वास्तव में चौकाने वाली है। केवल मुट्ठी भर जिलों में ब्राह्मण, राजपूत अहीर अथवा कुर्मी जैसी जातियों की आबादी मुश्किल है 15 से 20 प्रतिशत के बीच है। कानपुर और गोण्डा में ब्राह्मणों की जनसंख्या 15 से 20 प्रतिशत है: राबर्ट्सगंज में, (और कहीं नहीं) कुर्मियों की जनसंख्या 15 से 20 प्रतिशत के बीच है, सैदपुर, आजमगढ़ और जौनपुर में अहीरों की जनसंख्या 15 से 20 प्रतिशत है और अंततः गढ़वाल, टिहरी गढ़वाल और नैनीताल (अब उत्तरांचल एक अलग राज्य है।) में राजपूतों की जनसंख्या ज्यादा से ज्यादा 15 से 20 प्रतिशत है। 63 जिलों में से केवल 9 में तथाकथित उच्च-जातियों और प्रभुत्वशाली जातियों की उपस्थिति है। मुजफ्फरनगर, मेरठ, आगरा और सहारनपुर जैसे प्रसिद्ध जाट जिलों में जाटों की जनसंख्या मुश्किल से 10 प्रतिशत है। मुजफ्फरनगर में, जिसे व्यापक रूप से जाटों की मॉंद होने का दावा किया जाता है, जाट समुदाय की आबादी केवल 8.44 प्रतिशत है। बिजनौर, बुलंदशहर, आगरा और मेरठ जैसे जिलों में वैसी ही रूझान देखने को मिलती है। फिर भी ये जाट नेता चौधरी चरन सिंह से ख्यात रूप से जुड़े हुए हैं (भारत की जनसंख्या 1931, संयुक्त प्रांत, भाग दो सारणी)। निस्संदेह, एक क्षेत्र के साथ विशेष प्रभुत्वशाली कृषक जाति की पहचान केवल संख्या पर आधारित नहीं होती। तब ऐसा विश्वास क्यों है कि विशेष चुनाव क्षेत्रों में जाट, अहीर अथवा कुर्मी वहाँ की राजनीति को नियंत्रित करते हैं) उत्तर निश्चित रूप से केवल संख्या पर आधारित नहीं है।

आश्चर्यजनक रूप से, यूपी के प्रत्येक जिले में अनुसूचित जातियों की जनसंख्या वास्तव में 25 प्रतिशत से ऊपर और कुछ मामलों में यहाँ तक कि 30 प्रतिशत से अधिक है। फिर भी, यूपी में कोई क्षेत्र ऐसा नहीं है जो अनुसूचित जातियों द्वारा नियंत्रित होने के लिए जाना जाता हो। अगर संख्या और जाति निष्ठा को महत्वपूर्ण मान लिया जाए तो निश्चित रूप से अनुसूचित जातियों का यूपी में नियंत्रण होना चाहिए। मुजफ्फरनगर में जाटों की संख्या आबादी की लगभग 8.5 प्रतिशत है लेकिन वे अनुसूचित जातियों को नियंत्रित करने में समर्थ हैं, जिनकी संख्या आबादी की 20 प्रतिशत से भी ऊपर है।

इस पहेली का उत्तर आसानी से दिया जा सकता है कि प्रभुत्वशाली भूस्वामी जाट अनुसूचित जातियों को अधीनता स्वीकार करने के लिए धमकाते हैं, उनको राजनैतिक रूप से संगठित नहीं होने देते और शायद यहाँ तक कि उनको वोट डालने की अनुमति भी नहीं देते। ऐसी व्याख्या एक बार बहुत अकाट्य जान पड़ती है जिसके विश्लेषण में जाति जनसंख्या एक कारक होती है।

अतः केवल संख्या ही नहीं, बल्कि कुछ और है जो किसी जाति को दूसरी जातियों पर बढ़त दिलाती है। आज के समय में इसकी व्याख्या के लिए शक्ति के जो तर्क दिए जाते हैं वे उतने तर्क संगत नहीं लगते जितने कि ये पहले लगते थे। ऐसा

इसलिए है क्योंकि अनुसूचित जातियाँ आश्चर्यजनक रूप से ग्रामीण अधीनता से मुक्त होने में अब खुद को समर्थ पा रही हैं। ज्यादा से ज्यादा अनुसूचित जातियाँ रोजगार के कारण गाँव छोड़कर बाहर जाने लगी हैं, और अगर वे गाँव में रोजगार चाहती हैं, तो कृषि मजदूर के रूप में नहीं। अधिक संख्या के कारण यह स्थिति उत्पन्न हुई है क्योंकि गाँवों में पर्याप्त नौकरियाँ नहीं हैं। हरित क्रांति और जमीन के बँटवारे ने बड़ी जोतों को तोड़ दिया, परिणामस्वरूप यह पारिवारिक खेती या पूँजीवादी उद्यम में बदल गई। कृषि संबंधित रोजगारों की अनुपलब्धता का कम से कम एक हितकारी प्रभाव निश्चित है क्योंकि अब अनुसूचित जातियाँ जाट,गूजर अहीर, राजपूत जातियों के दबाव से मुक्त हैं और उनके पास अधिक राजनैतिक समझ है।

अनुसूचित जातियों और भूस्वामी जातियों के संबंधों में आए इस ढीलेपन का प्रभाव हमेशा अनुसूचित जातियों के शहरीकरण के रूप में ही नहीं आया अपितु अधिकांश मामलों में ये जातियाँ गाँव में रहते हुए अपने निकटवर्ती कस्बों या नगरों में काम करती रहीं। यद्यपि सच्चाई यह है कि इस परिवर्तन से, कि अब वे रोजगारों के लिए कृषि पर निर्भर नहीं रहे, जैसाकि पहले हुआ करते थे, उनकी राजनीतिक समझ बढी है और वे एक वैकल्पिक राजनैतिक व्यवस्था से जुड़ गए। यह आश्चर्यजनक नहीं है कि गत 10-15 वर्षो में बहुजन समाज पार्टी की राजनीति को उत्तर प्रदेश में विश्वसनीयता प्राप्त हुई। जब तक अनुसूचित जातियाँ एक कृषि मजदूर की तरह बिना किसी अवसर के गाँव में काम करती रहीं, बसपा जैसी पार्टियाँ उनके लिए सक्रिय राजनीतिक विकल्प के रूप में सामने नहीं आ सकीं। महाराष्ट्र में कुछ ऐसा घटित हुआ, जिसके कारण अनुसूचित जातियाँ खास कर महार, राजनैतिक रूप से सक्रिय हो सकीं। शिक्षा और शहरीकरण की दर महाराष्ट्र के महार समुदाय में सबसे अधिक है। पंथनिरपेक्ष शिक्षा और रोजगार की इसी प्रक्रिया के कारण ब्रिटिश इंडियन आर्मी में महार रेजीमेंट की स्थापना हुई। इसी उथल-पुथल के परिणाम के रूप में बी. आर. अम्बेडकर की रिपब्लिकन पार्टी का उदय हुआ। उत्तर प्रदेश की अनुसूचित जातियों में अब तक महाराष्ट्र की महार जाति जैसा कोई सांस्कृतिक उन्नयन नहीं हो पाया है, तब भी गाँव के बाहर आर्थिक अवसरों की पंथनिरपेक्षता ने निश्चित तौर पर बसपा की राजनीति को उत्तरप्रदेश में संगठित करने में अहम भूमिका निभाई है।

उत्तरप्रदेश की तमाम अनुसूचित जातियों में हरिजन (या चमार) सबसे अधिक विकसित हैं और इसलिए संक्षेप में यह कहना उचित होगा कि ये (चमार या हरिजन) अपने क्षेत्रों में अनुसूचित जातियों की राजनीति को नेतृत्व देने का काम करते हैं। जातिगत जनसंख्या और चुनावी परिणाम के आँकड़ों के दृष्टिकोण से देखने पर यह पता चलता है कि भाजपा और कॉंग्रेस तभी अच्छा प्रदर्शन करते हुए प्रतीत होते हैं जब ब्राह्मणों की जनसंख्या औसत से अधिक (अर्थात् 10-15 प्रतिशत) हो। ऐसा गढ़वाल, टिहरी गढ़वाल, नैनीताल, अल्मोड़ा, अमेठी और सुल्तानपुर क्षेत्रों में सच प्रतीत होता है। लेकिन ऐसे किसी भी निर्णय पर पहुँचने से पहले हमें यह भी देखना होगा कि सुलतानपुर और अकबरपुर में मोटे तौरपर एक जैसी जातीय रूपरेखा है। फिर भी उसके चुनावी

परिणाम बहुत अलग हैं। इन दोनों क्षेत्रों में ब्राह्मणों की जनसंख्या 10-15 प्रतिशत राजपूत और कुर्मी 5-10 प्रतिशत और अनुसूचित जातियाँ 25 प्रतिशत से अधिक हैं। तो भी सुलतानपुर में गत तीन चुनावों में भाजपा सफल रही है जबकि अकबरपुर में 1996 और 1998 का चुनाव बसपा ने जीता। अत: जाति संख्या पर आधारित कोई भी व्याख्या एक सीमा के बाद तर्कसंगत नहीं लगती।

भाजपा विभिन्न किस्म के जातीय संरुपों में सफल होती हैं या ऐसे भी क्षेत्रों में सफल होती रही है जहाँ ताकतवर अगड़ी जातियों की संख्या बहुत कम है। उदाहरण के लिए भाजपा खीरी, हरदोई, शाहाबाद क्षेत्रों में विजयी रही जहाँ ब्राह्मणों और राजपूतों की जनसंख्या 5-10 प्रतिशत है और अनुसूचित जातियाँ 25 प्रतिशत से अधिक हैं। गत तीन चुनावों में भारतीय जनता पार्टी ने एटा और बरेली में भी अच्छा प्रदर्शन किया है।

एटा की जनसंख्या में अहीर लगभग 11.7 प्रतिशत हैं और बरेली में कुर्मी लगभग 10.2 प्रतिशत। ऐसा ही गोरखपुर के बारे में भी कहा जा सकता है। यह रूझान सैदपुर में कुछ अधिक मजबूती के साथ सामने आता है। अहीर की जनसंख्या यहाँ काफी अधिक लगभग 15-20 प्रतिशत के बीच है। जबकि अन्य जगहों पर, जहाँ अहीर और कुर्मी जैसी जातियाँ 15-20 प्रतिशत तक हैं, मुलायम सिंह यादव की समाजवादी पार्टी अच्छा प्रदर्शन करती हुई प्रतीत होती है। यह आजमगढ़, जौनपुर और गाजीपुर क्षेत्रों में निश्चित रूप से सच है। यद्यपि ऐसा भी नहीं है कि ये क्षेत्र सपा या

सारणी-3

यूपी लोकसभा चुनावों में बसपा की प्रगति

वर्ष	वोट का प्रतिशत
1985	2.6
1989	9.5
1991	11.0
1996	20.6
1998	22.0

सारणी-4

औसत से अधिक ब्राह्मण जनसंख्या और चुनाव परिणाम

चुनाव क्षेत्र	ब्राह्मण (%)	चुनाव		
		1998	1996	1991
गढ़वाल	5-10	भाजपा	कांग्रेस	कांग्रेस
टिहरी गढ़वाल	वही	भाजपा	भाजपा	कांग्रेस
नैनीताल	वही	भाजपा	कांग्रेस	कांग्रेस
अल्मोड़ा	वही	भाजपा	भाजपा	कांग्रेस
अमेठी	10-15	भाजपा	कांग्रेस	----
सुल्तानपुर	वही	भाजपा	भाजपा	भाजपा
अकबरपुर	वही	बसपा	बसपा	जद

स्रोत: एच.डी. सिंह 1996, 543 फेसेज ऑफ इंडिया नई दिल्ली न्यूमैन प्रकाशन: भारत की जनसंख्या 1931 संयुक्त प्रांत आगरा और अवध (भाग दो सारणी) इलाहाबाद एसपीएस अप्रकाशित लोकसभा चुनाव परिणाम 1998

जद की झोली में हैं। भाजपा और यहाँ तक कि बसपा ने भी कुछ क्षेत्रों में उतना ही अच्छा प्रदर्शन किया है। जद या सपा द्वारा जीते गए क्षेत्रों को ध्यान में रखते हुए ऐसा स्पष्ट है कि इन विजयों और जाति संख्या के बीच कोई रैखिक अंतर्सम्बन्ध नहीं है। इस सन्दर्भ में यह कहना अधिक सभीचीन होगा कि एक जैसी जातीय संरचना में विभिन्न किस्म के चुनावी परिणाम संभव हैं। उदाहरण के तौर पर मुरादाबाद, खीरी, हरदोई, शाहाबाद और मिश्रिख को लिया जा सकता है। इन क्षेत्रो में अहीर, ब्राह्मण, कुर्मी और अनुसूचित जातियों का अनुपात मोटे तौर पर एक जैसा है फिर भी अलग-अलग क्षेत्रों में और कभी-कभी एक ही क्षेत्र में विभिन्न चुनावों के परिणाम काफी अलग हैं।

बहुजन समाज पार्टी और अनुसूचित जातियों की जनसंख्या के बीच का संबंध का भी बहुत है। जैसाकि हम लोगों ने पहले भी देखा है, केवल संख्या के आधार पर उत्तर प्रदेश की जनसंख्या में अनुसूचित जातियाँ सबसे अधिक हैं औसतन ये उत्तर प्रदेश की कुल जनसंख्या में लगभग 21 प्रतिशत है।

औसतन ये उत्तर प्रदेश की कुल जनसंख्या कुछ क्षेत्रों में 25 प्रतिशत से अधिक हैं फिर भी बसपा सदैव उन क्षेत्रों में भी अच्छा प्रदर्शन नहीं कर पाती है जहाँ अनुसूचित जातियों की संख्या बहुत अधिक है। उदाहरण के तौर पर उन्नाव, राय बरेली, अमेठी, सुल्तानपुर के बाद, बासगाँव, चायल जहाँ अनुसूचित जातियों की जनसंख्या बहुत अधिक है अर्थात् 25 प्रतिशत से अधिक है, में भी बसपा कोई महत्वपूर्ण प्रभाव छोड़ने में असफल रही है। यद्यपि मिश्रिख में बसपा की विजय को इस तर्क से जोड़ा जा सकता है क्योंकि यहाँ अनुसूचित जातियाँ 25 प्रतिशत से अधिक हैं। लेकिन

सारणी-5

भाजपा के गढ़ और चुनाव क्षेत्रों की जाति संरचना

चुनाव क्षेत्र	जातियाँ और उनका प्रतिशत				
	अहीर	ब्राह्मण	राजपूत	कुर्मी	अनुसूचित जातियाँ
खीरी	5-10	5-10	5-10	5-10	25 से अधिक
हरदोई	वही	वही	वही	वही	वही
शाहाबाद	वही	वही	वही	वही	वही
एटा	10-15	वही	वही	वही	15-20
बरेली	5-10	वही	वही	वही	वही
गोरखपुर	10-15	10-1	वही	10-15	वही
सैदपुर	15-20	5-10	वही	5-10	25 से अधिक

स्रोत: एच डी सिंह, 1996, 543, फेसेज ऑफ इंडियन नई दिल्ली न्यूमैन प्रकाश, भारत की जनसंख्या 1931, संयुक्त प्रांत आगरा और अवध (भाग दो सारणी) इलाहाबाद एसपीएस।

मिश्रिख एक सुरक्षित क्षेत्र भी है इसलिए ऐसा दावे के साथ नहीं कहा जा सकता कि सिर्फ जाति की संख्या के कारण ही यह अंतर है। दूसरी तरफ बहराइच में अनुसूचित जातियों की संख्या औसत से कम है फिर भी बसपा गत चुनाव में सफल रही। दिलचस्प बात यह है कि बहराइच क्षेत्र से भाजपा 1991 और 1996 में दोनों बार जीती थी। बसपा की सफलता को अनुसूचित जातियों में साक्षरता से भी नहीं जोड़ा जा सकता, यद्यपि 1998 में बसपा वस्तुतः 4 ही क्षेत्रों में विजयी हुई थी। लेकिन यह 14 जगहों पर दूसरी सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उभर कर सामने आई। अगर हम इन अठारहों क्षेत्रों को एक साथ रखें तो पाएँगे कि बसपा का यह प्रदर्शन न तो अनुसूचित जातियों की जनसंख्यां और न ही उसकी साक्षरता से जोड़ा जा सकता है।

सारणी–6

अहीर जनसंख्या का प्रतिशत और जनता दल (जद)/समाजवादी पार्टी (एसपी) के परिणाम

चुनाव क्षेत्र	अहीरों का प्रतिशत	चुनाव परिणाम 1998	1996	1991
आजमगढ़	15-20	बसपा	सपा	जद
जौनपुर	वही	सपा	भाजपा	जद
गाजीपुर	वही	सपा	भाजपा	अन्य

स्रोत : एच.डी. सिहं 1996, 543, फेसेज ऑफ इंडिया, नई दिल्लीः न्यूमैन प्रकाशनः भारत की जनसंख्या, 1931 संयुक्त प्रांत आगरा और अवध (भाग दो सारणी) इलाहाबाद :एसपीएसः अप्रकाशित लोकसभा चुनाव परिणाम 1998

सारणी–7

जातीय संयोजन और चुनाव परिणाम

चुनाव क्षेत्र	जाति संयोजन (%) अहीर	ब्राह्मण	राजपूत	कुर्मी	अनुसूचित जातियाँ	चुनाव 1998	1996	1991
मुरादाबाद	5-10	5-10	5-10	5-10	15-20	एसपी.	एसपी	
खीरी	वही	वही	वही	वही	वही	भाजपा	एसपी	भाजपा
हरदोई	वही	वही	वही	वही	25 से आधिक	भाजपा	एसपी	भाजपा
शाहाबाद	वही	वही	वही	वही	वही	बसपा	भाजपा	भाजपा
मिश्रिख	वही	वही	वही	वही	वही	भाजपा	बसपा	----

स्रोत : एच डी. सिहं 1996, 543, फेसेज ऑफ इंडिया, नई दिल्लीः न्यूमैन प्रकाशनः भारत की जनसंख्या, 1931 संयुक्त प्रांत आगरा और अवध (भाग दो सारणी) इलाहाबाद :एसपीएसः अप्रकाशित लोकसभा चुनाव परिणाम 1998

औसत से कम अनुसूचित जातियों की जनसंख्या और साक्षरता वाले क्षेत्रों, पीलीभीत और बहराइच, में बसपा जीत गई जबकि सहारनपुर और मथुरा, जहाँ अनुसूचित जातियों में साक्षरता की दर उत्तर प्रदेश में औसत से अधिक है, बसपा दोनों स्थानों पर दूसरे स्थान पर रही। यह निष्कर्ष अन्य निष्कर्षों की भांति एक मोटा अनुमान है। क्योंकि हमारे पास साक्षरता और जातिगत जनसंख्या का क्षेत्रवार कोई अनुमान नहीं है। मिश्रिख, अकबरपुर, हाथरस और खुर्जा क्षेत्रों के मामले में अनुसूचित जातियों की जनसंख्या के अनुपात और साक्षरता की दर के आँकड़े मुझे संतुष्ट नहीं कर सके। इसलिए मैं कोई अनुमान नहीं कर रहा। ऐसे मामलों में क्षेत्रकार्य से ही मदद मिल सकती है।

जब उस क्षेत्र का मानचित्रण करें जहाँ बसपा बहुत मजबूत है, यह संकेत करना दिलचस्प होगा कि वे चार पट्टियों का एक गुच्छा प्रतीत होते हैं जो भौगोलिक रूप से बिल्कुल अलग हैं। पहला उत्तर मध्य क्षेत्र है जिसमें पीलीभीत, शाहाबाद, सीतापुर और मिश्रिख शामिल हैं।

दूसरा, यूपी की पूर्वी पट्टी है जहाँ सलेमपुर, घोसी, आजमगढ़, लालगंज और सैदपुर अवस्थित हैं। बसपा के प्रभाव वाला तीसरा क्षेत्र दक्षिणपूर्व यूपी में है जिसमें बाँदा, फतेहपुर, बिल्हौर और जालौन जैसे चुनाव क्षेत्र हैं। अंतत: दक्षिण पश्चिम यूपी में मथुरा, हाथरस और खुर्जा जैसे चुनाव क्षेत्रों में बसपा की उपस्थिति निश्चय ही महत्वपूर्ण है। जनसंख्या अथवा साक्षरता के सम्बन्ध में यहाँ ऐसा कुछ भी नहीं है कि वे बसपा के उत्कर्ष के इन चारों क्षेत्रों को एकताबद्ध करते हों। यहाँ तक कि ये तथ्य व्याख्या को प्रोत्साहित करते हैं कि बसपा निकटस्थ चुनाव क्षेत्रों के इन चार भूखण्डों में सशक्त है और यह कि निकटता की सहक्रिया से राजनीतिक शक्ति ग्रहण करती है। चुनाव क्षेत्रों के आरपार की सामूहिक संख्या सपा के आत्म विश्वास को टिकने में मदद करती हैं जो उन्हें बसपा का समर्थन करने में संगत रूप से कुछ कुछ समर्थ बनाता है। यह तथ्य अनुसूचित जातियों और बसपा की सांगठनिक क्षमता संबंधी कमजोरी का भी संकेत करता है। क्या वे सांगठनिक स्रोत और क्षमता की दृष्टि से रिक्त हैं कि वे भोगोलिक जमावड़े से अपना बनाव-सिंगार करते हैं।

सारणी-8

यूपी के कुछ चुनाव क्षेत्रों में अनुसूचित जातियों की जनसंख्या का प्रतिशत, साक्षरता दर और बसपा का प्रदर्शन

चुनाव क्षेत्र	साक्षरता			जनसंख्या			1998 के चुनाव में बसपा की स्थिति
	उच्च	औसत	कम	उच्च	औसत	कम	
पीलीभीत			✓			✓	दूसरी स्थिति
सीतापुर			✓	✓			दूसरी स्थिति
बहराइच			✓			✓	पहली स्थिति
घोसी		✓		✓			दूसरी स्थिति
आजमगढ़		✓			✓		पहली स्थिति
फतेहपुर		✓			✓		दूसरी स्थिति
जालौन	✓			✓			दूसरी स्थिति
मथुरा	✓					✓	दूसरी स्थिति

स्रोत: भारत की जनसंख्या 1991, अप्रकाशित लोक सभा चुनाव परिणाम, 1998, संजीव के बेहरा 1999, भारत में अनुसूचित जाति की साक्षरता पर आधारित आँकड़ा (1991 की जनगणना पर आधारित) नई दिल्ली : भारतीय सामाजिक संस्थान ।

बिहार : बिहार में पिछले तीन लोक सभा चुनावों में कांग्रेस का कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं रहा। बिहार में असली लड़ाई जनता दल अथवा इसके अवतार राजद और भाजपा के बीच है। राजद निश्चित रूप से 1998 के पिछले संसदीय चुनाव में भाजपा से पराजित हुई। जाति और राजनीति के बीच का सम्बन्ध यहाँ थोड़ा स्पष्ट है, अपेक्षाकृत महाराष्ट्र और यूपी के। लेकिन इस मामले में भी कोई विकल्प नहीं है जहाँ-जहाँ यादव और अहीर जैसी प्रभुत्वशाली कृषक जाति बहुसंख्यक होने का फायदा उठाती हो। महोपुरा, छपरा, आरा, खगड़िया, पटना और नवादा जैसे मुट्ठी भर चुनाव क्षेत्रों में यादवों की जनसंख्या 15 से 20 प्रतिशत के बीच है। बिहार में यादव जनसख्या में हिस्सेदारी के सम्बन्ध में कहीं भी कुछ ज्यादा नहीं करते हैं। बिहार में जाति गणित की अधिक व्याख्या नहीं की जा सकती, सामान्य प्रभाव के बिल्कुल प्रतिकूल भी।

यहाँ तक कि विशेष नमूनों को धुंधले रूप में पहचाना जा सकता है। रॉची कोडरमा, जमशेदपुर और गिरीडीह में मुसलमानों, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों (एसटीज) का भारी जमावड़ा है। इन क्षेत्रों में यादवों की संख्या बिल्कुल कम है। गिरीडीह और कोडरमा में यादवों की जनसंख्या लगभग 15-20 प्रतिशत है जबकि रॉची में वे 5 प्रतिशत से कम हैं। इन सभी तीन चुनाव क्षेत्रों में भाजपा बहुत सशक्त है। रॉची में पिछले तीन चुनावों में वह प्रत्येक बार विजयी रही, जबकि कोडरमा, जमशेदपुर और गिरीडीह में उसने तीन में से दो पर विजय प्राप्त की। इससे निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। यादवों की संख्या बहुत नहीं है, लेकिन अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और मुसलमानों का अनुपात जनसंख्या का लगभग 50 प्रतिशत ठहरता है, इसके आसार हैं कि जद अथवा लालू प्रसाद यादव के राजद को भाजपा से कड़ी चुनौती का सामना करना पड़ें। खूँटी, पूर्णिया, राजमहल, गोड्डा और सिंहभूम जैसे अन्य चुनाव क्षेत्रों के बारे में भी इस निष्कर्ष को फैलाया जा सकता है। वे सभी इस नमूने में सटीक प्रतीत होते हैं। जहाँ यादवों की आबादी कम है, मसलन समूची जनसंख्या का 10 से 15 प्रतिशत के बीच, वहाँ आमतौर से भाजपा को बढ़त मिलती है। कुछ उदाहरणों में, ऐसे जाति स्वरुपों ने कांग्रेस और झारखण्ड मुक्ति मोर्चा (झामुमो) को भी मदद पहुँचाई हैं। जैसाकि हम निष्कर्ष पर पहुंच रहे हैं, किशनगंज और अररिया जैसे स्थानों के उदाहरणों को नजर अंदाज नहीं कर सकते, जो जद या राजद के गढ़ हैं, यद्यपि यादवों की जनसंख्या यहाँ पर 5 से 10 प्रतिशत के बीच ही है। जनसंख्या के आकार के संबंध में इसकी व्याख्या करना आसान नहीं है। अररिया में मुसलमानों, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों की आबादी 50 प्रतिशत से अधिक है फिर भी जद 1991 और 1996 में इन दो सीटों में ही जीत पाई। जबकि भाजपा ने 1998 में यह सीट जद से झपट ली। दूसरी ओर, किशनगंज में यादवों की आबादी 5 से 10 प्रतिशत के बीच होने के बावजूद जद या राजद ने 1991, 1996 और 1998 के सभी तीनों चुनाव जीत लिए। इसमें एक और संकेत जोड़ दें कि यह बहुत संभव है कि जद यादवों की

कम संख्या के बावजूद अच्छा प्रदर्शन करें क्योंकि यह कमी मुसलमानों के अधिक अनुपात के कारण पूरी हो जाती है। जैसाकि यह तार्किक ढंग से मान लिया जाता है कि मुसलमान भाजपा को वोट नहीं देते हैं, बजाय इसके, बहुत संभव है कि वे जद या राजद को वोट देते हों। जद या राजद ने यादवों की कम संख्या के बावजूद अच्छा प्रदर्शन क्यों किया है, इसे समझा जा सकता है। जबकि इस अधिक अनुपात मुसलमानों को बाहर रखने में सहायक होता है। कभी-कभी कांग्रेस और अन्य मौकों पर जद अथवा राजद इन चुनाव क्षेत्रों में जीतती रही है। यह बड़े विस्तार से व्याख्या करता है कि लालू यादव का राजद मुस्लिम अल्पसंख्यकों में अपनी धर्म निरपेक्ष छवि को क्यों प्रमाणित करना चाहता है? अगर कोई इन मामलों को धोखा समझता है जहाँ जद/राजद यादवों की 10

सारणी-9

कम अहीर जनसंख्या (10 प्रतिशत से कम) और चुनाव परिणाम (सारणी में अन्य जातियों के प्रतिशत को भी दिखाया गया है)

चुनाव क्षेत्र	मुस्लिम	अ.जा.	अ.ज.जा.	अहीर	ब्राह्मण	राजपूत		परिणाम	
	%	%	%	%	%	%	1998	1996	1991
जमशेदपुर	5-10	10-15	20-25	5-10	5-10	5 से कम	भाजपा	भाजपा	जद
खूँटी	वही	वही	वही	5 से कम	5 से कम	वही	भाजपा	भाजपा	भाजपा
पूर्णिया	20-25	15-20	10-15	5-10	वही	वही	भाजपा	समता	—
राजमहल	वही	10-15	20-25	वही	वही	वही	भाजपा	कांग्रेस	अन्य
दुमका	10-15	वही	वही	वही	वही	वही	भाजपा	झामुमो	अन्य
गोड्डा	वही	वही	15-20	वही	वही	वही	भाजपा	भाजपा	अन्य
सिंहभूम	5-10	वही	20-25	5 से कम	वही	वही	कांग्रेस	भाजपा	जद
राँची	10-15	वही	वही	वही	वही	वही	भाजपा	भाजपा	भाजपा

स्रोत: एच डी. सिंह, 1996, 543 फेसेज ऑफ इंडिया, नई दिल्ली: न्यूमैन प्रकाशन: भारत की जनगणना, 1931, बिहार और उड़ीसा (भाग दो सारणी), पटना: एस पी एस अप्रकाशित लोकसभा चुनाव परिणाम, 1998

गठजोड़ ने राजमहल और पूर्णिया में असर नहीं दिखाया, जहाँ भाजपा ने अपने प्रतियोगियों की अपेक्षा बहुत अच्छा प्रदर्शन किया।

मैं राजमहल और पूर्णिया जैसे असामान्य मामलों पर अभी विचार करना चाहता हूँ जो आगे की जाँच पड़ताल के लिए आवश्यक है। सामान्यतया, यादवों की कम संख्या के बावजूद मुसलमानों का से 15 प्रतिशत जनसंख्या के साथ जीत गया है, तो इसकी व्याख्या करना कठिन है कि कैसे जातियाँ पंक्तिबद्ध हुई। वैसी ही सच्चाई उन निर्वाचन क्षेत्रों में है जहाँ जद/राजद का मिलाजुला परिणाम देखने को मिला। 10-15 प्रतिशत यादव जनसंख्या के साथ जद/राजद ने गोपालगंज, हाजीपुर, मुजफ्फरपुर और झंझारपुर जैसे स्थानों में अच्छा

प्रदर्शन किया, जबकि बलिया, मोतिहारी अथवा बेतिया जैसे निर्वाचन क्षेत्रों में, जहाँ यादवों की जनसंख्या 10 से 15 प्रतिशत है, जद/राजद का मिलाजुला परिणाम देखने को मिला। ऐसे मामलों के ज्यादातर उदाहरणों में जाति संख्या की दृष्टि में चुनावी परिणामों की व्याख्या करना कठिन है।

बिहार के परिदृश्य में मुख्य सहसंबंध यादवों के मध्यम आकार के प्रतिनिधित्व और जद या राजद की विजय के बीच है। जहानाबाद, सीतामढ़ी और नवादा जैसे चुनाव क्षेत्रों को छोड़कर जद/राजद ने उन क्षेत्रों में पिछले तीन चुनावों में विजय हासिल की, जहाँ यादवों की जनसंख्या 15 से 20 प्रतिशत के बीच है। मधेपुरा, छपरा, आरा, मुँगेर, पटना, बाढ़ और खगड़िया के लिए भी यह सच है। जब 15 से 20 प्रतिशत यादवों की जनसंख्या और जद/राजद की जीत के बीच का सह संबंध इतना प्रभावशाली है तो इसकी व्याख्या नहीं की जा सकती कि कैसे जद या राजद जीत गई। यह अनुमान नहीं किया जा सकता कि राजपूत, भूमिहार या कोइरी जातिगत बाध्यता से बहककर एक प्रत्यक्ष यादव पार्टी को वोट देंगे। विशेष रूप से बिहार के ग्रामीण इलाकों में इन जातियों के बीच घोर शत्रुता और प्रतिद्वन्द्विता है। इस शुद्ध जातीय गणित के रूप में, जद या राजद को यादवों की संख्या में बढ़ोत्तरी के लिए दूसरे हिस्सों से मदद की जरूरत है। वस्तुत: माना यह जा रहा है कि यादव जद/राजद को थोक में मतदान करते हैं।

यादवों की संख्या और जद/ राजद की जीत के बीच का संबंध इस प्रकार, इतना स्पष्ट नहीं है। जैसाकि पहले उल्लेख किया जा चुका है,

सारणी-10

कुछ चुनाव क्षेत्रों में 10 से 15 प्रतिशत के बीच यादवों की जनसंख्या और मिश्रित चुनाव परिणाम

चुनाव क्षेत्र		चुनाव	
	1998	1996	1991
गोपालगंज	समता	जद	जद
हाजीपुर	–	–	–
वैशाली	राजद	जद	जद
मुजफ्फरनगर	राजद	जद	जद
झंझारपुर	राजद	जद	जद
बलिया	राजद	भाजपा	अन्य
मोतिहारी	राजद	भाजपा	अन्य
बेतिया	भाजपा	भाजपा	जद
मधुबनी	कांग्रेस	भाजपा	अन्य

स्रोत : एच.डी.सिंह, 1996, 543 फेसेज ऑफ इंडिया, नई दिल्ली: न्यूमैन प्रकाशन: भारत की जनसंख्या, 1931 (भाग दो सारणी): अप्रकाशित लोक सभा चुनाव परिणाम, 1998

सारणी-11

15 से 20 प्रतिशत के बीच अहीर जनसंख्या और जद/राजद का प्रदर्शन

चुनाव क्षेत्र		चुनाव	
	1998	1996	1991
मधेपुरा	राजद	जद	जद
आरा	एस एपी	जद	जद
मुंगेर	राजद	जद	अन्य
बाढ़	समता	जद	जद
खगड़िया	समता	जद	जद
पटना	–	जद	–
नवादा	राजद	भाजपा	अन्य
छपरा	राजद	भाजपा	जद
जहानाबाद	राजद	भाकपा	अन्य

स्रोत : एच.डी.सिंह 1996, 543, फेसेज ऑफ इंडिया,
न्यूमैन प्रकाशन: भारत की जनसंख्या, 1931 बिहार और उड़ीसा: पटना: एस पी एस, अप्रकाशित लोकसभा चुनाव परिणाम, 1998

मात्र संख्या के लिहाज से यादवों की अधिकता शुरू से कहीं नहीं है। ज्यादा से ज्यादा उनकी आबादी 15 से 20 प्रतिशत तक है। अगर अन्य कृषक जाति कुर्मी को शामिल करके देखें तो कोई स्पष्ट तस्वीर नहीं बन पाती। कुर्मी पटना और दक्षिण बिहार के हजारीबाग और छोटानागपुर जैसे चुनाव क्षेत्रों में बड़ी संख्या में पाए जाते हैं। पटना में जद/राजद अच्छा प्रदर्शन करती है लेकिन इस क्षेत्र में यादव भी हैं। हजारी बाग, राँची और सिंहभूम में, जहाँ कुर्मियों की कुछ उपस्थिति है, जद/राजद की स्थिति पूरे बिहार राज्य में सबसे कमजोर है।

जातीय गणित या जातीय रसायन

इस आलेख में जिन मामलों का अध्ययन किया गया है उससे चुनावी परिणाम को निर्धारित करने वाले जातीय गणित का कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता। हम इस संबंध में बात करने के अभ्यस्त हो गए हैं कि जाट अथवा यादवों के गढ़ों को पूरी तरह जाति संख्या का श्रेय नहीं दे सकते। वस्तुत: यादव या गूजर या जाट अथवा कुर्मी किसी चुनाव क्षेत्र में संख्या की दृष्टि से कम होते हैं। जबकि तथ्य यह है कि राजनीतिज्ञ जाति के आधार पर गणित बैठाते हैं और उम्मीदवार भी इस आधार को पसंद करते हैं। इसका केवल यह अर्थ है कि मतदाताओं के सामने जातीय संबंध को पसंद के रूप में रखा जाता है लेकिन ऐसा नहीं है कि वोट हमेशा इसी तर्क के अनुसार डाले जाते हैं। समझने की बात यह है कि राजनीतिज्ञ जातीय गणित बैठाने का प्रयास क्यों करते हैं। उनमें से ज्यादातर तो यही चाहते हैं कि उनकी जाति के सदस्य उन पर विश्वास करें और उनकी बात को आगे बढ़ाएँ।

जबकि मतदाताओं के दृष्टिकोण से मामला बिल्कुल अलग है। मतदाता केवल उन्हीं को वोट देते हैं जो सचमुच चुनावी प्रतिस्पर्धा में शामिल होते हैं। तब सवाल यह उठता है कि विशेष जातियाँ एक उम्मीदवार के रूप में अन्य जातियों से विशिष्ट क्यों हैं? साथ ही एक सवाल और पूछा जाना चाहिए कि अनुसूचित जातियाँ वैसा क्यों नही कर पातीं जैसा उन्हें करना चाहिए, यद्यपि अधिकांश चुनाव क्षेत्रों में जनसंख्या का प्रतिनिधित्व उनके अनुकूल है। हम आसानी से राजनीति को जातिसंख्या से समीकृत क्यों करते हैं? इसका कारण है जातियों की सांगठनिक क्षमता की संभावना का होना। ज्यादा गरीब अनुसूचित जाति और अनुसूचित जन जातियों की संख्या अच्छी खासी है लेकिन उनके पास सांगठनिक क्षमता की कमी है। राजनीति केवल संख्या ही नहीं है, यह सम्मिलित और संगठित रीति से सत्ता का उपभोग करने की क्षमता भी है। यहाँ आर्थिक क्षमता और संबंधित वित्तीय सुरक्षा महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। ऐसा भारतीय किसान यूनियन के जाट नेता महेन्द्र सिंह टिकैत, द्वारा स्वीकार किया गया है। बिहार के पिछड़े जिलों का दौरा करने के बाद उन्होंने कहा कि वे पूरी तरह समझ सके हैं कि वहाँ गरीबी से त्रस्त किसान अपनी माँगों को लेकर उस तरह आंदोलन क्यों नहीं करते जिस तरह पश्चिमी यूपी के जाट और गूजर करते हैं। टिकैत को उद्धृत करें-

हमने भोपाल में चालीस दिन आंदोलन करते हुए बिताए, लेकिन पलामू और उड़ीसा के कालाहांडी के बदनसीब किसान इतने गरीब हैं कि वे इस तरह के प्रतिरोध को लम्बे समय तक जारी

नहीं रख सकते। मैं सचमुच उनका दुख अनुभव करता हूँ और ईश्वर का धन्यवाद करता हूँ कि हम अपेक्षाकृत उनसे बेहतर हैं। (गुप्ता :1997 : 94)

दीर्घकालीन राजनीतिक रीतिरिवाज में भागीदारी के योग्य होने के लिए अकेले संख्या का महत्व नहीं है। सांगठनिक रूप से प्रभावशाली होने की क्षमता के लिए निश्चित मात्रा में आर्थिक सुरक्षा की जरूरत होती है जिसे प्रायः गरीब जातियाँ जुटाने में सक्षम नहीं हैं (देखें बोस 1992:379) यह तथ्य कि जाति संख्या और चुनाव परिणाम साथ-साथ नहीं चलते, यह उन्हें आगाह करता है जो जातीय गणित के लोभ का संवरण नहीं कर पते। हर बार चुनाव के सन्निकट आने पर ऐसा माना जाता है कि जाति के हितैषी आम आदमी और उम्मीदवार दोनों पर अपना प्रभाव छोड़ेंगे।

ऐसी गणना में जो अच्छा काम करता है उस दिन वही जीतता है। तर्क की प्रजातियाँ न केवल इस यथार्थ को नजर अंदाज करती हैं, कि किसी भी जाति के पास अपने बूते चुनाव जीतने की यथेष्ट संख्या नहीं होती, अपितु यह जाति व्यवस्था को भी नहीं समझती हैं। यह न तो इसके गुणधर्म को, न ही इसके तर्क को समझती हैं। ऐसा नहीं है कि मानो तमाम कृषक जातियाँ बिना किसी समस्या के इसलिए स्वतःस्फूर्त ढंग से एकजुट होती हैं क्योंकि ब्राह्मण जातियाँ उन लोगों को एक-दूसरे के निकट लाती हैं। शुरूआत के लिए, जैसाकि हमें मालूम है, हिन्दू व्यवस्था में स्तरीकरण परस्पर विकर्षण के कारण पैदा होता है। यह तमाम जातियों के लिए सच है। ऐसी जातियों के लिए भी सच है, जो बाहर के पर्यविक्षक के लिए एक दिखती हैं। उदाहरण के लिए, उत्तरप्रदेश की जाट और गूजर जातियाँ एक दूसरे के विरोध में खड़ी होती हैं जबकि प्रथम दृष्टया मालिक और किसान के रूप में उन्हें एक-दूसरे का स्वाभाविक मित्र होना चाहिए। ऐसे उदाहरण उत्तरप्रदेश के पटवारी और कायस्थ में, बंगाल के मेचो और हेलो में या मराठवाड़ा के मंग, मतंग, चमार और महार जातियों में सर्वत्र विद्यमान हैं।

इसलिए अंतर्जातीय एकजुटता अपने आप में जाति व्यवस्था के तर्क को झुठलाती है। अगर कोई इस सच्चाई को अपने तर्क में शामिल कर ले कि कोई भी जाति अपने बूते पर निर्विवाद रूप से चुनाव नहीं जीत सकती तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जाति आधारित अनुमान गलत क्यों हो जाते हैं? महाराष्ट्र जैसे राज्यों में जहाँ मराठा संख्यात्मक दृष्टि से सर्वाधिक हैं, उनके वोट विभिन्न पार्टियों, जैसे कांग्रेस, भाजपा और शिवसेना, में बँटे हुए हैं। यह बात रेखांकित करने की आवश्यकता है किसी एक की निष्ठा किसी एक किस्म की जाति, क्षत्रिय, शूद्र या ब्राह्मण, की तरह निश्चित नहीं है। किसी हिन्दूजाति का अपनी जाति से लगाव सबसे अधिक होता है। उदाहरण के तौर पर ब्राह्मण जातियाँ आपस में इस बात को लेकर बराबर लड़ती रहती हैं कि कौन किससे श्रेष्ठ है। जैसाकि सारस्वत ब्राह्मण और चितपावन ब्राह्मण के स्तर पर हमेशा विलगाव दिखाई पड़ जाता है। यह वही तर्क है जिस पर जाति व्यवस्था जीवित है।

अजगर' और 'खाम' दो ऐसे बहुचर्चित गठबंधन हैं जिसका गहन परीक्षण करने पर कुछ खास संकेत मिलते हैं। अजगर गठबंधन में अहीर, जाट, गूजर और राजपूत जातियाँ शामिल हैं

जबकि खाम में क्षत्रिय, हरिजन आदिवासी और मुस्लिम हैं। जाति व्यवस्था के तर्क में ऐसे मोर्चे मुश्किल से सामने आते हैं। जैसाकि क्षत्रिय और हरिजन की एकजुटता किसी भी जाति की विचार धारा को समझने वाले के लिए सोच से परे है। इस गठबंधन का मुस्लिम एक सदस्य है, यह सच्चाई हिन्दू समाज व्यवस्था के औचित्य पर ही प्रश्नचिह्न लगाती है। जाति व्यवस्था और जाति की विचारधारा में क्षत्रिय और मुस्लिम अथवा जाट और गूजर के बीच का गठबंधन समझ पाना तर्क से परे है। पश्चिमी यूपी में जाट या गूजर के बीच बहुत तीखी प्रतिद्वन्द्विता है। वे एक-दूसरे पर कायरता, नैतिक अशुद्धता और बुराई का आरोप लगाते हैं। वे कई मौकों पर एक-दूसरे से भिड़ जाते हैं। बावजूद इसके, यह कैसे संभव है कि गुजरात में कृषक, कोली, बेअरा और राजपूत के साथ मिलकर नई उभरती कृषक पटीदार जाति का विरोध करें? यह कैसे हुआ, कि विश्रामपुर में कुर्मियों ने सामूहिक उद्देश्य के लिए अन्य जातियों के साथ यादवों पर हमला किया, जो उन्हीं की तरह किसान हैं?

इस प्रकार जाति गठबंधन दुनियावी और राजनीतिक कारणों से उत्पन्न होता प्रतीत होता है। और यह आदिम निष्ठा से होकर नहीं निकलता। अखिल भारतीय कुर्मी सभा अयोध्या, धानुक, महतो, कोइरी और कुर्मियों जैसी जलग-अलग जातियों को मिलकार बनाई गई है। ये जातियाँ न केवल अंतर्जातीय विवाह ही नहीं करती हैं, बल्कि अधिकतर मामलों में, यहाँ तक कि उनके साथ-साथ खान-पान में भी समस्या उठ खड़ी होती है। 1920 के अवध किसान आंदोलन में कुर्मी, पासी और मुसलमान भूस्वामियों के खिलाफ साथ-साथ खड़े हुए। लेकिन अपने संघर्ष के दौरान उन्होंने अलग-अलग रसोई में भोजन किया। (देखें: सिद्दीकी, 1978 : 117) तब जातियों के बीच ऐसी क्षैतिज एकजुटता क्या लाती है। वस्तुतः यह उनके निरपेक्ष स्वार्थों की उभयनिष्ठता है जो समाज में उनकी संरचनात्मक अवस्थिति पर निर्भर करती है।

कृषक जातियाँ बहुधा गैर कृषक जातियों के विरुद्ध साथ-साथ चलती हैं। कभी-कभी, गुजरात के उदाहरण से, कृषक समुदाय का एक हिस्सा अपनी आर्थिक इच्छाओं की दावेदारी के क्रम में दुश्मन के दुश्मन से गठजोड़ करता है और जैसे ही दुनियावी और राजनीतिक हितों में विचलन आता है, जाति गठबंधन महत्वपूर्ण बदलाव का अनुभव करता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि गुजरात में माधव सिंह सोलंकी खाम के समर्थन से सत्ता के शीर्ष पर पहुँचने के बाद क्यों अस्वीकार कर दिए गए?

ऐसा नहीं है कि क्षत्रिय, हरिजन, आदिवासी और मुसलमान खत्म हो गए हैं। दरअसल, दुनियावी हितों में विचलन से यह गठबंधन ज्यादा देर तक नहीं चल सकता। यही वह कारण है कि जो विचार कुछ समय पहले इतने अच्छे थे उसकी प्रतिध्वनि अब दूर-दूर तक नहीं सुनाई पड़ती। इसी प्रकार मुलायम सिंह यादव ने पिछड़ी जाति का अपना मजबूत आधार खो दिया, जब उनके अधिकांश समर्थकों ने हिंदू लहर का दामन पकड़ लिया, जो बावरी मस्जिद घटना के समय अपने चरम पर थी। यह प्रचलित धारणा स्पष्ट रूप से गलत है कि जाति निष्ठा, जाति गठबंधन में सहायक होती है जो मतदान के रूझान को

निर्धारित करती है। अगर कुछ है तो यह कि जाति गठबंधन दुनियावी हितों के संलयन का संक्षेप में एक संकेत हैं यहाँ जो समझने की जरूरत है कि ये हित वास्तव में जातियों को एक-दूसरे और संयुक्त मोर्चा से उनकी स्वाभाविक घृणा को जीतने के लिए पर्याप्त शक्तिशाली होने चाहिए। इसलिए यह जातीय गणित नहीं, जातीय रसायन है जिसकी ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए। अपनी संख्यात्मक शक्ति के बावजूद सच्चाई यह है कि अनुसूचित जातियों के पास आनुपातिक चुनावी ताकत नहीं है जो इस बात का मजबूती से संकेत करता है कि वे लोग अपनी कमजोर सांगठनिक क्षमता से घिरे हुए हैं। ग्रामीण भारत में गरीब अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए अधिक समृद्ध जातियों के रोष को जगाए बिना स्वतंत्र गुट बनाना अभी कठिन है। इस कारण से अनुसूचित जातियों की राजनीतिक महत्वाकांक्षा विरले ही साकार हो पाई है। बसपा का जो प्रभाव यूपी की कुछ खास भौगोलिक पट्टी में पाया भी जाता है, इस तथ्य के कारण भी हो सकता है कि इन क्षेत्रों में अनुसूचित जातियाँ अपने लिए थोड़ी पहलकदमी करने में कुछ-कुछ समर्थ हो गई हैं। दुर्भाग्य से, अगले अनुभूतिजन्य शोध के बिना यह कहना कठिन है कि, जमीनी सच्चाई के लिए जहाँ जनसंख्या, साक्षरता दर या शहरीकरण, पर्याप्त उदाहरणों के बिना हमें मामला मुहैया क्यों होना चाहिए।

इस बात को सुनिश्चित करने के लिए और अधिक शोध की जरूरत है कि कुछ क्षेत्र क्यों जाट, गूजर, यादव क्षेत्र माने जाते हैं जबकि संख्यात्मक दृष्टि से इनमें से कोई भी जाति दूर-दूर तक बहुसंख्यक की श्रेणी के पास तक नहीं पहुँचती। कुछ मामलों में, उदाहरण स्वरूप, जाट, गूजर और कोइरी के अनुपात मुश्किल से 10 प्रतिशत से ऊपर जाते हैं। हमें यह भी थोड़ा विस्तार से जानना होगा कि बिहार के कुछ खास क्षेत्रों में, जहाँ पर यादवों की संख्या 20 प्रतिशत के आसपास है, राजद के उम्मीदवार जीत की ओर अग्रसर क्यों दिखाई देते हैं? जाहिर सी बात है कि दूसरी जातियाँ भी उनको वोट देती हैं। अगर यह मान लिया जाए कि राजद और यादवों के बीच एक मजबूत संबंध है तो इस मुद्दे की छानबीन आवश्यक है कि अन्य जातियाँ उसी दिशा में अपना वोट क्यों देती हैं? ये तमाम प्रश्न पूछे जा सकते हैं। और इन सबके जवाब गूँजेंगे–यदि एक बार हम महसूस करें कि जाति के अंकगणित में संख्याएँ सिर्फ जुड़ती ही नहीं हैं।

संदर्भ ग्रन्थ

- बेली एफ. जी. ट्रेडिशलन सोसायटी एण्ड रिप्रजेंटेशन: स्ट्रैटीफिकेशन, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1960
- गुप्ता दीपांकर, 'राइवलरी एण्ड ब्रदरहुड: पोलिटिक्स इन दी लाइफ ऑफ फारमर्स इन नार्दन इंडिया', आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1997

- बेहरा, संजीव के. 'डाटा बेस ऑन शेड्यूल्ड कास्ट लिटरेसी इन इंडिया' (बेस्ड ऑन सेंसस 1991) इंडियन सोशल इंस्टिट्यूट, नई दिल्ली, 1999
- बोगले, सी. 'दि इसेंस एण्ड रियलिटी ऑफ दि कास्ट सिस्टम' इन दीपंकर गुप्ता एड. सोशल स्ट्रैटीफिकेशन, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1992
- फ्रैंकल फैंसिने आर. 'कास्ट, लैण्ड एण्ड डोमिनेंस इन बिहार: ब्रेकडाउन ऑफ दि ब्राह्मनिकल सोशल आर्डर' इन फैंसिने आर. फैंकेल एण्ड एम.एस. ए. राव, एडीटर्स: डोमिनेंस एण्ड स्टेट पावर इन माडर्न इंडिया: डिक्लाइन ऑफ ए सोशल आर्डर, वाल्यूम I. मे 46 132, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, –1990, कन्क्लूजन, इन फैंसिने आर. फ्रैंकेल एण्ड एम. एस. ए. राव, एडीटर्श, डोमिनेस एण्ड स्टेट पावर इन माडर्न इंडिया: डिक्लाइन ऑफ ए सोशल आर्डर वाल्यूम II, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1989
- बोस, प्रदीप कुमार, ' मोबिलिटी एण्ड कान्फ्लिक्ट सोशल रूट्स ऑफ कास्ट वायलेंस इन बिहार' इन दीपंकर गुप्ता एड. सोशल स्ट्रैटी-फिकेशन पेज 369-86, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1989
- लेले, जयंत 1981 'एलीट प्लूरलिज्म एण्ड क्लास रूल: पोलिटिकल डेवेलपमेंट इन महाराष्ट्रा, इंडिया', यूनिवर्सिटी ऑफ टोरंटो प्रेस, टोरंटो, 1992

  –'कास्ट, क्लास एण्ड डोमिनेंस: पोलिटिकल मोबिलाइजेशन इन महाराष्ट्र' इन फैंसिने आर. फ्रैंकेल एण्ड एम.एस.ए. राव, एडीटर्श, 'डोमिनेंस एण्ड स्टेट पावर इन माडर्न इंडिया: डिक्लाइन ऑफ ए सोशल आर्डर', वाल्यूम II, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1990
- सेंसस ऑफ इंडिया' 1933, पटना, सुपरिटेंडेंट प्रिंटिंग एण्ड स्टेशनरी, बिहार एण्ड ओड़ीसा, 1931
- 'सेंसस ऑफ इंडिया' 1931, यूनाइटेट प्रॉविंस ऑफ आगरा एण्ड अवध, 1933, इलाहाबाद, सुपरिंटेंडेंट प्रिंटिंग एण्ड स्टेशनरी। सेंसस ऑफ इंडिया, 1991
- सिद्दीकी, माजिद एच. 'एग्रेरियन अनरेस्ट इन मार्डर्न इंडिया': दि यूनाइटेड प्रॉविंसेज, 1919–22, विकास पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1978
- सिंह, एच. डी 543 'फेसेज ऑफ इंडिया', न्यूमैन पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1996
- श्रीनिवास एम. एन. 'कास्ट : इट्स ट्वेंटीयथ सेंचुरी अवतार' विकिंग/पेंग्विन, नई दिल्ली : 1996

धर्म और समाज
एक राजनीतिक विचलन

7

धर्म जब सार्वजनिक और राजनीतिक स्वरूप ग्रहण करता है तब यह ध्यान में रखना महत्वपूर्ण है कि धार्मिक भाषा में यह उस तरह का धर्म नहीं होता जैसा समाज इसे कहता है। धर्म विभिन्न सामाजिक संदर्भों में ढ़ेर सारी चीजें कह सकता है। यह केवल इस तथ्य को उजागर करता है कि धर्म कुछ विशेष परिस्थितियों में राजनीतिक रूप से लोगों को सम्बोधित करता है। यद्यपि धर्म इन स्थलों पर परम्परा स्थापित करने का प्रयास करता है, यह परम्परा भी अद्वितीय है जो सामाजिक स्थिति की विशेषता का उल्लेख करने के लिए बनाई गई है। धर्म भिन्न-भिन्न सामाजिक परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न राजनीतिक संदेशों और विचारधाराओं की वकालत करता है लेकिन प्रत्येक अवसर पर धर्म इस बात पर बल देता है कि यह एक प्रामाणिक परम्परा है जहाँ राजनीति में सांस्कृतिक पहचान के धर्म और अन्य रूप जो भूमिका निभाते हैं उसे बहुधा गलत समझ लिया जाता है। यह मान लेने में बहुत जल्दबाजी की जाती है कि धर्म, संस्कृति और जाति निश्चित रूप से राजनीतिक विकल्प और निष्ठा का निर्धारण करते हैं। वस्तुत: यह संबंध बहुत उलझा हुआ है। समान धर्म के लोग अलग-अलग राजनीतिक और सामाजिक स्थिति में हो सकते हैं, और ऐसा उदाहरण भी मिल सकता है कि एक धर्म विशेष, राजनीतिक और सामाजिक विकल्पों की अनेकता अथवा दृष्टिकोण को अपना ले। यह बहुत कुछ उस संदर्भ पर निर्भर करता है जिसमें धर्म या संस्कृति स्वयं को अभिव्यक्त करते हैं। यह एक सामाजिक कारक है जो किसी धर्म की वैचारिक विशिष्टता के विभिन्न पक्षों को उद्घाटित करता है। यह भी याद रखना चाहिए कि विशुद्ध सांस्कृतिक रूप में धर्म लम्बे समय तक एक व्यक्तिगत प्रथा के संकेत द्वारा भी बचा रह सकता है।

इस स्पष्टीकरण से यह पता चल जाता है कि अभी हमारे लिए विवरणात्मक व्यौरों द्वारा यह प्रमाणित करना बाकी है कि धार्मिक पहचान कैसे बदलती है और इसके साथ-साथ जातीय एवं सांप्रदायिक संगठनों में कैसे उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। ऐसा भी नहीं है कि एक बार अगर धार्मिक पहचान और राजनीतिक संगठन उत्तराधिकार के रूप में मिल जाएँ तो आगे उसमें बाधाएँ नहीं आएंगी। समाजशास्त्रीय संदर्भ सामूहिक भविष्य के निर्धारण में उनकी प्रासंगिकता को

बनाए रखते हैं। ऐसा भी नहीं है कि सिक्ख उग्रवादियों या शिवसेना के पेशेवर जीवन में उतार-चढ़ाव नहीं है, न ही यह ऐसा मामला है कि सिक्ख और हिन्दू पहचान अडिग बनी रहती है अथवा उनकी सांस्कृतिक बनावट में नियमों का आंतरिक पालन किया जाता है। यह भी नहीं है कि अगर इन दलीलों को उचित सिद्ध करने की जरूरत हो, वे पिछले पृष्ठों में दिखाई गई हैं। लेकिन अब यह समय है कि हम कुछ सतह के विरोधाभासों को अंततः खत्म कर दें। अब हमें सिक्ख धर्म के पंजाब की राजनीति में उग्रवाद के प्रभाव की पड़ताल करनी चाहिए जो 1980 में प्रारंभ होकर लगभग एक दशक तक चला।

''ब्लू स्टार'' से ''ब्लैक थंडर'' तक: तीन अध्याय

तीन महत्वपूर्ण अवलोकन हैं जिन पर यहाँ बल देने की जरूरत है। पहला, आपरेशन ब्लू स्टार में जिस बन्दूक विधि का इस्तेमाल किया गया वह पूरी तरह अनावश्यक था। अगर आपरेशन ब्लू स्टार ऑपरेशन ब्लैक थंडर की तरह संचालित किया गया होता तो पंजाब की कहानी कुछ और ही होती। इसके बहुत सारे परिच्छेद गुस्से में, आड़े-तिरछे छापे के रूप में न होते। इंदिरा गांधी अभी जीवित होतीं और 1984 के नरसंहार में हजारों सिक्खों को अपनी जान से हाथ नहीं धोना पड़ता। यह बहुत स्पष्ट है कि स्वर्णमंदिर दीर्घकाल के लिए सुरक्षित नहीं है और न ही मंदिर को जोड़ने वाले गुप्त रास्तों का जाल भी बाहरी लोगों के लिए अनजाना रह गया है।

दूसरा, भिंडरावाले को इसलिए महत्व मिल गया क्योंकि वह प्रकट रूप में आँखों के सामने मारा गया। वह अन्य बहुत से तीर्थ यात्रियों के साथ मरा, जो गुरु अर्जुन देव का शहीदी दिवस मनाने के लिए मंदिर आए थे। यह भिंडरावाले का पहला करिश्मा नहीं था कि सिक्खों ने उसे शहीद घोषित करने का जोरदार समर्थन किया। बहुत से लोग, जो पहले बातचीत में भिंडरावाले के प्रति घृणा प्रदर्शित करते थे, उसकी शहादत के बाद उसे पूजने लगे। भिंडरावाले का सकारात्क पक्ष था, जिस पर बाद में बल दिया गया, उसकी संयमित जीवन शैली, उसकी निष्ठा और इसी तरह और भी बहुत कुछ मसलन प्रतिदिन उसका गुरुवाणी पढ़ना। बहुत से परिवर्तित प्रशंसकों में ऐसे भी लोग शामिल थे जो पहले मध्यमार्गी थे और भिंडरावाले जिनका मजाक उड़ाया करता था। प्रशंसकों की इस सूची में संत लोगोंवाल भी शामिल हैं जो, ब्लू स्टार के बाद 1985 में दिए गए एक साक्षात्कार में, भिंडरावाले को संत और शहीद कहने पर जोर देते हैं (व्यक्तिगत साक्षात्कार) भिंडरावाले तीन दिनों तक अपने आदमियों के साथ अकाल तख्त में डटे रहने के बाद मारा गया। लेकिन इसके परिणामस्वरूप अकाल तख्त अपवित्र नहीं हुआ क्योंकि भिंडरावाले शहीद की मौत मरा। वस्तुतः, जैसा कि पहले कहा गया है, आपरेशन ब्लैक थंडर तक, अकाल तख्त का मलबा कुछ लोगों द्वारा पूजा जाता रहा। यदि एक समय के खूंखार खालिस्तानी पेंटा, अजनाला और निखैर सिंह ऑपरेशन ब्लैक थंडर में मारे गए, जबकि सच्चाई यह थी कि इन्होंने स्वर्ण मंदिर को दूषित किया और एक सडाँध में छोड़ा, (बरनाला के शब्द उधार लेते हुए इंडियन एक्सप्रेस 24 मई, 1988) संभवतः प्रकाश में नहीं आ पाते।

तीसरा, सिक्खों ने ऑपरेशन ब्लू स्टार का विरोध इसलिए नहीं किया कि वे मंदिर में पुलिस या सेना की किसी कार्रवाई को सहन नहीं कर सकते थे, बल्कि इसलिए कि सेना ने अकाल तख्त को अनावश्यक रूप से नष्ट कर दिया और मंदिर को क्षति पहुँचाई थी। ऑपरेशन ब्लू स्टार के तुरंत बाद जब पहली बार इस तरह की दलीलें सुनाई पड़ने लगीं तो कुछ लोगों को इस पर विश्वास करने में कठिनाई महसूस हुई। लेकिन यह आधार स्वीकृति के आलोक में प्रमाणित है कि ऑपरेशन ब्लैक थंडर को पंजाब और उसके बाहर के सिक्खों से प्रतिरोध का सामना करना पड़ा। बादल और उसके सहयोगियों ने, जो शुरू में आतंकवादियों के साथ अपनी सहानुभति प्रदर्शित करने गए थे, भ्रांति पूर्ण धारणा और सिक्ख भावना के कारण, ऑपरेशन ब्लैक थंडर से नाराज हुए और दयनीय एवं उदास दिखाई दिए। पंजाब के अंतिम अकाली मुख्यमंत्री बरनाला भी उत्तेजित हुए, यद्यपि बादल से भिन्न रूप में, और अंत में समान रूप से हास्यास्पद दिखे। ऑपरेशन ब्लैक थंडर के समाप्त होने के तुरंत बाद उन्होंने जेल से आतंकवादियों की कड़े शब्दों में निंदा करते हुए इसे पूरा करने का प्रयास किया (वही)। शिरोमणी गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी बिल्कुल हक्का-बक्का थी। इसने प्रारंभ से ही सरकार का विरोध किया और प्रशासन द्वारा लिखित रूप में दिए गए आश्वासन को खारिज कर दिया कि स्वर्ण मंदिर में कोई हथियार नहीं जाने दिया जाएगा। शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी के पदाधिकारियों का तर्क बिल्कुल ठीक है कि कानून और व्यवस्था से संबंधित ऐसे मामलों को देखना पुलिस और सुरक्षा कर्मियों का कर्त्तव्य था। जबकि ऑपरेशन ब्लैक थंडर के बारे में सिक्खों की सकारात्मक प्रतिक्रिया से वे चौंक गए। फिर भी, एक बार फिर सभी तरह के सिक्ख प्रतिनिधियों ने बहुसंख्यक सिक्ख भावना के परे कदम उठाया।

सिक्खों की स्वाधीन छवि

उपर्युक्त कथन से यह उजागर होता है कि सिक्ख अन्य समुदायों की तरह अंध धार्मिकता से परिचालित नहीं होते। अन्य समुदायों की तरह सिक्ख भी अपनी संस्कृति और परंपरा पर गर्व करते हैं। लेकिन अधिकतर सिक्खों की छवि अन्य समुदायों से भिन्न चोरी छिपे ही, उनकी सामूहिक भ्रांति के अनुकूल नहीं बन पाती। जैसाकि सिक्खों का विश्वास है कि उनका इतिहास उनके गुरुओं से शुरू होता है, वे परम्परा का निर्माण करने में सक्षम हैं, इस पर उन्हें बहुत गर्व है। वर्तमान समय में उनकी सफलताओं से यह आगे भी पुष्ट होता है। व्यवसाय कृषि, सेना और दरअसल, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनकी उपलब्धियों ने एक सच्चे भारतीय के रूप में उन्हें आगे बढ़ाया है जो दुनिया में अपनी उत्कृष्टता के कारण डटे हुए हैं। तथ्य यह है कि पंजाब अनाज उत्पादन के मामले में भारत के अन्य प्रांतों की अपेक्षा आसानी से बहुत आगे निकल गया है, इससे यह धारणा बनती है कि ये सिक्ख ही हैं जिन्होंने राष्ट्रीय स्तर पर भूखे भारतीयों को भोजन मुहैया कराया है। सशस्त्र सेनाओं में सिक्खों की वीरता भी सर्वविदित है और वे इस बात पर गर्व करते हैं कि भारतीय सेवा में वीरता के लिए सर्वाधिक पुरस्कार उन्होंने ही अर्जित किए हैं। सिक्खों की लोकप्रिय अवधारणा में हिन्दुओं की छवि एक बनिए जैसी है। उसे

मोटा, डरपोक, शाक सब्जी खाने वाला दिखाया गया है। दिल्ली में सिक्ख नरसंहार के एक भुक्तभोगी ने साक्षात्कार के दौरान बताया कि उसके लिए यह समझ पाना कठिन था कि ये बनिए हिंदू अचानक लाल दाँत और जबड़े वाले खूँखार हत्यारे कैसे बन गए। (चक्रवर्ती और बक्सर 1987, 76)। स्पष्ट रूप से सिक्ख दूर-दूर तक अपने को हिन्दू कहलाना उचित नहीं मानते। यद्यपि इन दो समुदायों के बीच में घनिष्ठ सांस्कृतिक संबंध रहे हैं। सिक्खों की अपनी छवि भी विस्तारवादी नहीं है। वे अपनी परंपराओं और संस्कृति के निर्वाह में संतुष्ट हैं। वे कभी भी हिन्दुत्व के प्रभाव में हिन्दू परंपरा और रीति रिवाजों से नहीं बंधे। बल्कि उनकी अपनी एक छवि है जो हिन्दू संप्रदायवादियों से अलग है। आर्य समाजी सिद्धांत और उसके बाद वालों के लिए इसे समझना मुश्किल था। इसमें यह भी जोड़ना आवश्यक है कि सिक्खों के सांस्कृतिक चिह्न उन्नीसवीं सदी के अंत में उनके चेतन में पैदा एवं विकसित हुए हैं। उन्होंने जोर देकर आर्य समाजी विस्तारवादियों से कहा कि हम हिन्दू नहीं हैं। साथ ही साथ उन्होंने अपने तमाम रीतिरिवाजों—जन्म, मरण और विवाह को ऐसा बनाया, जिससे वे हिन्दू रीति-रिवाजों से बिल्कुल मेल न खाएँ। अधिकांशत: ये सब कुछ आर्यसमाजियों की असहिष्णुता और छद्म संस्कृति के खिलाफ था। लेकिन इस विलगाव को अमलीजामा पहनाने में अंगेजों की भूमिका को स्वीकार करना ही पड़ेगा। अंगेजों ने मुख्य खालसा डिवीजन जैसी संथाएँ, जो अपने श्रम से सिक्खों की सांस्कृतिक परम्परओं को बनाने का काम कर रही थीं, को संरक्षण ही नहीं दिया बल्कि उससे एक महत्वपूर्ण कदम आगे जाकर ब्रिटिश इंडियन आर्मी में सिक्ख रेजीमेंट को जान बूझकर इस नई परम्परा से जोड़ा। इस प्रकार इस नए अस्तित्व को वैधता प्राप्त हुई। पंजाब के रजवाड़ों के परिवारों ने भी सावधानीपूर्वक गढ़े गए इस सिक्ख अस्तित्व को इज्जत दी और इससे पहले भी जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से आने वाले सिक्खों ने अपनी अलग सांस्कृतिक छवि को स्वीकार किया। संभवत: सिक्खों के सामाजिक अतीत और वर्तमान का गौरव भी इसी काल से जुड़ा हुआ है।

सिक्खों की इसी स्वत: स्फूर्त नवीन जागरूकता ने उन्हें अपने इतिहास, अपने गुरुओं और अपने पूजा स्थलों से भावनात्मक स्तर पर कहीं गहरे जाकर जोड़ा। दूसरे शब्दों में बीसवीं सदी के पहले दो दशकों में सिक्ख समुदाय पूरी तरह से सांस्कृतिक और धार्मिक नवजागरण से रूबरू हुआ। अपने धार्मिक नियंताओं और गुरुओं की पीड़ा, पंचप्यारा के असीम धैर्य और साहस, महाराजा रंजीत सिंह की महिमा को एक अलग किस्म के सांस्कृतिक उत्थान द्वारा पुनर्जीवित और पुनर्स्थापित किया। इस प्रकार यह सांस्कृतिक विरासत गौरवपूर्ण थी जिससे सिक्खों का नया अस्तित्व कायम हुआ। स्वर्ण मंदिर के पवित्र अहाते में जाते ही किसी सिक्ख में जो सम्पूर्ण परिवर्तन होता है उसकी गवाही वही दे सकता है जो स्वर्ण मंदिर गया हो। मंदिर के अंदर का वातावरण समारोहपूर्ण होता है। प्रार्थना करते समय भक्तों के लिए उनके गुरुओं और सांस्कृतिक नायकों की छवि और उनका बलिदान उनके सामने होता है। फलस्वरूप गुरुद्वारे का अहाता शोक संतप्त नज़र आता है जो धीरे-धीरे व्यक्ति के अंदर आध्यात्मिकता को गहरे उतारता चला जाता है। जैसा कि सेना के

कार्यकारी प्राधिकारी ने लिखा है जब भी हम गुरुद्वारे के अंदर होते हैं हम कुछ नहीं कर सकते अपितु अभिभूत होते हैं। लेकिन जैसे ही हम बाहर आते हैं पुन: वही हो जाते हैं।

उग्रवाद और शहादत

मैं इस अद्वितीय बात पर जोर देना चाहूंगा कि बहुधा ऐसे समुदाय के एक रैखिक इतिहास को लिखते हुए जो वर्तमान में विश्वास रखता है, इतिहास में भी वर्तमान की प्रबलता होती है। अस्तित्व की इस प्रक्रिया का तर्क यह प्रतीत होता है कि व्याख्या के लिए तर्क संस्कृति में ही है। यह सच है कि आजकल अधिकांश सिक्ख विश्वास करते हैं कि उग्रवाद ही उनकी संस्कृति और अस्तित्व का केन्द्रीय सिद्धांत है। लेकिन सिक्ख मत केवल उग्रवाद ही नहीं बल्कि इससे अलग और बहुत कुछ है। इसमें से कुछ अदम्यपूर्ण तरीके शांत स्वभाव के हैं। उदाहरण के लिए कान्ह सिंह नाथा, जो उन्नीसवीं सदी के सिक्ख विद्वान और प्रवक्ता हैं, ने गुरुसम्अद रत्नाकर महान कोश में लिखा है, अन्य चीजों के अलावा सिक्ख विश्वास के निम्नलिखित बिंदु हैं :-

क- वाहेगुरु के साथ रहस्यपूर्ण, ध्यान एवं योग के द्वारा सम्मिलन।

ख- सभी व्यक्तियों को जाति, प्रजाति से ऊपर उठकर भाई की तरह देखना, सबको स्नेह देना, फल की इच्छा किए बिना सेवा करना।

ग- सभी नानकपंथियों को स्नेहपूर्वक सिक्ख धर्म में स्वीकार करना, उनके वाह्य उपकरणों को छोड़कर लोगों की सेवा करना और उनके प्रति सहानुभूति रखना (मैं क्लियाड 1989, 233) क्या कोई यह कह सकता है कि ये सिक्ख धर्म के केन्द्रीय तत्व नहीं हैं। यह सच है कि हाल के समयों में सिक्खों का एक बड़ा समुदाय इन उपदेशों पर उतना गौर न करता हो जितना कि परम्परा के उन तथ्यों पर जो खालसा को शस्त्र सज्जित कर बाह्य आक्रमण से बचाने के लिए करते हैं। 1984 में ऑपरेशन ब्लू स्टार के बाद सिक्खों की चेतना में घालूघरों (रक्तस्नानागार), जो पारंपरिक रूप से अहमदशाह अब्दाली के द्वारा मचाई गई लूटपाट से संबंधित था, पुनर्जीवित हो गया। मुझे याद आता है कि 1984 के आसपास बहुत सारे सिक्ख घालूघर का अर्थ पूछ रहे थे। ऐसा नहीं है कि मानो यह शब्द यकायक सिक्खों की आत्मा में बस गया अपितु यह तेजी से आम सिक्खों की जिन्दगी में घुलमिलकर उनकी चेतना पर हावी हो गया। लगभग इसी कारण से गुरु अर्जुन देव और गुरु तेगबहादुर का नाम नहीं हैं, जो समकालीन गुरुओं के संदर्भ में आता है, बल्कि वे शहीद भी थे। यद्यपि वे सच्चे अर्थों में उग्रवादी नहीं थे। निस्संदेह सिक्खों की सामाजिक परम्परा कालांतर में उनके इतिहास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। तो भी किसी को सिक्खों की अन्य परम्पराओं से ऊपर उठकर इसको सामरिक परम्परा से ज्यादा अहमियत नहीं देनी चाहिए। उदाहरण के लिए शहादत और सामरिक परम्परा को एक जैसा समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। गुरु तेगबहादुर शहीद थे लेकिन उन्होंने उग्रवादी परंपरा का सूत्रपात नहीं किया।

पुन: यदि कोई सिक्खों के इतिहास पर नज़र दौड़ाए तो पाता है कि यह सामरिक परम्परा अठारहवीं सदी में तो महत्वपूर्ण थी लेकिन 15वीं

-16वीं सदी या 19वीं सदी से लेकर 1980 तक इसका शायद ही कोई महत्व रहा हो । तब उग्रवाद को सिक्ख संस्कृति का केन्द्रीय तत्व मानने वाले मूलत: शहादत और उग्रवाद में अंतर नहीं कर पाते।

वे एक छोटी अवधि के इतिहास को एक बड़ी अवधि के इतिहास पर ज्यादा अहमियत देते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि बहुतेरे सिक्ख और विश्लेषक जो इस तथ्य में विश्वास रखते हैं, झूठ में जीते हैं। यह सिर्फ इस बात की ओर इशारा करता है कि हमें यह खोज करनी चाहिए कि हाल के वर्षों में इस विश्वास को इतनी प्रधानता क्यों मिली ? उन्नीसवीं सदी के पहले सात दशकों की शांति के बाद सिक्खों का सांस्कृतिक जीवन एक संप्रदाय के रूप में 1970 के सिंह सभा आंदोलन के बाद पुन: हिल उठा। सिंह सभा आंदोलन के एकत्रित होने में कुछ समय लगा लेकिन जैसे ही यह संभव हुआ, इसे सिर्फ मिशन स्कूल में पढ़ रहे चार सिक्ख युवकों का ईसाइयत में धर्मांतरण चाहिए था। लेकिन यह धर्मांतरण अपने आप में सिंह सभा आंदोलन को प्रारंभ करने के लिए काफी नहीं हुआ होता। कृषि संबंधी क्रिया कलापों में व्यावसायिक वर्चस्व, आर्यसमाजियों की असहिष्णुता और अंग्रेजों के द्वारा सिक्ख रेजीमेंट में सिक्ख संस्कृति के संगठन का तरीका इन सबने इसमें अपनी अहम भूमिका अदा की।

अंतत: परिणाम यह हुआ कि सिक्खों में यह अहसास घर करता गया कि उसे एक सम्प्रदाय के रूप में अपना परिसीमन करना पड़ेगा। यह लगभग 19वीं सदी के अंत का काल है, जिसमें हमें पाँच "क", जिसे प्रत्येक सिक्ख अवश्य मानता है, का उल्लेख मिलता है। मजेदार बात यह है कि सिक्खों की स्वचेतना का यह निर्माण उनके धार्मिक कर्तव्य के रूप में सामने आया। (ओबेराय 1988) सिक्खों का विवाहोत्सव आनंद कारज पहले के असली, निरंकारी विवाहोत्सवों से मेल खाता है लेकिन इसे सिक्ख चरित्र देने के लिए खास तौर से बदला गया। तथ्यत: इस बात पर पुन: जोर दिया गया कि खालसा केशधारी सिक्ख बिना केशधारी सिक्खों का आदर करें। सिंह सभा पूरे पंजाब में फैल गई। अमृतसर शाखा उदारवादी थी जबकि अन्य जैसे कि लाहौर शाखा अधिक आक्रामक थी। यद्यपि बाद की सच्चाई यह है कि सिंह सभा आंदोलन के पीछे जो भी आर्थिक राजनैतिक कारण रहे हों, यह पहले पहल अभिजात सिक्खों की सांस्कृतिक दावेदारी के रूप में और बाद में ज्यों-ज्यों इसके संदेश नीचे की ओर फैलते गए आम सिक्खों में भी लोकप्रिय होता चला गया। मैं कल्पना भी नहीं कर सकता कि इन सबमें सामरिक परम्परा का कौन सा सार्थक योगदान है। निश्चित रूप से समय-समय पर गुरु गोविंद सिंह की ओर इशारा है। लेकिन किसी ने भी यह नहीं सोचा था कि सिंह सभा मारने या मरने के लिए है। यदि ऐसा कुछ है भी तो महाराजा रंजीत सिंह को हिंदू संस्कृति के रीति-रिवाजों का सिक्ख मतों के साथ तालमेल करने में भूमिका रही है (मैं क्लार्ड 1989, 30-40, 68) यह कोई साधारण बिडम्बना नहीं है कि हाल के दिनों में महाराजा रंजीत सिंह को उग्रवादी सामरिक प्रयोक्ता के रूप में महिमामंडित किया जाता है।

सांस्कृतिक अन्य

सबसे महत्वपूर्ण ध्यान देने योग्य बिन्दु यह है कि 1870 से बीसवीं सदी के पहले डेढ़ दशक तक यह पुनरूत्थानवादी सिक्ख अस्मिता जितनी हिन्दुओं के विपरीत खड़ी हुई उतनी मुसलमानों के खिलाफ नहीं, जैसाकि गुरू गोविंद सिंह के समय में था। कान्ह सिंह नाभा का 1899 का "हम हिन्दू नहीं" स्मरणीय है। यह ईसाइयत के खिलाफ भी नहीं था। इस अफवाह के बावजूद कि चार सिक्ख बच्चों को ईसाइयत में धर्मांतरित किया गया, जिसने सिंह सभा को आंदोलित किया। स्वाभाविक रूप से हममें से अधिकांश के ध्यान देने योग्य यह भी है कि ऐसा क्यों हुआ? सिक्खों के इतिहास में उग्रवाद का काल मुसलमानों की शत्रुता के खिलाफ था। लोकप्रिय सिक्ख, लोकगीतों में औरंगजेब और अहमदशाह अब्दाली दोनों विस्तृत रूप में राक्षसी रहे हैं। यह तर्क करना सत्याभासित है कि सिक्खों का प्रारंभिक करणीय और अकरणीय मुसलमानों को प्रतिद्वन्द्वी संस्कृति का अन्य मानकर निर्मित किया गया है। केश न कटाने और युद्धक लोहे (खास तौर से तलवार) रखने के निर्णय के साथ-साथ सिक्खों को हुक्का पीने और मुसलमान औरतों के साथ यौन संबंध रखने से भी मना किया गया था। कड़ा (लोहे की चूड़ी), कंघा (कंघी) या कच्छा (लंगोट) का कोई जिक्र नहीं है। यह निश्चित रूप से सत्याभासित है कि कंघा पगड़ी में छिपा हुआ होता था। यह पता करना इतना आसान नहीं है कि कोई आदमी लंगोट पहने है या नहीं। लेकिन यह असंभव है कि ये चीजें किसी महत्व की रही होंगी जैसाकि पहले के रहितनामों में इनका उल्लेख नहीं है।

बालों को न कटवाने पर जोर देने की वैधता इस बात से पैदा हुई होगी कि सिक्ख खड़े हो सकें और उनको मुसलमानों के विरूद्ध लड़ाइयों में गिना जा सके और साथ ही उनकी दृश्यता संभव हो तथा संकट के क्षणों में उनका भागना मुश्किल हो। सिक्ख इतिहास के अनुसार 17वीं और 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध का संकट मुस्लिम शासकों और आक्रमणकारियों के द्वारा प्रत्यारोपित था। मेक्लार्ड का मानना है कि हुक्का पीने के विरुद्ध नियम संभवत: मुस्लिम जीवन पद्धति के नकार की उत्पति थी। क्योंकि आजकल हुक्का निषेध तमाम किस्म के तम्बाकू पर आरोपित है। बाद के वर्षों में मुस्लिम औरतों के साथ यौन व्यापार पर लगाया गया निषेध भी परस्त्री गमन को रोकने का एक सामान्य तरीका हो गया।

अकाली आंदोलन में, जिसका सिंह सभा के समय में अनुसरण किया गया, हम सिक्ख आग्रह की निरंतरता पाते हैं कि वे एक पृथक धार्मिक समुदाय हैं और वे कि निश्चित रूप से हिन्दू नहीं हैं। यह दृष्टिकोण आगे और भी अच्छी तरह से स्पष्ट हो जाएगा, यद्यपि इस समय इसने गरीब सिक्ख किसानों को प्रेरित किया है कि वे गुरुद्वारों को हिन्दू महंतो के नियंत्रण और उनकी मूर्ति पूजा पद्धति से मुक्त कराने का प्रयास करें। जब सिक्ख इसे पंजाब की गलियों और खुले मैदानों में ले गए, तब शहीद होने की उनकी उत्सुक्ता के प्रचुर प्रमाण मिले। (उदाहरण के लिए, गुरु का बाग, प्रतिरोध 1922)।

लेकिन उनका आंदलोन स्पष्टतया एवं आग्रहपूर्वक अहिंसक और गैर शहीदी था। यह वास्तव में एक सुविदित तथ्य है कि गाँधी ने 1920 के अकाली आंदोलन की भारत के प्रथम अहिंसक आंदोलन के रूप में सराहना की थी। सिक्खों के खाते में यह अहिंसा आसानी से नहीं आ सकी थी: हिंसक होने के लिए निश्चय ही बहुत बड़े प्रलोभन होने चाहिए। मैं आश्वस्त हूँ कि मैंने कहीं एक टुकड़ा पढ़ा था जिसमें इसकी व्याख्या थी कि प्रथम अकाली आंदोलन में सिक्खों ने इतने मनोयोग से हिंसा का परित्याग करने का चुनाव क्यों किया। जब इस टुकड़े को पढ़ा तो मुझे विश्वास हुआ कि यह हमें उसी तीव्रता के साथ बताएगा जिससे सिक्खों की भागीदारी द्वारा उन दिनों गुरु तेगबहादुर की शहादत को याद किया जाता था।

लेकिन 1980-84 के वर्षों में एक सिक्ख होने का मतलब क्या था? जब तक कोई भिंडरावाले समूह का कट्टर सदस्य नहीं बन जाता वास्तव में यह बहुत लज्जित महसूस करता था। यह लोगोंवाल और अकाली दल के लिए आवश्यक रूप से सच लगता है कि सामान्य सिक्खों के बीच यह भ्रांति बहुत अधिक होनी चाहिए। मैं उन वर्षों में सिक्ख घरों में जाने की बात याद करता हूँ और इस तथ्य से आक्रांत होता हूँ कि इन मध्यवर्गीय घरों में से बहुतों के यहाँ नए किस्म के सिक्ख इतिहास की पुस्तकें शोभा बढ़ा रही थीं। ऐसा भी नहीं कि किसी एक ही लेखक की पुस्तक हों, गोपाल सिंह या खुशवंत सिंह या ए. एस. बनर्जी को प्राथमिकता मिली थी, ध्यान देने की बात यह है कि वहां लगभग सभी के यहाँ सभी पुस्तकें नई थीं।

मैंने कई बार यह पूछा कि सिक्ख मत और सिक्ख इतिहास पर उन्हें इतनी सारी पुस्तकें खरीदने की आवश्यकता क्यों पड़ी तो आमतौर से जवाब था, हम जानना चाहते हैं कि यह सब कुछ हमारे साथ क्यों हो रहा है। "अधिकांश लोगों की तरह सिक्खों ने भी अनुभव किया कि अगर वे एक समुदाय के रूप में ध्रुवीकृत होते हैं तब समस्या का समाधान संभवत: सिक्ख धर्म और संस्कृति में खोजना होगा। दूसरे, यह भी स्पष्ट है कि उनके पास बहुत सूक्ष्म विचार हैं कि दूसरे की अपेक्षा एक को पगड़ी बाँधना (जिसे बहुतेरे नहीं करते), या पंजाबी बोलना या कि वे प्रत्यक्षत: सिक्ख परिवार में पैदा हों, अथवा कि वे ग्रंथ साहिब की पूजा करते हों (बिना इसके सारांश को जाने हुए) या कि वे दस गुरुओं का सम्मान करते हों।

इस प्रकार सिक्ख अस्मिता ढीली-ढाली बनी और क्यों नहीं? अपनी सुस्पष्ट परिभाषित छवि को दिखाने का सिक्खों के लिए 1980 को प्राथमिकता देने का कोई अच्छा कारण नहीं हैं। अधिकांश सिक्खों के लिए सिंह होना या सिक्ख आचरण करना कुछ-कुछ सुस्पष्टता और प्रथाओं का पालन करना था। यह आदिम अस्मिता का एक प्रकार था जिस पर 1980 तक सिक्खों का स्वामित्व कायम रहा अथवा और स्पष्ट करें तो 1984 के ऑपरेशन ब्लू स्टार तक।

1980 के दशक में आतंकवाद का विकास

ऑपरेशन ब्लू स्टार के बाद वह सब कुछ बदल गया, नवम्बर में राष्ट्रीय स्तर पर सिक्खों की हत्याओं के तुरंत बाद जिसका अनुगमन किया गया

था। सिक्ख अस्मिता तीखी हुई। असंगत चेतना के स्तर पर वे एक जुट हुए अगर किसी अन्य गुरु ने गुरु गोविंद सिंह के बाद उल्लेख किया तो वे गुरु हरगोविंद थे जो अपनी धर्मपरायणता, यहाँ तक कि मीरी-पीरी सूत्रीकरण की भूमिका के लिए उतने नहीं जाने जाते। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि मीरी और पीरी राजनीति की उग्र दिशा को दोषमुक्त और वैधता प्रदान करते हैं जैसाकि वे सिक्ख सम्प्रदाय के राजनीतिकरण द्वारा कर रहे हैं। और फिर भी ऐसे सिक्खों की बड़ी संख्या को स्वीकार है, यह आतंकवाद था, लेकिन रूढ़िवाद नहीं। यह भिन्नता आज सिक्ख अस्मिता की गैर सिक्ख अवधारणा में बिल्कुल नहीं दिखाई देती। अपनी परम्परा की नवीनता के बावजूद सिक्खों ने कभी रूढ़िवाद का अनुपालन नहीं किया। पंजाब के अधिकांश हिस्सों में 1992 के दौरान, हालांकि आतंकवादियों ने स्कूली बच्चों पर एक विशेष परिधान लादने का प्रयास किया जिसमें उन्हें सफलता भी मिली, लेकिन उनकी सफलता लोकप्रिय नहीं हो पाई, बल्कि यह आतंकवादी प्रतिहिंसा के भय का परिणाम थी। उन दिनों पंजाब में अव्यवस्था का वातावरण व्याप्त था, ऐसा मौका दिया ही क्यों गया? यह पर्याप्त रोचक है, यहाँ तक कि 1960 के दशक में पंजाबी सूबा के लिए चल रहे आंदोलन के दौरान, जिसे पंजाब में मास्टर तारा सिंह और अकाली दल का नेतृत्व प्राप्त था, कहीं भी रूढ़िवाद नहीं था, अलगाव की कोई आवाज नहीं थी और वस्तुतः सिक्ख अस्मिता के रूप में सिक्ख अस्मिता बेशक शिथिल रूप में सूत्रीकरण से गुजर रही थी। निश्चय ही आतंकवाद घनीभूत कारक नहीं था और जब दर्शन सिहं पेरूमान चंडीगढ़ की प्राप्ति के लिए उपवास करते हुए मृत्यु को प्राप्त हुए तो इसे आतंकवादी की मृत्यु की अपेक्षा एक शहीद के जीवन के त्याग के रूप में देखा गया।

अतः अगर हम हाल के वर्षों में सिक्ख अस्मिता को उग्र हिन्दु विरोधी धार के कुछ कारणों को पूरी तरह से समझना चाहते हैं तो समकालीन घटनाओं के जीवित संदर्भों में झाँकना आवश्यक है। मैं सोचता हूँ कि यहाँ इस तथ्य को छिपाया नहीं जा रहा है कि उग्रवाद का हिन्दू विरोधी प्रभामंडल ब्लू स्टार के उपरांत सिक्ख अस्मिता से कितना भिन्न था। यह विगत में क्या था। और 1870 और 1925 के बीच यह क्या था। ऐसा नहीं है कि अगर सिक्ख मत के अन्य विशिष्ट रूप, उदाहरण के लिए इसका मुस्लिम-विरोध अदृश्य हो गया था। वे सभी मौजूद थे लेकिन वे सिक्खों की चेतना पर जानबूझ कर लादे नहीं गए थे। वे, जैसाकि वे थे, कभी-कभी अदृश्य रूप में खड़े हुए और नियमित रूप से अवलोकित किए गए, या जैसे-तैसे बिना किसी भावनात्मक लगाव के।

सिक्खों का यह हिन्दू-विरोधी उग्रवाद सिक्ख संस्कृति का परिणाम नहीं था, न ही गुरु गोविंद सिंह द्वारा निर्देशित था बल्कि अटल रूप में यह अंध एवं तार्किक भावावेश के कारण संभव हो सका। वास्तव में अधिकांश पेशेवर सिक्ख उग्रवादी इस पर बहस करना चाहते हैं कि यह एक समस्या थी, लेकिन मेरे विचार से यह उग्र सिक्ख अस्मिता का उभार हिन्दू (एक संप्रदाय के रूप में) सरकार और सिक्ख राजनेताओं के समकालीन विशेष अंतर्संबंध की उपज था।

आपरेशन ब्लू स्टार के पहले आकाली दल के बहुत से वरिष्ठ सदस्यों, यहाँ तक कि भिंडरावाले, ने इंदिरागाँधी को आदरणीय शब्द बीबी द्वारा संबोधित किया है। बहुत बार मैंने उनमें से कुछ को कहते हुए सुना कि अगर केवल "बीबी" ने स्वर्ण मंदिर आकर समझाया होता और सिक्खों से बात की होती तो निश्चित रूप से उनको कारण दिखाई पड़ता। यहाँ तक कि आपरेशन ब्लू स्टार के बाद ऐसे बहुत लोग थे जो सोचते थे कि इंदिरा गांधी को उनके सलाहकारों ने गुमराह किया और उनमें से बहुत से सिक्ख भी थे।

लेकिन नवम्बर 1984 के बाद, भारत सरकार या राजीव सरकार नाम की कोई चीज़ नहीं रह गई थी बल्कि वह एक हिन्दू सरकार थी। राजीव गाँधी ने आतंकवादी भावनाओं को प्रत्यक्ष रूप से आगे बढ़ाने में मदद की, प्रधानमंत्री चुने जाने के तुरंत बाद अपनी पहली सार्वजनिक सभा में उन्होंने घोषणा की कि जब कोई विशाल पेड़ धराशायी होता है तो धरती हिलने लगती है। सिक्खों ने इस वक्तव्य का यह अर्थ ग्रहण किया कि इंदिरागाँधी की हत्या के बाद होने वाली हत्याएं स्वाभाविक परिणाम थीं और इस पर दु:ख प्रकट करने और दण्डित करने की आवश्यकता नहीं हैं।

वर्तमान सिक्ख अस्मिता में उग्रवाद के विकास का विस्तार इसी संदर्भ में ढूँढ़ना चाहिए। पहला, अल्पसंख्यक होने का उनका अहसास केवल संख्याओं के संबंध में ही नहीं था, बल्कि यह भी अहसास जुड़ा कि बहुसंख्यक हिन्दुओं द्वारा उस समुदाय पर यह एक सामूहिक अत्याचार था। बहुत से सिक्खों के लिए राष्ट्र-राज्य, निष्पक्ष मध्यस्थ के रूप में अस्थायी रूप से अपना महत्व खो बैठे, जो लड़ाकू समुदाय के ऊपर बना रह सकता था। अत: वर्तमान सिक्ख अस्मिता को समझने के लिए मुख्य रूप से सिक्ख धर्मग्रंथों की ओर जाना भ्रामक होगा और तब एक रेखीय तर्क को ढूँढ़ने की कोशिश करनी होगी जो आज सिक्ख धर्म से सिक्ख उग्रवाद और विगत वर्ष के सिद्धांत को जोड़ता है।

प्रथम चरण में, जैसा हमने अभी कहा हैं, सिक्ख मत और नानक पंथियों के कट्टर हिन्दू और मुस्लिम जीवन पद्धति के विरोध में खड़े हुए। बाद में, सिक्ख मत ने नानक पंथियों को पीछे छोड़ दिया और गुरुगोविंद सिंह के समय से उग्र मुस्लिम विरोध का स्वरूप धारण किया। यह बहुत कुछ महाराजा रंजीत सिंह के समय तक चला। तब शांति का समय आया जिसे 1870 के दशक में सिंह सभाओं ने भंग कर दिया जहाँ महत्वपूर्ण मुद्दा सिक्खों को सांस्कृतिक रूप से हिन्दुओं से अलग करना था। 1940 के दशक में, विभाजन तक सिक्ख अस्मिता ने पुन: मुसलमानों के विरुद्ध अपनी शत्रुता को केन्द्रीयकृत किया। पाकिस्तान का अकाली विपक्ष इसी सांस्कृतिक स्मृति से परिचालित होता था। 1950 और 60 के दशक का पंजाबी सूबा आंदोलन उग्र सिक्ख परम्परा को किसी सार्थक सीमा तक जीवित नहीं रख सका, लेकिन दूसरे क्षेत्रीय समुदायों के साथ समानता की खोज की। यद्यपि कम से कम एक संबंध शहादत थी, फिर भी तब, पेरूमान के नाम से कोई उग्रवाद नहीं था जो बाद में घटित हुआ।

1980 के दशक का उग्रवाद भी धीरे-धीरे विकसित हुआ, आपरेशन ब्लू स्टार के बाद उसने वह रूप धारण किया और नवम्बर 1984 के

नरसंहार से पुष्ट हुआ। इस प्रकार सिक्ख अस्मिता, जो सभी कालों में सत्याभासित होती है, की खोज उचित नहीं होगी बल्कि इसकी बजाय यह पूछना कि अन्य सिक्ख होना क्या है। इस तरह के सवाल साधारण व्याख्या के प्रभाव क्षेत्र से हमें दूर ले जाते हैं कि सभी प्रकार के जातीयतावादियों और सम्प्रदायवादियों के साथ पेशेवर सिक्ख उग्रवादी समझना पसंद करते हैं।

सांस्कृतिक श्रेष्ठता: एक समीक्षा

हाल के आलेख में थियोडॉर शानिन हमें बताते हैं कि सोवियत विज्ञान अकादमी ने सोवियत संघ में जातीयता की अवधारणा को लोकप्रिय बनाने में हाल के वर्षों में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी, जिसका मर्म था जातीयता को सांस्कृतिक रूप से आत्म-पुनरूत्पादक के रूप में देखना, जिसके व्यावहारिक प्रतिमान का ढाँचा सामूहिक स्व-अस्मिता से जुड़ा हो, जो उत्पाद की शक्तियों और संबंधों से सार्थक रूप में स्वायत्त हो शानिन (1989, 413) सोवियत अकादमिकों ने इस प्रकार जातीय (या सांस्कृतिक) प्रघटना की बृहत्तर वास्तवकिता, सामंजस्य और स्वायत्त आकस्मिक शक्ति के अनुरूप देखा (वही:415) वस्तुत इस दृष्टिकोण की पाश्चात्य नृतत्वशास्त्र में एक लम्बी परम्परा है और यहाँ तक कि इसने युवा विद्वानों में भी अपनी चमक बनाए रखी है जो भारत के अलावा अन्य क्षेत्रों में विशेषज्ञता रखते हैं। मिसाल के तौर पर, मिखाइल लाम्बेक कहते हैं कि मालागासे के मेमोटे कुरान द्वारा पूरी तरह आप्लावित हैं जिसका अर्थ प्रवीण धार्मिकों के माध्यम से उन्हें समझा दिया गया है। जबकि यह व्याख्या करने में उनकी मदद नहीं करता कि वही धार्मिक प्रवीणता अनुकूल दृष्टि से ग्रहण नहीं करते हैं जब एक बार वे राजनीति में दिलचस्पी लेना शुरू कर देते हैं। यह वस्तुत: एक सुस्पष्ट अंतराल है विशेष रूप से अगर कोई अपने निबंध का प्रारंभिक वाक्य याद करे जो साफ-साफ कहता है– बिस्मिल्लाह अर्रहमान अर्रहीम। इस्लामी जगत में सभी कुछ इसी रूप में शुरू होता है, पुस्तक, प्रार्थना, यात्रा, जीवन (लाम्बे 1990:23) इस स्थिति के बिल्कुल अनुरूप लाम्बेक बाद में कहते हैं कि गिनती में सही पद्धति क्या है, इस मामले में लोकप्रिय मत यह था कि किसी को भी धार्मिक पंडितों का अनुसरण करना चाहिए (वही 31) लेकिन जब यह राजनीति में आता है तो इस्लामी मेमोटे के बीच यह विचार बनता है : एक वरिष्ठ धार्मिक पंडित को बड़े पैमाने पर सम्मान दिया जाना चाहिए, बल्कि यह अनुभव किया गया कि उसे धार्मिक मामलों में ही लगा रहना चाहिए, राजनीति में दखलंदाजी नहीं करनी चाहिए (वही:34) निश्चित रूप से यहाँ कुछ अस्पष्टता है। अगर सभी मानवीय क्रियाकलाप धार्मिक ग्रंथों के अनुरूप चलें (वही:23) यदि इस्लामी मेमोटे में यात्रा, प्रार्थना, जीवन सभी कुछ धर्म के अनुकूल हों, तो निश्चित रूप से राजनीति (जो जीवन का एक अंग है) भी इस प्रकार धर्म द्वारा नियंत्रित होगी और धार्मिक पंडितों द्वारा शामिल होगी।

दूसरी तरफ डेविड लैन जिम्वाबे में गुरिल्ला आंदोलन पर किए गए एक अध्ययन में इतने सावधान हैं कि धार्मिक और अधार्मिक क्षेत्रों में भिन्नता बताते समय अपनी दृष्टि को कमजोर नहीं होने देते। परम्परा की भूमिका की परीक्षा करते हुए, इस मामले में जिम्बाबे में मध्यस्थ के

रूप में लेन ने स्पष्ट किया है कि भाव माध्यम अथवा अस्वीकृत राजनीतिक प्रभाव का व्यापक अंश होता है (लैन 1985:138)। ये भाव माध्यम गुरिल्ला युद्ध को आसान और तीव्र बनाते हैं (वही, 165), विद्रोहियों के साथ अपना गठबंधन करके। वे लोग जिनका रोडेशियन सरकार के साथ संबंध था अथवा यहाँ तक कि पश्चिमी कपड़े पहनते थे और फैक्टरी का भोजन करते थे, गुरिल्लाओं की नजर में संदिग्ध हो गए थे। (वही:189)। इसलिए ऐसा नहीं है कि होंडोरस गुरिल्ला आंदोलन की धार थे। ऐसा इसलिए था क्योंकि वे पहली नजर में गुरिल्ला समर्थक थे कि वे गुरिल्ला हत्याओं को वैध ठहराने में समर्थ थे और विद्रोहियों के विश्वास को मोड़ने में सक्षम।

लैन के मामले में जातीयता/संस्कृति/धर्म (शानिन को दुबारा उद्धृत करते हुए) स्वायत्त आकस्मिक शक्ति के साथ (वही:415) सांस्कृतिक आत्म अनुवंचन की व्यवहारिक पद्धति के रूप में इसके परे नहीं आता (शातिन 1989:413) लाम्बेक से भिन्न लैन अधिक सफलता के साथ सांस्कृतिक और धर्म निरपेक्षता के बीच संबंधित क्षेत्रों के प्रभाव को अलग करने में समर्थ हैं। सांस्कृतिक विचलन को स्वायत्वता आकस्मिक शक्ति प्रदान किए बिना भाव माध्यम के इस मामले में, लैन कहते हैं कि वे किसी तरह गुरिल्लाओं के लिए सहायक थे और उनके द्वारा सांस्कृतिक आवश्यकताओं की किस्मों को मिलाकर किस तरह उपयोग किया गया। बल्कि केवल गुरिल्ला विकल्प के साथ निर्णायक रूप से खड़े थे।

अपने नए आलेख में स्टेनली तांबिया ने मौखिक स्तर पर जातीय राजनीति की बहुत महत्वपूर्ण ढंग से समीक्षा की हैं। सोवियत विद्वानों से भिन्न अथवा नृतत्वशास्त्रीय परम्परा की मुख्य धारा से अलग, ताम्बिया बहुत स्पष्ट रूप से कहते हैं :

यद्यपि अभिनेता स्वयं के बारे में कहते हैं कि अगर सभी समय के लिए जातीय सीमाएँ स्पष्ट और परिभाषित हों, और आत्म पुनरूत्पादित परिबद्ध समूह के रूप में जातीय सामूहिकता के बारे में सोचें, गतिशील एवं प्रक्रियात्मक परिप्रेक्ष्य से भी यह स्पष्ट है कि जिसके उदाहरण नए सदस्यों को जोड़ने के लिए अस्मिता परिवर्तन और सामूहिक अस्मिता की कसौटियों का पैमाना बदलता रहा है (ताम्बिया 1989:355-56)।

जातीय पहचान, और साम्प्रदायिक पहनावा भी इस प्रकार सांस्कृतिक दृष्टिकोण से न तो स्वरचित है और न ही इसमें लम्बे अंतराल तक कोई एका होता है। ताम्बिया आगे यह भी तर्क करते हैं इस प्रकार का कोई भी आंदोलन सिर्फ सांस्कृतिक ऊर्जा मात्र से ही प्रेरित नहीं होता अपितु इसके कारकों में गैरसांस्कृतिक या निरपेक्ष चीजें भी हैं। ताम्बिया उल्लेख करते हैं वर्तमान समय के तमाम जातीय द्वन्द छोटे होते जा रहे आर्थिक क्षितिज और राजनीतिक पंक्तिबद्धता के अर्थ में वे एक-दूसरे से मेल खाते हैं। आर्थिक विकास के साथ-साथ बहुत सारी चीज़ें जा चुकी हैं। औद्योगिक पश्चिम आंतरिक अड़चन, कृषि संबंधी अर्द्ध रोजगारी और शहरों की ओर उत्प्रवास, आदि का विवरण एवं लगातार बढ़ता जा रहा अंतर, साक्षरता विस्फोट के कारण अपेक्षा रखने वाले भागीदारों के बीच बढ़ती बेरोजगारी, अकिंचित बढ़ते जा रहे शहरी प्रवर्ग... (ताम्बिया 1989, 247)।

विचारधारा और व्यवहार

जातीयता या साम्प्रदायिकता का किसी खास समय में उदय समाज के पहले के राजनैतिक लड़ाई के इतिहास को खत्म नहीं करता है जबकि अन्य विचारधाराएँ निरपेक्ष और साम्प्रदायकि एक-दूसरे के विरुद्ध फल-फूल रहे हैं। बोर्दू इसको बहुत उपयुक्त ढंग से रखते हैं जब वे यह कहते हैं कि किसी भी खास समय में उठाया गया कोई भी राजनीतिक कदम राजनीतिक माँग और राजनीतिक पूर्ति के बीच के द्वन्द्व की उपज है। राजनीतिक पूर्ति सोद्देश्य राजनीतिक विचारधारा से पैदा होती है जो उत्पादन के क्षेत्र के पूरे इतिहास (कार्यक्रम पार्टी विचारधारा उद्घोषणा आदि) से जुड़ा हुआ होता है। राजनीतिक माँग और पूर्ति के संबंधों के इतिहास से जुड़ा हुआ होता है (बोर्दू 1985:738)

आरोपित विचारधारा को समझने के लिए स्थिति के इतिहास और संभाव्य ठोस निरपेक्ष कारकों, जो खास तौर पर आरोपित विचारधारा को जीवनक्षम बनाते हैं के इतिहास का पुनरीक्षण करना महत्वपूर्ण है।

बोर्दू के द्वारा माँग और पूर्ति जैसे शब्दों का प्रयोग संभवत् बहुत उपयोगी है क्योंकि यह हमें यह सोचने के लिए बाध्य करता है कि किस प्रकार राजनीतिक माँग को उत्पन्न किया गया। एकाधिकारों का अध्ययन करने वाले अर्थशास्त्री इस षड्यंत्र से काफी सजग रहते हैं जो एकाधिकारवादी झुकाव के हैं। राजनीति कुछ हद तक अर्थशास्त्र के एकाधिकारवादी व्यवहार से मिलती-जुलती है। राजनैतिक विचारधारा अन्य तमाम विचारधाराओं को अलग-थलग कर देती है। इसमें एक केन्द्र होता है, सत्ता की कुर्सी। कोई भी राजनीतिक माँग मुश्किल से ही अपने ठोस अनुभवजन्य रूप के आने से पहले समझ में आती है। उदाहरण के लिए बिहिप या कम्युनिस्ट पार्टी के लिए लोक माँग नहीं है। एक बार ये संगठन अपने रूप में आते ही एक खास किस्म की राजनीतिक विचारधारा और इसके विकल्प की पूर्ति शुरू कर देते हैं। ओछेपन में गए बगैर यही वह तरीका है जिससे जनरल मोटर्स या फोर्ड या वोल्वो अपनी नई कारों की पंक्तियाँ खड़ी कर पूर्ति करते हैं जिससे बाद में माँग उत्पन्न होती है। पूर्ति गलत बाजार योजना पर आधारित हो तो उत्पाद नहीं बिकेंगे। ऐसा ही प्राय: धार्मिक और धर्म निरपेक्ष विचारधाराओं के साथ घटित हुआ है। यद्यपि जोर देने की बात यह है कि जमीनी सच्चाई नहीं हैं जो एकाधिकार में उत्पादों को निर्धारित करता है अपितु, ये एकाधिकारवादी हैं जो सावधानीपूर्वक एक खास किस्म की माँग एक खास किस्म की पूर्ति के द्वारा उत्पन्न करते हैं। कई अर्थों में राजनीतिक विचारधारा भी इसी रास्ते से गुजरती है। जैसाकि यूगेन बेवर ने लिखा है, "सत्ता का संघर्ष... कुछ लोगों या कुछ प्रवृत्तियों के बीच मूक लोगों के ऊपर अपनी धाक जमाने के अधिकार के लिए संघर्ष है" (वेबर 1968,158)

यह अहसास करना हम लोगों के लिए आवश्यक है कि एक विचारधारा, जो शुद्ध अनुभव और निरपेक्ष व्यवहारों से पैदा होती है में सीमित आकर्षण शक्ति होती है। ऐसा इसलिए है क्योंकि आधुनिक समाज में निरपेक्ष व्यवहार विखंडित हैं। ट्रेड यूनियन की चेतना बहुत हद तक निरपेक्ष व्यवहारों पर निर्भर करती है। इसलिए कभी-कभार

ही बमुश्किल ये वृहत राजनैतिक विकल्प दे पाते हैं। राजनैतिक विकल्प के रूप में किसी विचारधारा को पनपने के लिए इसमें समाज के विभिन्न वर्गों के बीच उपस्थित निरपेक्ष व्यवहारों को समाहित करने की क्षमता, होनी चाहिए जिससे यह सांकेतिक स्तर पर प्रभाव उत्पन्न कर सके और व्यावसायिक क्रमिकता और राजनीतिक भाईचारे का संयोग हो। स्पष्टता बाहर से चेतना का जुड़ना भी आवश्यक है।

ऐसी स्थिति में किसी का तर्क हो सकता है कि सभी विचारधाराएँ एक योजना के तहत तैयार की गई होती हैं न कि आरोपित। यद्यपि प्राय: ऐसा माना जाता है कि आरोपित विचारधाराएँ अपने उद्‌गम में स्वत:स्फूल होती हैं और सूक्ष्म द्रष्टा प्रबुद्ध राजनेताओं के द्वारा व्यवहार में आती हैं। जैसाकि हमने पहले लिखा है सांस्कृतिक संविधान मात्र से राजनैतिक स्तर पर प्रत्यावर्तन के कारण ही जातीय विचारधारा नहीं बनती जैसाकि लोक जीवन के स्तर पर होता है। राजनैतिक रूप से प्रासंगिक होने के लिए इस सांस्कृतिक चेतना में निश्चित रूप से निर्णायक परिवर्तन करने होंगे तभी इसकी एक छवि उभरेगी।

यद्यपि धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष राजनीतिक विचारधारा में एक आश्चर्यजनक अंतर है। जातीय और साम्प्रदायिक विचारधारा अंततोगत्वा अनुमानित "प्राकृतिक भिन्नता" पर आधारित है जबकि धर्म-निरपेक्ष विचारधाराएँ "सामाजिक भिन्नता" पर आधारित हैं। लेकिन यदि ये आरोपित विचारधाराएँ निरपेक्ष क्षेत्र से सम्मिलित हो जाएँ और सामाजिक और निरपेक्ष भिन्नताएँ तीव्र हो जाएँ तो जान बूझकर सुविचारित राजनीतिक हस्तक्षेप अपरिहार्य हो जाता है। यह स्वत: स्फूर्त नहीं हो सकता और ऊपर से या बाहर से राजनीतिक हस्तक्षेप निश्चय ही बंद होना चाहिए जिससे आरोपित विचारधाराएँ चलन में आ सकें, उदाहरण के लिए कोई जातीय भी, जो अनुभव और व्यवहार के निरपेक्ष संसार में पृथक क्षेत्रों को जोड़ने में पर्याप्त बहुसंयोजी हैं। इसलिए जातीय विचारधाराएँ अपनी उत्पत्ति में कभी स्वत: स्फूर्त नहीं होती, वे कैसे प्राकृतिक हैं उसका महत्व नहीं, एक बार वे प्रकट हो जाएं तो उनका निश्चित रूप बन जाता है।

त्रयात्मक बनाम यंत्रक

तब यह हमें यंत्रीय बनाम आदिमता की बहस में कहाँ तक आगे ले जाएगा? अगर संस्कृति अथवा आदिम तत्व, को प्रमुखता नहीं दी जाती है, तो हमें यंत्रक दृष्टिकोण का चुनाव आवश्यक रूप से क्यों नहीं करना चाहिए इस तरह कि वह ब्रॉस से संयोजित हो (1974,1979) यदि हमारा विवाद ऐसे ही चलता रहा कि राजनीतिक विचारधाराएं उत्पन्न और तैयार की गई हैं तब निश्चित रूप से हमें यंत्रक स्थिति के लिए चुनाव करना चाहिए। त्रयात्मक ढाँचा क्या इसके विरुद्ध हो सकता है?

लेकिन वास्तव में पर्याप्त कारण मौजूद है कि त्रयात्मक अभिगम आदिवादियों यहाँ तक कि यंत्रकों दोनों से स्वतंत्र और आलोचनात्मक आदिवादियों और संस्कृतिशास्त्रियों के विरुद्ध हम पहले ही पर्याप्त कह चुके हैं, अब हम त्रयात्मक प्रसंगाधीन अभिगम और यंत्रकों के बीच अंतर पर एक सरसरी नज़र डालें।

यंत्रकों की स्थिति निस्संदेह आदिवादियों की दृष्टि से बेहतर है। आदिवादियों से भिन्न संस्कृति के वाहकों के रूप में कम से कम जघन्य अपराधों के कर्त्ता की दृष्टि से हमें दूर रखते हैं। बहुत से हिसाबों और षड्यंत्रों के प्रति ये हमें आगाह करते हैं जिसमें सभी प्रकार के राजनीतिक संगठन रस लेते हैं। दिए गए लोकप्रिय विकल्प कि आरोपित आंदोलन सांस्कृतिक आवेगों के द्वारा स्वत:स्फूर्त रूप में परिचालित नहीं होते हैं, आश्चर्यजनक नहीं हैं कि यंत्रक अभिगम इस प्रकार की लामबंदी निर्देश के साथ जबर्दस्ती बनाए जाते हैं।

यद्यपि ऐसी स्थिति आकर्षक है, राजनीतिक नेताओं की प्रस्तुत षड्यंत्रकारी छवि पर वैचारिक रूप से ज्यादा जोर दिया गया है, जबकि उनकी अनुयायी जनता हमेशा भोली-भाली होती है। इस संस्करण में, यह वस्तुत: आधुनिक भद्रजनोचित सिद्धांत हैं, भद्रजन हमेशा नियंत्रण में कहाँ रहते हैं। यह संक्षेप में हमें बताता हैं कि निश्चित राजनीतिक क्रिया कलाप कैसे श्रेष्ठ बन जाते हैं। उनके राजनीतिक उत्थान के पहले, न तो संत जरनैल सिंह भिंडरावाले, ना ही बाल ठाकरे इस संबंध में किसी सार्थक अर्थ में अभिजन नहीं थे। इस संदर्भ में पहले कही गई बात जैसे कि सभी विचारधाराओं और कार्यक्रमों की जड़ें नहीं होती थी, व्युयुक्त है। ऐसा नहीं है कि मानों आरोपित राजनैतिक कार्यक्रमों की सफलता के ज्यादा अवसर हैं। क्योंकि ये अपने सांस्कृतिक संविधानों में ज्यादा डूबे हुए होते हैं। अत: योजनाबद्ध तरीके से काम करने वाले व्यक्तियों के विरुद्ध दो तरह से प्रहार होते हैं। प्रथमत: वे कुछ-कुछ अपरिवर्तित अभिजातवर्गीय सिद्धांतों का समर्थन करते हैं और दूसरा वे क्रमिक रूप से इनकी विशेषताओं पर जोर देते हैं कि ये अभिजात नेता लोगों को विचारधारा के नाम पर उल्लू बनाते हैं और अपने भोले-भाले अनुयायियों को भी। इसलिए अभिजात वर्ग सांस्कृतिक चिह्नों का द्वेषपूर्ण तरीके से प्रयोग करते हैं लेकिन निरीह जनता इन चीजों से सम्मोहित हो जाती है। यदि यह तर्क पेरॉट की अभिजात वर्ग की समझ के करीब है तो ऐसा अपेक्षित ही है। इस संदर्भ में त्रिस्तरीय उपागम इन कमियों को दूर कर सकता है। यद्यपि यह स्वीकार्य है कि राजनेता माँग उत्पन्न करते हैं लेकिन इन माँगों और सहयोगी विचारधाराओं के भविष्य पूर्व निर्धारित नहीं होते हैं। अधिकांश मामलों में खासकर विशिष्ट जातीय या साम्प्रदायिक क्षणों में सफल नेता भावविह्वल हो जाते हैं। उदाहरण के तौर पर ठाकरे अक्टूबर 1966 के शिव सेना के उद्घाटन समारोह के प्रति लोगों की प्रतिक्रिया से अभिभूत थे। जैसाकि ठाकरे ने कहा, मेरे लिए सब कुछ इतनी तीव्रता से घटित हो रहा था इसलिए मैंने खुद को लहरों में समाहित कर लिया (गुप्ता 1982,73)। इसी प्रकार पंजाब के संदर्भ में भी हुआ। यद्यपि भिंडरावाले अपनी मृत्यु के पश्चात् ही महान हो सका तो भी केन्द्र के द्वारा नरमपंथियों का लगातार सफाया उसे अपने जीवन काल में ही एक महत्वपूर्ण नेता बना गया। जवाब में जातीयकरण की इस प्रक्रिया ने सिर्फ भिंडरावाले को ही सफल नहीं बनाया अपितु बहुत लम्बे समय तक अकाली दल (संयुक्त आकाली दल) को अप्लावित रखा। इसलिए आनंदपुर साहिब प्रस्ताव से अकालियों को 1980 का चुनाव जीतने की यथेष्ट ऊर्जा नहीं मिली। बावजूद इसके आनंदपुर साहिब प्रस्ताव ने

एक बड़े सिक्ख समुदाय को 1982 और खासकर ऑपरेशन ब्लू स्टार के बाद एकत्रित करने का आह्वान किया। इसके अलावा ज्यों-ज्यों त्रिस्तरीय उपागम द्विस्तरीय गठजोड़ से बाहर आता है, यह स्वयं को बाद के दिनों के अभिजातवर्गीय सिद्धांतकारों और आदिम सिद्धांतकारों से खुद को अलग करने में सक्षम हो पाता है। ठेठ द्विस्तरीय प्रारूम में प्रत्येक मामले की सांस्कृतिक रूप से निश्चित शत्रुओं के बीच की प्रतिद्वन्द्विता के संदर्भ में विश्लेषित होते हैं। इस प्रकार सिक्ख उग्रवाद को हिंदू और सिक्खों की सांस्कृतिक शत्रुता के रूप में व्याख्यायित किया जा सकता है। बम्बई में भी मराठियों और दक्षिण भारतीयों के बीच के द्वन्द्व को सांस्कृतिक समूहों के द्वारा पैदा की गई, प्रतिद्वन्द्विता के रूप में समझा जा सकता है। मराठा संस्कृति और दक्षिण भारतीय संस्कृति के बीच के संबंध की निकटता को सिर्फ आदिमपंथी ही जोड़ सकते हैं। सांस्कृतिक रूप से पूर्व निर्धारित शत्रुओं पर द्विस्तरीय विधि का आश्रित होना भी आदिमपंथियों का कारनामा है और इस बिंदु को और अधिक खगालने की जरूरत नहीं है। लेकिन यह भी सच है कि द्विस्तरीय चश्मे योजनाबद्ध तरीकों से काम करने वालों को भी मदद पहुँचाते हैं क्योंकि यह अभिजात वर्ग को शोषण करने के सांस्कृतिक नुस्खे देता है। नेता संस्कृति का द्वेषपूर्ण शोषण कर सकते है लेकिन आम जनता सदैव इसे सहज खेल के रूप में लेती है।

इन अर्थों में संस्कृतिवादियों, आदिमपंथियों और योजनाबद्ध तरीके से काम करने वालों के बीच उतनी अधिक वैचारिक दूरी नहीं है जितना प्रायः समझा जाता है। प्रारूपीय स्तर पर अपनी अभिग्रहितीय समझ के हिसाब से एक-दूसरे के करीब हैं और यह भी संभव है कि सिद्धांततः इन दोनों को एक ही माना जाए। दूसरी तरफ त्रिस्तरीय उपागम एक द्वन्द्वात्मक आंदोलन है जो इस मामले में मानवीय क्रिया और संस्कृति में एक गतिशील पवित्र रूपाकार को प्रासंगिक बनाने में योग देता है।

अंत में, हमें इस तथ्य को ध्यान में रखना चाहिए कि जातीय या साम्प्रदायिक विकल्प अनेक में से एक है, दूसरे राजनीतिक विकल्पों की तरह, और इसमें उतार-चढ़ाव है। विश्वास करना कि अब हम अटल रूप से जातीय युग में हैं, जीवनी के साथ इतिहास को जोड़ना है। इसमें घनघोर अहमन्यता और ऐसी अवस्था को धारण करने में आत्म गौरव का भाव है। जैसाकि हंगरी के कवि दार्शनिक पेट्टोफी ने एक बार गहन अनुभव के साथ सूक्ष्म अवलोकन किया था: निराशा... अहमन्यता है।

विवरण

1. यह वाक्यांश सरदार खान सिंह बाबा से संबंधित है जिन्होंने 1899 में उसी नाम से बहुत लोकप्रिय परचा लिखा था। यह ब्रिटिश कोलम्बिया विश्वविद्यालय, कनाडा के हरजीत सिंह ओबेराय द्वारा पहली बार मेरे ध्यान में लाया गया।

2. राज्यपाल मुखर्जी के अनुसार पुलिस भी उनसे परेशान थी जब वे पंजाब पुलिस नियमावली को लागू करना चाहते थे, जो, दूसरी इस प्रकार की नियमावलियों की तरह, नागरिक प्रशासन द्वारा पुलिस कार्रवाई के निरीक्षण का निर्देश करती थी (व्यक्तिगत साक्षात्कार)। मानवाधिकार समूह के द्वारा पंजाब के राज्यपाल मुखर्जी की प्रशंसा इस मायने में महत्वपूर्ण है कि आमतौर पर कोई भी मानवाधिकार समूह शासन में किसी व्यक्ति को प्रजातांत्रिक मानने में हिचकिचाते हैं।
3. यूगेन वेबर इस शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में फ्रेंच राष्ट्रवादियों के अस्थिर राजनीतिक भाग्य के बारे में लिखते हैं: 1889 में बुलंगवाद, 1899 में राष्ट्रवाद, पुन: 1909 में राष्ट्रवाद।... गणतंत्र अपने दशवार्षिक संकट में डूब रहा है (वेबर 1968 :68)। 1905 में न तो राष्ट्रवाद का अंत हुआ जब कुछ लोग स्वयं को राष्ट्रवादी बता रहे थे, पुनर्मतदान को निरापद बनाने में असफल रहे (वही :42)।
4. टोरंटों विश्वविद्यालय के एर्नी लाइटमैन कदाचित इस अंश में अपना कुछ प्रभाव पा सकते हैं।

अर्थव्यवस्था और समाज : ग्रामीण-नगरीय, कृषीय-औद्योगिक

8

सामाजिक क्षेत्र के कई पक्ष हैं: आर्थिक राजनीतिक, धार्मिक, पारिवारिक, शैक्षणिक आदि। ये सभी पक्ष एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। इनमें से प्रत्येक के अध्ययन के लिये सामाजिक विज्ञान की अलग-अलग शाखायें हैं। अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र क्रमश: आर्थिक एवं राजनीतिक विषयों का अध्ययन करते हैं। समाजशास्त्र की कई शाखायें हैं जो विभिन्न सामाजिक पहलुओं का अध्ययन करती हैं। जैसे धर्म का समाजशास्त्र, शिक्षा का समाजशास्त्र आदि। अर्थव्यवस्था सामाजिक जीवन का एक महत्वपूर्ण पहलू है और इसलिये समाजशास्त्र के अध्ययन की एक महत्वपूर्ण विषयवस्तु है। समाजशास्त्र की वह शाखा जो सामाजिक जीवन के आर्थिक पक्ष का अध्ययन करती है उसे आर्थिक समाजशास्त्र के नाम से जाना जाता है। इसके अन्तर्गत विभिन्न शीर्षक आते हैं जैसे कार्य का समाजशास्त्र, अवकाश का समाजशास्त्र, व्यवसाय का समाजशास्त्र और विकास का समाजशास्त्र।

और सामाजिक जीवन के गैर-आर्थिक पक्ष में सम्मिलित हैं– सामाजिक संरचना (अन्त: वैयक्तिक अन्त:क्रियाएं और संबंध), राजनीतिक व्यवस्था, स्तरीकरण व्यवस्था और सांस्कृतिक व्यवस्था (सामाजिक मूल्य और वैचारिकी)। सामाजिक जीवन के ये दोनों पहलू अन्त: संबंधित हैं और एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। आर्थिक कार्यशैली का जो रूप अर्थव्यवस्था निर्धारित करती है उसी से सामाजिक अन्त:क्रिया की प्रकृति का निर्धारण होता है। आधुनिक व्यवसायों और नौकरियों से पति-पत्नी और पिता-पुत्र के परम्परागत संबंधों में व्यापक परिवर्तन आया है। परिवारों का आकार छोटा हुआ है। संबंधों का स्वरूप जो पहले सत्तावादी था धीरे-धीरे परिवर्तित होकर प्रजातांत्रिक हो रहा है। आर्थिक एवं सामाजिक मसलों के निर्णय में स्त्रियों की भागीदारी बढ़ी है। काम में समय का महत्व बढ़ने से परिवार के सामूहिक क्रिया कलाप जैसे एक साथ भोजन, मनोरंजन और सोना आदि भी प्रभावित हुआ है। भारत वर्ष की कृषीय अर्थव्यवस्था में आये परिवर्तन के कारण परम्परागत अन्तरजातीय संबंधों, कृषक संबंधों और सामुदायिक स्वरूप में भी व्यापक परिवर्तन आया है। कार्ल

मार्क्स का विचार है कि समाज की अधिसंरचना (सामाजिक संबंध वैचारिकी दर्शन, मूल्य, नैतिकता) का निर्धारण अवसंरचना (उत्पादन प्रणाली, उत्पादन संबंध) से होता है।

यही नहीं कि आर्थिक दशायें ही सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था की प्रकृति निर्धारित करती हैं, वरन् सामाजिक-सांस्कृतिक दशायें भी अर्थव्यवस्था की प्रकृति निर्धारित करती हैं। मैक्स वैबर का मत है कि प्रोटेस्टैंट धर्म ने आधुनिक पूँजीवाद के विकास में मदद की जबकि हिन्दू धर्म भारत वर्ष के आर्थिक विकास में सहायक नहीं सिद्ध हुआ क्योंकि यह धर्म परित्याग, अध्यात्म, मोक्ष और धन संचय न करने के मूल्यों पर बल देता है। सामाजिक संरचना आर्थिक विकास को प्रभावित करती है। यह इस तथ्य से प्रमाणित होता है कि योजनाबद्ध प्रयासों के बावूजद भारतीय जाति व्यवस्था ने देश की ग्रामीण अर्थव्यवस्था और कृषक संरचना में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं होने दिया। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि समाज के आर्थिक और गैर-आर्थिक पक्षों में परस्पर निर्भरता है। आर्थिक समाजशास्त्र इसी अन्त: संबंध का अध्ययन करता है। प्रस्तुत निबंध में इसी प्रकार के अन्त: संबंधों का विश्लेषण भारतीय समाज के संदर्भ में किया गया है।

आरम्भिक अर्थशास्त्र में आर्थिक विकास की व्याख्या विशुद्ध रूप से आर्थिक चरों जैसे भूमि, श्रम, पूंजी, उपभोग और बचत के आधार पर की गयी है। एडम स्मिथ श्रम पर बल देते हैं और श्रम को ही धन एवं मूल्य का स्रोत अथवा कारण मानते हैं। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री केन्स ने अपनी उपभोग, बचत और निवेश की संकल्पनाओं के आधार पर यह मत व्यक्त किया कि अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ तक की लम्बी अवधि में औसत व्यक्ति के जीवन स्तर में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ और इस प्रगति शून्यता के दो प्रमुख कारण थे-महत्वूपर्ण तकनीकी सुधार का न होना और पूँजी संचय का अभाव। शास्त्रीय अर्थशास्त्रियों की दृष्टि में आर्थिक विकास वह स्थिति है जिसमें बचत (संचय) की दर में वृद्धि होती है जिसका निर्धारण पूँजी और श्रम तथा भूमि के अनुपात से होता है। अर्थात् वह राज्य अविकसित है जिसमें पूँजी का अनुपात भूमि एवं श्रम से कम है।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अर्थशास्त्र के परिप्रेक्ष में क्रांतिकारी मोड़ आया। विशेष रूप से तब जब अर्थशास्त्रियों का ध्यान विकासशील देशों की विकास की समस्याओं की ओर केन्द्रित हुआ। उन्हें एहसास हुआ कि आर्थिक विकास की समस्याओं को सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था से अलग स्वतंत्र रूप से आर्थिक आधार पर नहीं समझा जा सकता है क्योंकि आर्थिक विकास की अधिकांश समस्याएं गैर-आर्थिक हैं जैसे सामाजिक-सांस्कृतिक, राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक। यदि भारतीय समाज का संदर्भ लें तो पायेंगे कि जाति एवं व्यवसाय में सहसंबंध रहा है और भूस्वामित्व और कृषक संबंधों पर जाति-व्यवस्था का सीधा प्रभाव रहा है। आज व्यापक सामाजिक परिवर्तन के बाद भी इस परम्परागत अन्त: संबंध में पर्याप्त निरन्तरता दिखाई पड़ती है। हम इस तथ्य से भलीभाँति परिचित हैं कि देश की आर्थिक विकास की दर में सापेक्ष कमी आई है। धीमी विकास प्रक्रिया का

कारण जितना प्रतिकूल सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियां हैं उतना भौतिक संसाधनों की अपर्याप्तता नहीं है। इस बिन्दु पर आगे विस्तार से प्रकाश डाला जायगा।

ब्रितानियाँ शासन के पूर्व की अर्थव्यवस्था एवं समाज

अंग्रेजी शासन से पूर्व तक भारतीय गाँव आर्थिक दृष्टि से लगभग आत्मनिर्भर थे और एक मूल आर्थिक इकाई के रूप में काम करते थे। मैटकाफ ने भारतीय गाँव को लघु गणतंत्र कहा है। गाँव में अधिकांश लोग कृषक थे। उनके बीच भूमि का वितरण गाँव समिति करती थी। कृषक परिवार सामूहिक श्रम द्वारा खेती करता था और जमीन पर उसका परम्परागत अनुवांशिक अधिकार होता था। राजा अथवा बिचौलिये ग्रामीण समुदाय को गाँव की जमीन से बेदखल नहीं करते थे। कभी-कभी राजाओं के बीच आपस में संघर्ष होते थे यह सघंर्ष कृषक से लगान या किसी तरह का भुगतान प्राप्त करने के अधिकार प्राप्त करने के लिये होता था। कृषि उत्पादन गाँव की आवश्यकताओं की पूर्ति मात्र के लिये होता था। आवश्यक रूप से उत्पाद का एक अंश सम्प्रति मालिक को देना पड़ता था।

कृषक परिवारों के अतिरिक्त गाँव में औद्योगिक कार्य करने वाले भी होते थे, जैसे लुहार, कुम्हार, बढ़ई, धोबी, तेली, नाई, मोची आदि। ये शिल्पी जातियाँ थीं जो अपना पेशा मात्र गाँव के लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही करती थीं। कृषि तथा औद्योगिक उत्पादों का विनिमय गाँव तक ही सीमित था और गाँव की ही जनसंख्या लगभग समस्त उत्पाद का उपभोग करती थी। गाँव के शिल्पी को गाँव से ही कच्चा माल उपलब्ध हो जाता था और इस दृष्टि से भी गाँव आत्म निर्भर थे। कृषि एवं उद्योग के उपयोग में आने वाले उपकरण सरल एवं निम्न श्रेणी के होते थे और हस्तचालित थे।

भारतीय समाज-व्यवस्था ऐसी थी जिसमें व्यक्ति पूर्णतया जाति परिवार तथा गाँव पंचायत के आधीन था और उनके द्वारा निर्धारित नियमों एवं निर्देशों का अनुपालन करता था। गाँव की आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था में इन्ही संस्थाओं के प्रति उसके दायित्व थे। व्यापारियों तथा व्यवसायियों के दायित्व व्यापार संघों के प्रति भी थे। जमींदारी अधिकार घनिष्ठ रूप से जाति अथवा गोत्र-प्रमुख से संबद्ध था। एक स्थान के जमींदार बहुधा एक ही जाति के हुआ करते थे। जमींदारों की शक्ति आर्थिक ही नहीं सैनिक भी थी। इसलिये उनकी राजनीतिक शक्ति को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता था। जमींदारी अधिकार स्वयं एक सम्पत्ति के रूप में था जिसका क्रय-विक्रय भी हो सकता था। जमींदारी को खरीदने वाले अधिकांशत: अधिकारीगण थे। व्यापारियों द्वारा जमींदारी क्रय करने के उदाहरण कम मिलते थे। जाति आर्थिक संगठन की प्रमुख निर्धारक संस्था थी। यातायात और संचार के आधुनिक साधनों के अभाव में गाँव के लोगों का बाहरी दुनिया से सम्पर्क बहुत कम था। प्राकृतिक आपदा से ग्रामीण जीवन को खतरा बना रहता था। ग्रामीण सामाजिक संगठन जातिगत संस्तरण पर ही आधारित था। इसलिये व्यक्ति की सामाजिक हैसियत और उसके कार्य प्रदत्त प्राकृतिक

होते थे, अर्थात् जन्म से निर्धारित होते थे। वह सामाजिक प्रतिबंधों और सांस्कृतिक निषेधों का पूर्णतया सम्मान करता था। परिवार का आकार बड़ा होता था जिसमें कई पीढ़ियों के लोग एक ही आवास में निवास करते थे। उनके संबंधों का स्वरूप सत्तावादी था। सर्वोच्च सत्ता ज्येष्ठतम पुरुष सदस्य में निहित थी। परिवार के सम्मुख व्यक्ति का स्थान गौण था। व्यक्ति की सामाजिक हैसियत एवं प्रतिष्ठा निर्धारित होती थी उसके परिवार की हैसियत एवं प्रतिष्ठा से। गाँव सदियों से अंधविश्वासों, धार्मिक रहस्यों और संकीर्ण रूढ़िगत धारणाओं में जकड़ा हुआ था। ऐसा था मध्यकालीन भारत का आर्थिक सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन। इस तरह की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में ऐसे व्यक्तित्व के उभरने की सम्भावना बहुत कम थी जिसमें विवेकशीलता हो, जोखिम उठाने की प्रवृत्ति हो, विकास के नये मार्ग चुनने की मनोवृत्ति हो और नेतृत्व प्रदान करने की प्रतिभा हो।

पूर्व उपनिवेशीय भारत वर्ष में ग्रामीण अर्थव्यवस्था, जिसका विवेचन हमने ऊपर किया, के समानान्तर शहरी अर्थव्यवस्था भी थी। परन्तु नगर बहुत कम थे और जो थे उनके आकार छोटे थे। सामान्यतया तीन प्रकार के नगर थे: राजनीतिक, धार्मिक-सांस्कृतिक और व्यापारिक। राजनीतिक नगर वे थे जहां साम्राज्यों की राजधानियाँ होती थीं। इस नगर में प्रमुख रूप से शासन से संबंधित अधिकारीगण, सैनिक तथा विशेष प्रतिभा वाले लोग जैसे शिल्पकार, वास्तुकार, चित्रकार, गायक कवि आदि रहते थे। बनारस, मथुरा, पुरी जैसे अन्य नगर थे जिनका धार्मिक महत्व था। इन नगरों में उनका स्थायी निवास था जो आने वाले तीर्थयात्रियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। तीसरी श्रेणी में व्यापारिक महत्व वाले नगर थे जो व्यापार की सुविधा के लिये स्थापित हुये। औद्योगिक उत्पाद का परिवहन प्रमुखत: जलमार्ग से ही होता था। इसलिए बहुत से नगरों का प्रादुर्भाव एवं विकास नदियों और समुद्र के किनारे हुआ। ये नगर व्यापार के केन्द्र थे। हस्तशिल्प इन नगरों का एक प्रमुख उद्योग था। विभिन्न प्रकार के सिल्क और सूती वस्त्र, धातु के कार्य, पत्थर तराशने के कार्य, रंगाई और छपाई के कार्य चीनी और कागज के उद्योग जैसे औद्योगिक क्रियाकलाप इन नगरों में होते थे। अंग्रेजी शासन से पहले इन उद्योगों का अपनी कला और गुणवत्ता के लिये विश्व में गौरवपूर्ण स्थान रहा है। और समस्त विश्व में इनके उत्पादों की माँग थी। वैसे शहरी उद्योगों का बाज़ार सीमित था क्योंकि इनमें आम जनता के दैनिक उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन नहीं होता था। इनके कुछ उत्पाद ऐसे थे जो केवल उच्च वर्ग और राजघरानों के लोग खरीदने में सक्षम थे, जैसे कालीन और कलाकृतियाँ तथा कुछ अन्य उत्पाद संस्थाओं की विशिष्ट आवश्यकताओं को पूरा करते थे। ग्रामीण अर्थव्यवस्था के आत्मनिर्भर होने के कारण नगरीय उद्योगों का व्यापारिक विस्तार गाँव तक नहीं हो सका था।

ब्रितानिया शासन और आर्थिक सामाजिक संरचना का नया युग

भारत में अंगेजी शासन की स्थापना से एक नये युग का आरम्भ हुआ और इसी के साथ शुरू हुआ मध्यकालीन गाँव की आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था का

अंत। नगरीय हस्तशिल्प उद्योगों का स्थान कारखाना व्यवस्था ने लेना शुरू कर दिया। परम्परागत वर्गों जैसे राजा, पुरोहित, साहूकार, शिल्पकार और कृषक मजदूर के स्थान पर नये वर्गों जैसे जमींदार, आसामी, कृषक मजदूर, पूँजीपति, औद्योगिक मजदूर एवं प्रशासकीय अधिकारी का उदय हुआ। मुगल काल तक भूमि पर कृषकों का वैयक्तिक स्वामित्व नहीं था। उन्हें भूमि के उपयोग का प्रथागत अधिकार मात्र था और उत्पादन का एक अंश राजस्व के रूप में उन्हें राजा को देना पड़ता था। यद्यपि इस समय तक राजस्व का मुद्रा में भुगतान होने लगा था परन्तु भूमि उपयोग का जो रिवाजी अधिकार था वह नहीं बदला था।

अंग्रेजी शासन ने कृषि अर्थव्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन किए। एक नयी राजस्व व्यवस्था लागू हुई। स्थायी भूमि बंदोबस्त करके पहले से राजस्व एकत्रित करने वालों को ही भूस्वामियों में परिवर्तित कर दिया गया। इस प्रकार ग्रामीण वर्ग संरचना में व्यापक परिवर्तन हुआ और शोषण करने वालों के नये कृषक-हित समूहों का उदय हुआ।(देखें स्ट्रोक 1970, जोशी 1969,) अंग्रेजों की आरम्भिक आर्थिक और राजनीतिक नीतियों के परिणाम स्वरूप जहाँ एक ओर पुराने वर्ग समाप्त हुये वहीं नयी सामन्ती कृषक संरचना का उदय हुआ।

कृषीय वर्ग संरचना

अंग्रेजी शासन ने अलग-अलग क्षेत्रों में तीन प्रकार की कृषि व्यवस्था लागू की। जमींदारी, रैयतबाड़ी और महालवाड़ी। तीनों ही व्यवस्थाओं में लगभग एक ही प्रकार की वर्ग संरचना गाँवों में थी। जमींदारी व्यवस्था में मुख्य रूप से जमींदार, आसामी और कृषक मजदूर वर्ग थे। रैयतबाड़ी व्यवस्था में किसानों के दो वर्ग थे: रैयत भूस्वामी और रैयत किसान। जमींदार जमीन का मालिक होता था परन्तु स्वयं खेती नहीं करता था। वह केवल कर वसूल करता था। आसामी खेती करता था और कर देता था। वह जमीन का मालिक नहीं होता था। कृषक मजदूर वंशानुगत रूप से भूस्वामी से संबद्ध रहता था। उसकी हैसियत बहुत कुछ बंधुआ मजदूर की होती थी। इस कृषक वर्ग संरचना की प्रकृति सम्पूर्ण भारत में सामन्ती थी और जाति-संरचना से सीधे संबंधित थी। सामान्यतया जमींदार उच्च जाति के, आसामी मध्यवर्ती जातियों के और मजदूर निम्न जातियों के थे।

रैयतबाड़ी व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक कृषि क्षेत्र रैयत के नाम से रहता था। कभी-कभी रैयत को पट्टेदार भी कहा जाता था। रैयत कर का भुगतान सीधे सरकार को करता था। कृषि क्षेत्र का सर्वेक्षण करके उसकी उपज का मूल्यांकन किया जाता था और लगान का भुगतान उसी के अनुपात में करना होता था। महालवाड़ी व्यवस्था जमींदारी व्यवस्था से केवल इस माने में भिन्न थी कि महालवाड़ी व्यवस्था के अन्तर्गत राजस्व का आंकलन सम्पूर्ण गाँव की भूमि को एक इकाई मान कर किया जाता था।

स्वतंत्र भारत की आर्थिक सामाजिक संरचना

राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ ही सामन्ती वर्ग संरचना का भी विरोध शुरु हो गया और देश के विभिन्न भागों में कृषकों के शोषण के विरुद्ध किसान

आन्दोलन होने लगे। इनमें 1875 का दक्खन कृषक आन्दोलन प्रमुख हैं। इन आन्दोलनों को राष्ट्रीय नेताओं ने नेतृत्व प्रदान किया। परिणामस्वरूप देश के आजाद होते ही सन् 1950 में जमींदारी प्रथा सामाप्त हो गई। शोषण को समाप्त करने और समाजवादी अर्थव्यवस्था स्थापित करने के उद्देश्य से भूमि सुधार योजना लागू की गयी। परन्तु इसका क्रियान्वयन प्रभावशाली ढंग से नहीं हुआ। भूमि सुधार नीति का प्रभावशाली क्रियान्वयन न होने का एक बड़ा कारण यह था कि इसके लिये जिम्मेदार प्रशासनिक अधिकारी उच्च कृषक वर्ग से ही संबंधित थे। इसलिये उन्हें नीतियों को प्रभावी ढंग से लागू करने में हिचकिचाहट रही। फिर भी भूमि सुधार का कुछ प्रभाव हुआ। और इसका परिणाम यह हुआ कि ग्रामीण जगत में कृषकों का एक नया उच्च मध्यम वर्ग उत्पन्न हुआ तथा उच्च और निम्न कृषक वर्गों के बीच का अन्तराल और बढ़ गया जिसके कारण ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था में तनाव और संघर्ष बढ़ गये। भूमि सुधार योजना का सबसे अधिक लाभ मध्यवर्ती किसानों को हुआ और इस कारण जो आर्थिक राजनीतिक शक्ति पहले जमींदारों के पास थी वह इस वर्ग के पास हस्तान्तरित हो गयी। परम्परागत रूप से आर्थिक राजनीतिक शक्ति सामान्यता राजपूत, बाह्मण और भूमिहार जातियों के पास थी। अब यह शक्ति यादव और कुर्मी जैसी मध्यवर्ती कृषक जातियों के हाथ में आती जा रही है। अध्ययनों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि गाँव में परम्परागत सामन्ती भूस्वामियों के स्थान पर नये भूस्वामियों का उदय हुआ है। ये नये भूस्वामी खेती व्यापार के रूप में करते हैं। या तो स्वयं अपनी जमीन पर खेती करते हैं अथवा व्यापार के रूप में दूसरों से करवाते हैं। कृषि का व्यापारीकरण हो गया है। इस व्यापारीकरण के कारण कृषि उत्पादन में भारी वृद्धि तो हुई परन्तु कृषक वर्गों का ध्रुवीकरण भी प्रबल हुआ। थोड़े से भूस्वामी बहुत धनी हो गये और अधिकांश भूमिहीन और सीमान्त कृषक और गरीब हुये। धनी और गरीब के बीच की दूरी बढ़ी है जिसके कारण गाँव में तनाव बढ़ा है और राजनीतिक लामबंदी आरम्भ हो गयी है।

परम्परागत संरचना में भी व्यापक परिवर्तन हुआ है। मध्यवर्ती कृषक परिवारों का आर्थिक उत्थान तथा भूतपूर्व जमींदारों की हैसियत में गिरावट आयी है। इस उत्थान एवं पतन को के. एल. शर्मा क्रमश: बुर्जुआकरण और सर्वहाराकरण कहते हैं। जातिवर्ग और शक्ति संरचना में सकारात्मक संहसंबंध रहा है अर्थात् उच्च जाति के लोग ही उच्च श्रेणी के भूस्वामी भी रहे और इसके नाते उन्हीं के पास ही राजनीतिक शक्ति भी रही। भूमि-सुधार से आयी परिवर्तनशीतला का परिणाम यह हुआ कि जाति-वर्ग और शक्ति के परम्परागत संयोग में कुछ परिवर्तन आया है। आज यह आवश्यक नहीं है कि उच्च वर्ग का व्यक्ति उच्च जाति का भी हो।

अभिजन वर्ग

अभिजन समाज का वह उच्च वर्ग है जो प्रभुता सम्पन्न होता है। इसके पास जनसामान्य के बारे में निर्णय लेने की शक्ति होती है। इसे समाज का एक शासक वर्ग कहा जा सकता है। अभिजन की शक्ति का निर्धारण उसकी आर्थिक राजनीतिक

और धार्मिक हैसियत से होता है। अभिजन की अवधारणा समूहगत है। यह एक वर्ग की द्योतक है न कि व्यक्ति की। परम्परागत समाजों में अभिजन की हैसियत प्रदत्त, अनुवांशिक एवं अपरिवर्तनीय होती थी और सामान्यतया धार्मिक एवं आर्थिक वर्चस्व ही इसका आधार था। परन्तु आधुनिक समाजों में अभिजन की हैसियत अर्जित एवं परिवर्तनीय होती है और शिक्षा राजनीतिक शक्ति और आर्थिक स्थिति से निर्धारित होती है। राजनेता, व्यापारी वर्ग, सम्पन्न किसान वर्ग और विद्वान आज के नये अभिजन के उदाहरण हैं।

मध्यकाल तक ग्रामीण क्षेत्र में अभिजन की दो श्रेणियाँ थीं, प्रथम, ब्राह्मण, जिनकी अभिजातीय हैसियत का आधार था जाति, संस्तरण में उनका सबसे ऊपर होना और उनका कर्मकाण्डीय वर्चस्व। द्वितीय, भूस्वामी कुलीन, जो सामान्यतया राजपूत, भूमिहार जैसी जातियाँ थीं जो जाति संस्तरण में दूसरे स्थान पर थी। अंग्रेजी शासन काल में शिक्षित वर्ग भी अभिजात की श्रेणी में सम्मिलित हो गया। (इण्डेन 1990: 5)। यद्यपि अभिजन संरचना पर जाति-संस्तरण की प्रत्यक्ष गहरी छाप दिखाई पड़ती है परन्तु अभिजात वर्ग का विश्लेषण विशुद्ध रूप से जाति के आधार पर ही किया जाना उपयुक्त नहीं होगा। वस्तुत: अठारहवीं शताब्दी के बाद सामाजिक गतिशीलता और सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में आयी गति के कारण अभिजन के परम्परागत आधार में भी परिवर्तन आया।

अंग्रेजी शासन के पूर्व भारतीय गाँवों की अभिजन संरचना का यदि विश्लेषण किया जाय तो ज्ञात होता है कि अभिजातीय हैसियत का आधार जाति एवं भूसम्पत्ति दोनों था। जाति को अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण माना जा सकता है परन्तु अंग्रेजी शासन काल में जातीय आधार कमजोर हुआ और भूसम्पत्ति, शिक्षा और गैरपरम्परागत व्यवसाय के आधार पर अभिजन की हैसियत निर्धारित होने लगी। न केवल अभिजन की हैसियत का आधार बदला बल्कि अभिजन संरचना में गतिशीलता भी आयी। परम्परागत अभिजात समूह जैसे ब्राह्मण एवं कुलीन अपरिवर्तनीय तो नहीं थे परन्तु उनमें थोड़ा स्थायित्व अवश्य था।

उन्नीसवीं शताब्दी में परम्परागत अभिजन संरचना और अभिजन की हैसियत में उत्थान अथवा ह्रास मुख्य रूप से भूमि एवं राजस्व के संबंध में अंगेजी शासन की नीतियों से निर्धारित होता था। इस अवधि तक देश के अधिकांश क्षेत्रों में कुल भूसम्पत्ति का 30 से 40 प्रतिशत केवल कुछ ही भूस्वामियों के नियंत्रण में होता था और शेष 70 प्रतिशत जमीन हजारों छोटे भूकिसानों में वितरित होती थी। अंग्रेजों ने भूमि का पुनर्वितरण कर बहुत से नये भूस्वामियों और रियासतों को जन्म दिया। उदाहरण के तौर पर बंगाल में सन् 1790 में 46 रियासतें थीं जो 1793 में बढ़कर 122 और 1875 में 4408 हो गयी। इसी प्रकार बिहार, उत्तर प्रदेश और दक्षिण भारत में बहुत से नये अभिजन समूह उभरे। अभिजन संरचना में परिवर्तन की इस प्रक्रिया में अंग्रेजी शासन की नीतियों के कारण बहुत से पुराने भूस्वामी बेदखल हुये और दूसरे बहुत से नये भूस्वामी बने। (इन्डेन 1990) इसके परिणाम स्वरूप पुराने भूस्वामियों में शासन के प्रति असंतोष पनपा। यह इस तथ्य से प्रमाणित

होता है कि 1857 के विद्रोह में इन भूस्वामियों की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही (देखें स्ट्रोक 1970)। अंग्रेजी शासन की राजस्व नीति के परिणाम स्वरूप नये ग्रामीण अभिजन उभरे क्योंकि पुराने अभिजन अपनी भूसम्पत्ति से बेदखल हुये परन्तु यह भी ध्यान देने योग्य है कि नए भूस्वामी अभिजन के आने से पुराने अभिजात वर्ग का सफाया नहीं हो गया। जमीन को शहरों में रहने वाले लोगों ने खरीदा। परन्तु पुराने भूस्वामी ही इनसे समायोजन करके, जमीन को जोतते रहे और अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखी। नये भूस्वामी केवल अन्यत्र भूस्वामी ही रहे।

पी. सी. जोशी ने बदलती कृषक वर्ग संरचना और कृषक संबंधों की विशेषताओं को इस प्रकार प्रस्तुत किया है:

(1) सामन्ती और प्रथागत काश्तकारी का पतन और इसके स्थान पर और अधिक शोषणकारी तथा असुरक्षित पट्टे की व्यवस्था की स्थापना।
(2) धनी और मध्यम स्तरीय कृषक वर्ग पर आधारित व्यापारिक काश्त कारी में वृद्धि। यह कृषक वर्ग उन लोगों का है जो अंशत: भूस्वामी और अंशत: काश्तकार हैं तथा इनके पास प्रगतिशील खेती करने के संसाधन हैं और उद्यमी प्रवृत्ति भी।
(3) सामन्ती भूस्वामियों का पतन और व्यापारोन्मुख भूस्वामियों का उदय (जोशी 1971)।

कृषि के व्यापारीकरण के परिणामस्वरूप जहाँ एक ओर हरित-क्रांति हुई और कृषि उत्पादन में अप्रत्याशित वृद्धि हुई वहीं कृषक वर्गों के बीच अमीरी और गरीबी की खाई और अधिक चौड़ी हुई जिसके परिणामस्वरूप देश के विभिन्न हिस्सों में वर्ग संघर्ष और तनाव बढ़े। निम्न वर्ग के कृषकों और कृषक मजदूरों में आन्दोलन को बढ़ावा मिला और राजनीतिक जागृति आयी। नये राजनीतिक दबाव-समूह खड़े हुये तथा देश का राजनीतिक स्वरूप बदला। उन वर्गों की राजनीतिक प्रक्रिया में भागीदारी बढ़ी जो अब तक इससे वंचित रहे। समाजवादी पार्टी, समता पार्टी ऐसे राजनीतिक दल हैं जो देश की राजनीति में प्रभाव पूर्ण स्थान रखते हैं। इन राजनीतिक दलों को देश के निम्न जाति-वर्ग का समर्थन और सहानुभूति प्राप्त है। फिर भी हम यह देखते हैं कि ग्रामीण आर्थिक-सामाजिक संरचना में व्यापक परिवर्तनों के साथ-साथ पर्याप्त संरचनात्मक निरन्तरता भी है। पुराने भूस्वामियों की बरकरार प्रभु स्थिति और जातीय आधार की प्रबलता इस निरन्तरता का प्रमाण है।

औद्योगीकरण और सामाजिक संरचना

भारत वर्ष के औद्योगीकरण का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। वैसे तो इसका सूत्रपात 19वीं शताब्दी के मध्य हुआ जब पहला उद्योग सन् 1850 में स्थापित हुआ, परन्तु देश के आजाद होने से पहले, विशेष रूप से 20वीं शताब्दी के आरम्भ तक औद्योगीकरण की गति बहुत धीमी रही। आरम्भिक दिनों में तो उद्योगों की स्थापना करने वालों में अधिकांश अंग्रेज ही रहे। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उन्नीसवीं शताब्दी के पहले भारत वर्ष में उद्योग नहीं थे। यद्यपि इस प्रकार की धारणा कुछ विदेशी लेखकों की कृतियों में झलकती है। शहरी उद्योगों के क्षेत्र में भारत का विश्व में गौरवशाली स्थान रहा है। बनारसी साड़ियाँ, भदोही और

कश्मीर के कालीन, राजस्थान का पत्थर तराशने का काम और मैसूर का चन्दन की लकड़ी का काम कुछ प्रमुख उदाहरण हैं जो अपनी कला के लिये प्रसिद्ध थे और यूरोपीय देशों में इनकी बड़ी माँग थी। सामाजिक और राजनीतिक कारणों से जिसमें अंग्रेजी शासन की विरोधी औद्योगिक नीतियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, भारतीय उद्योग लुप्त तो नहीं हुये परन्तु उन्नति नहीं कर सके और केवल हस्तशिल्प के स्तर तक ही सिमट कर रह गये।

भारत वर्ष में औद्योगीकरण की प्रक्रिया देर से ही नहीं आरम्भ हुई बल्कि इसकी गति भी बहुत धीमी रही। इसका कारण देश का राजनीतिक इतिहास तो है ही परन्तु अधिक महत्वपूर्ण है– उद्यमीय कुशलता की कमी एवं उद्यमीय आपूर्ति में बाधा।

औद्योगीकरण में उद्यमी की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है। उद्यमी वह व्यक्ति है जो किसी औद्योगिक इकाई की स्थापना की योजना बनाता है, आवश्यक आधारभूत चीजें जैसे पूंजी, श्रम, मशीनें, कच्चा माल आदि जुटाता है, इकाई की स्थापना करता है, उत्पाद के लिये बाजार तैयार करता है और इकाई के सफल स्थायित्व के लिये निरन्तर सतर्क एवं क्रियाशील रहता है। एक उद्यमी की रूचि नवाचार में होती है और उसमें जोखिम उठाने की प्रवृत्ति और साहस होता है। व्यापार में अनिश्चितता बहुत होती है, इसलिये उद्यमी में प्रबंधकीय निपुणता के साथ-साथ जोखिम उठाने का साहस, मजबूत इरादा तथा प्रबल अभिप्रेरणा होनी चाहिये। पूंजी उपलब्ध होने मात्र से ही किसी व्यापारिक प्रतिष्ठान की स्थापना और सफलता सुनिश्चित नहीं मानी जा सकती जब तक कि पूंजी किसी योग्य व्यक्ति के हाथ में न हो और वह योग्य व्यक्ति है एक उद्यमी जिसमें उपर्युक्त गुण हों।

औद्योगीकरण आर्थिक विकास का प्रमुख आधार है और औद्योगीकरण की दर इस बात पर निर्भर करती है कि ऐसा सामाजिक और राजनीतिक परिवेश हो जिसमें अधिक से अधिक उद्यमी खड़े हो सकें। शुम्पीटर ने आर्थिक विकास में उद्यमी की भूमिका को बहुत महत्वपूर्ण माना है। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान जर्मनी और जापान के पास यदि कुछ बचा था तो उनकी कठिन परिश्रम की परम्परा, तकनीकी निपुणता और उद्यमीय प्रवृत्ति जिसके कारण वे बड़ी आर्थिक शक्ति के रूप में पुन: स्थापित हो सके।

एशियाई, अफ्रीकी और लैटिन अमरीकी विकासशील देशों के आर्थिक विकास के बारे में शुरू हुये चिन्तन के साथ ही विकास में उद्यमी की भूमिका की अपरिहार्यता प्रकाश में आयी और इसी के फलस्वरूप उद्यमिता विकास के अध्ययनों का केन्द्र बिन्दु हो गया। अर्थशास्त्र एवं लगभग सभी सामाजिक विज्ञानों में इस तथ्य पर सहमति है कि उद्यमिता का विकास सकारात्मक, सामाजिक सांस्कृतिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों में ही होता है।

भारत वर्ष के आरम्भिक उद्योग थे जूट और सूती वस्त्र। बीसवीं शताब्दी के प्रथम तीन दशकों तक ये प्रमुख उद्योग रहे। सन् 1911 में टाटा आयरन एवं स्टील वर्क्स की स्थापना के साथ परम्परागत उद्योगों की समाप्ति का आरम्भ हुआ और आरम्भ हुआ स्वदेशी उद्यमियों का

औद्योगिक क्षेत्र में पदार्पण। इस दिशा में पहल करने वाले तीन समुदाय थे: पारसी, गुजराती और मारवाड़ी। इन समुदायों के सबसे पहले आगे आने का तार्किक कारण है। जाति व्यवस्था तब तक इतनी शिथिल नहीं हुई थी जितनी आज हो गयी है। जाति, धर्म और व्यवसाय से जुड़ी थी और कई तरह के व्यावसायिक और सांस्कृतिक प्रतिबंध अपने सदस्यों पर लगाती थी। पारसी न केवल जाति व्यवस्था की परिधि के वाहन थे बल्कि पहले से ही नाव बनाने के उद्यम में लगे होने के कारण पूंजी सम्पन्न भी थे और उन्हें उद्यम का अनुभव भी था। गुजराती और मारवाड़ी परम्परागत रूप से व्यापार करते थे और उन्नीसवीं शताब्दी से ही बहुत गतिशील थे। व्यापार का अनुभव और पूंजी संचय के अवसर उपलब्ध होने के कारण इन समुदायों को आधुनिक उद्योग में प्रवेश करने में आसानी हुई। यही कारण है कि ये ही आज के सफल उद्योगपतियों में भी शामिल हैं। इनमें से कुछ विख्यात नाम हैं बिड़ला, डालमियां, जमशेदजी टाटा, रुइया, सारा भाई कस्तूर भाई आदि।

मैक्स वैबर जैसे कुछ पाश्चात्य विचारकों का मत है कि भारत वर्ष में मंद आर्थिक विकास का कारण है यहाँ की जाति-व्यवस्था और हिंदू संस्कृति। जाति-व्यवस्था में व्यावसायिक गतिशीलता पर प्रतिबंध एवं हिन्दू धर्म में त्याग पर विशेष बल उद्यमिता के विकास को अवरूद्ध करते हैं। यह दृष्टिकोण पूर्णत: सही नहीं है। यद्यपि जाति व्यवस्था में अधिकांश जातियों के व्यवसाय निश्चित थे, परन्तु यह मानना गलत है कि व्यावसायिक गतिशीलता बिल्कुल नहीं थी। व्यवसाय बदलने और सामाजिक हैसियत मिलने के भी प्रमाण मिलते हैं। सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक कारणों से जातियों की सामाजिक हैसियत बदलती रही है। अनेक अध्ययन इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि भारतीय उद्यमिता के विकास पर जाति व्यवस्था का कोई स्पष्ट प्रभाव नहीं है। यदि हिन्दू धर्म का उद्यमिता के विकास पर तीव्र नकारात्मक प्रभाव होता तो परम्परात्मक व्यापारी जातियाँ, तो बहुत सी जातियों की तुलना में अधिक धर्मपरायण दिखाई पड़ती हैं, आधुनिक उद्योगों में कम आती, जबकि भारतीय उद्यमियों में उनका संख्यात्मक प्रतिनिधित्व आज सबसे अधिक है। फिर भी जाति व्यवस्था के उद्यमिता के विकास पर नकारात्मक प्रभाव को पूर्णतया नकारा भी नहीं जा सकता है। वस्तुत: जाति-व्यवस्था के दो पहलू हैं- एक सांस्कृतिक और दूसरा संरचनात्मक। जाति व्यवस्था का धार्मिक-सांस्कृतिक पक्ष आधुनिक उद्योग के विकास में अधिक बाधक नहीं रहा है। आज कोई भी व्यक्ति जिसमें उद्यमीय गुण हैं और उद्योग के लिये आवश्यक साधन और सुविधायें उसके पास हैं, वह धर्म और परम्परा के आधार पर कोई भी व्यवसाय करने में संकोच नहीं करता है। यह इससे भी प्रमाणित होता है कि आज बहुत सी गैर-व्यापारी जातियों के प्रतिनिधि उद्यमियों में सम्मिलित हैं। परन्तु जाति व्यवस्था का संरचनात्मक पक्ष निश्चय ही उद्यमिता के संतुलित एवं निर्वाध विकास की कमी का एक महत्वपूर्ण कारण हैं। जाति व्यवस्था और वर्ग व्यवस्था में सकारात्मक सहसंबंध के कारण बहुत सी जातियाँ न केवल भूमिहीन और विपन्न रही, बल्कि उन्हें धार्मिक और सामाजिक निर्योग्यतायें भी प्रदान की गयी थीं। सदियों तक

सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक हैसियत से वंचित होने के कारण इन निम्न जातियों के अन्दर उद्यमिता के गुण कम पनप सके और उनके पास न्यूनतम आवश्यक आर्थिक पृष्ठभूमि भी नहीं रही। यही कारण है कि आज भी लघु उद्योग में अनुसूचित जाति के लोगों का प्रतिनिधित्व मात्र 7 प्रतिशत है। उद्यमी में बहिर्मुखी मनोदशा एवं नेतृत्व की प्रतिभा का होना आवश्यक है और निम्न जातियों को इनके विकास के लिये आवश्यक सामाजिक आर्थिक परिवेश से वंचित रहना पड़ा। आज उद्यमियों की संख्या में बहुत अधिक वृद्धि हुई है, परन्तु यह कहना गलत नहीं होगा कि भारतीय समाज के सभी वर्गों और समूहों का समान प्रतिनिधित्व नहीं है और सरकार की उद्यमिता के विकास की नीतियों और योजनाओं का सभी वर्ग समान रूप से लाभ नहीं उठा पा रहे हैं। पिछले एक दशक में देश में व्यापक राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन हुये हैं। इससे यह सम्भावना बढ़ी है कि न केवल उद्यमियों की संख्या में वृद्धि होगी बल्कि उद्यमिता के सामाजिक विस्तार में भी परिवर्तन आयेगा।

औद्योगीकरण और परिवार व्यवस्था

औद्योगीकरण एवं आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप परिवार व्यवस्था में परिवर्तन होता है। मूर, गुडे, रॉस और गोरे जैसे समाज-शास्त्रियों का मत है कि औद्योगीकरण के कारण परिवारों का स्वरूप एकाकी हुआ। एकाकी परिवार उसे कहते हैं जिसमें पति पत्नी और उनके अविवाहित बच्चे रहते हैं। परन्तु देसाई के एक महत्वपूर्ण अध्ययन से इस प्रकार के संयुक्त से एकाकी की ओर होने वाले उद्विकासीय परिवर्तन का खंडन होता है। भारत वर्ष के संदर्भ में देसाई का मत है कि यह परिवर्तन चक्रीय क्रम में होता है। संयुक्त परिवार टूटकर एकाकी और फिर सारे एकाकी धीरे-धीरे संयुक्त हो जाते हैं।

यह निर्विवाद है कि भारत वर्ष में औद्योगीकरण, नगरीकरण और व्यवसायों की बहुलता के कारण परिवार का स्वरूप बदला है। संयुक्त परिवार का आकार छोटा हुआ है, परिवार में सदस्यों के बीच का संबंध प्रजातांत्रिक हुआ है अर्थात् सभी की राय का आदर किया जाता है और पिता का पुत्र पर और पति का पत्नी पर जो पहले सत्तावादी अधिकार था वह बदलकर बराबरी का और मित्रवत होने लगा है। अब आवश्यक नहीं है कि परिवार के सभी सदस्य एक ही आवास में रहते हों। स्त्रियों में भी शिक्षा का प्रसार बढ़ा है और वे नये-नये व्यवसायों में लगी हैं, जिससे उनकी सामाजिक हैसियत पहले की तुलना में ऊपर उठी है।

नगरीकरण और औद्योगीकरण न केवल परिवार व्यवस्था को प्रभावित करते हैं और उसका स्वरूप बदल देते हैं बल्कि परिवार व्यवस्था स्वयं औद्योगीकरण और आर्थिक विकास की दिशा और दर को प्रभावित करते हैं। औद्योगीकरण के आरम्भ में ऐसा पाया गया कि संयुक्त परिवार व्यवस्था उद्योगों की स्थापना और विस्तार में सहायक हुई। संयुक्त परिवार में पूंजी की व्यवस्था सरलता से होती थी और व्यापारिक घरानों के बीच वैवाहिक संबंधों से व्यापार में वृद्धि हुई। परन्तु वर्तमान औद्योगिक स्थिति में जिन उद्यमीय गुणों की आवश्यकता है उनके विकास की सम्भावना आधुनिक, गतिशील और छोटे आकारवाली परिवार व्यवस्था में अधिक है। आत्मनिर्भर और साहसिक व्यक्तित्व सामान्यतया छोटे आकार वाले परिवारों में अधिक उभरते हैं और ऐसे ही व्यक्तियों में उद्यमीय प्रतिभा होती है।

औद्योगीकरण नीति और लघु उद्योग

देश की पंचवर्षीय योजनाओं में शुरू से ही लघु उद्योगों को प्रोत्साहित करने का लक्ष्य बनाया गया, परन्तु व्यवहार में बृहद् उद्योगों को ही प्रश्रय मिला। अधिकांश उद्योग बड़े औद्योगिक घरानों में और बड़े नगरों में केन्द्रित होते गये। व्यापारिक अभिजन सामन्तिक अभिजन की तुलना में राजनीतिक अभिजन के साथ संबंध स्थापित करने में अधिक सफल हुये और इस प्रकार औद्योगिक नीतियों को अपने पक्ष में प्रभावित करने में सफल हुये। राजनेताओं की मनोवृत्ति बड़े उद्योगपतियों के प्रति नरम और उनकी पक्षधर रही। राजनेताओं और उद्योगपतियों के गठजोड़ का परिणाम हुआ देश में आर्थिक शक्ति का केन्द्रीकरण। उद्योग की स्थापना के लिये आवश्यकता थी लाइसेंस लेने की और सरकार की लाइसेंस देने की प्रणाली ऐसी रही कि इसका अधिक से अधिक लाभ बड़े औद्योगिक परिवारों को ही हुआ। इसलिये लाइसेंस व्यवस्था का देश में सामाजिक-आर्थिक संतुलन स्थापित करने का उद्देश्य पूरा नहीं हो सका।

सन् 1980 की औद्योगिक नीति से लघु उद्योगों के प्रसार पर विशेष ध्यान केन्द्रित किया गया। 1988 में भारत वर्ष में लघु उद्योगों की दस लाख इकाइयां थी जो कि 1995-96 में बढ़कर 27.24 लाख और 1997-98 में 30.14 लाख हो गयी। इससे स्पष्ट है कि सातवीं पंच वर्षीय योजना के बाद से लघु उद्योगों के विकास में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई। सन् 1985 में लघु उद्योगों की निवेश सीमा 35 लाख रुपये और पूरक इकाइयों की सीमा 45 लाख रुपये थी। तथा अति लघु इकाइयों की निवेश सीमा 2 लाख रुपये थी। 1990 की औद्योगिक नीति में निवेश सीमा 35 लाख रुपये से बढ़ कर 60 लाख, 45 लाख से बढ़ कर 75 लाख और अति लघु इकाइयों की निवेश सीमा दो लाख से बढ़ कर पाँच लाख कर दी गयी। इस नीति में एक महत्वपूर्ण प्रावधान यह किया गया कि गैर-पिछड़े क्षेत्रों में स्थापित होने वाली पच्चीस करोड़ रुपये की निवेश सीमा वाली इकाइयों और पिछड़े क्षेत्रों में स्थापित होने वाली पचहत्तर करोड़ रुपये तक निवेश सीमा वाली इकाइयों को पंजीकृत कराने की आवश्यकता नहीं होगी। इस प्रावधान से उद्यमियों को नौकरशाही के शिकंजे से मुक्ति मिली। सन् 1997 में भारत सरकार ने निवेश सीमा में भारी वृद्धि की। लघु उद्योगों की सीमा 60 लाख से बढ़ाकर 3 करोड़ और अति लघु उद्योगों की सीमा 5 लाख से बढ़ाकर 25 लाख कर दी गई। निवेश सीमा के बढ़ने से बहुत सी औद्योगिक इकाइयाँ जो मध्यम औद्योगिक श्रेणी की थी वह भी लघु उद्योगों में सम्मिलित हो गयी। निवेश सीमा की वृद्धि, लाइसेन्स से मुक्ति और अन्य प्रकार की सुविधाओं के कारण ही नब्बे के दशक में औद्योगिक इकाइयों की संख्या में क्रान्तिकारी वृद्धि हुई। यह भी विचारणीय है कि निवेश सीमा की वृद्धि से लघु उद्योगों का विकास अवरूद्ध हुआ है। अपेक्षाकृत बड़े उद्योगों के इसी श्रेणी में आ जाने से निर्धारित सुविधाओं का एक बड़ा हिस्सा बड़े उद्योगों की झोली में जाने लगा एवं लघु उद्योग सुविधाओं से वंचित होने लगा।

भारत की नगरीय अर्थव्यवस्था में हस्तशिल्प पर आधारित पारम्परिक औद्योगिक व्यवस्था से आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था तक व्यापक परिवर्तन हुआ है। परिवर्तन की इस प्रक्रिया में भी ग्रामीण

अर्थव्यवस्था की ही भाँति संरचनात्मक निरन्तरता दिखाई पड़ती है। उदाहरण के लिए, उद्यमीय और व्यापारिक अभिजनों की संख्या में भारी वृद्धि हुई है परन्तु इनमें अधिकांश परम्परागत व्यापारी जातियों से ही हैं और बहुत से ऐसे हैं जो व्यवसाय नगर में करते हैं परन्तु गाँव से अपना सम्पर्क बनाये हुये हैं। औद्योगिक उद्यमियों में से अधिकांश आरम्भ में छोटे स्तर के व्यापारी या साहूकार थे। और अभी भी गैर-व्यवसायी जातियों से आने वाले उद्यमियों की संख्या बहुत कम है। निम्न जातियों का प्रतिनिधत्व तो और भी कम है। जाति व्यवस्था का प्रभाव उद्यमिता के विकास पर ही नहीं बल्कि औद्योगिक मजदूर वर्ग की प्रकृति पर भी दिखाई पड़ता है। वैसे तो औद्योगिक श्रमिकों में लगभग सभी जातियों का प्रतिनिधित्व है, परन्तु श्रमिकों का चयन वैयक्तिक अभिरुचि, प्रेरणा और योग्यता से अधिक जातीय और पारिवारिक आधार पर हुआ है।

औद्योगिक उद्यमिता में महिलाओं की भागीदारी को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से भारत सरकार ने महिला उद्यमियों के लिये विशेष प्रावधान किया है परन्तु व्यवहारिक स्तर पर देखा जाए तो परम्परागत सामाजिक संरचना की पुरुष प्रधानता और महिलाओं को घर के बाहर के आर्थिक क्रियाओं से अलग रखने की संस्कृति का महिला उद्यमिता पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा है। महिलाओं के नाम से औद्योगिक इकाई की स्थापना तो होती है परन्तु उसको चलाते हैं उनके पति या अन्य कोई पुरुष प्रतिनिधि। अधिकांश महिला उद्यमी गैरहाजिर उद्यमी हैं। फिर भी उद्योग और व्यापार के क्षेत्र में महिलाओं की भागीदारी निश्चित रूप से बढ़ी हैं।

गाँव-नगर गठजोड़

प्राय: गाँव और नगर को एक दूसरे से स्वतन्त्र और पृथक-पृथक इकाई के रूप में देखा जाता है, परन्तु भारतीय इतिहास के किसी भी युग में ऐसी स्थिति नहीं थी। दोनों में अन्योन्याश्रिता थी यद्यपि इसकी मात्रा सीमित थी। संबंध आदान-प्रदान के थे यद्यपि गाँव जितना नगर को प्रदान करता था उससे बहुत कम उसे नगर से मिलता था। गाँव मूलत: आत्मनिर्भर थे और नगर के उत्पाद उनकी आवश्यकता और सामर्थ्य के बाहर थे। गाँव से अनाज और कच्चा माल नगरों को उपलब्ध होता था। नगरों में प्रवास प्रतिबंधित था। सामान्यतया कुछ ऐसे ही लोगों को नगर में निवास की अनुमति दी जाती थी जो किसी क्षेत्र में प्रतिभा सम्पन्न होते थे। ऐसे लोगों में व्यापारी, विद्वान, कलाकार, कवि, शिल्पकार आदि। अधिकांश नगरों की प्रकृति प्रत्युत्पादक न होकर परोपजीवी थी। इसलिये विकास के आवश्यक आधारभूत संस्कृति का प्रसार भी भारतीय नगर नहीं कर सके जिसके कारण गाँवों के विकास की गति धीमी रही। आज गाँव और नगर के बीच की दूरी कम हुई है तथा आदान-प्रदान के आधार पर घनिष्ट अन्त:क्रिया दिखाई पड़ती है। ग्रामीण-नगरीय प्रवसन के प्रतिमान में परिवर्तन हुआ है। आजादी के बाद के तीन दशकों में गाँवों से नगरों की ओर उत्प्रवास बहुत तीव्र हुआ और विशेष रूप से देश के प्रमुख बड़े नगरों जैसे मुम्बई, दिल्ली, कोलकाता, चेन्नई, बंगलोर, अहमदाबाद, कानपुर आदि की ओर हुआ जिसका परिणाम यह हुआ कि भारत वर्ष की सम्पूर्ण नगरीय जनसंख्या का 60 प्रतिशत अंश देश

के प्रथम श्रेणी के नगरों, विशेष रूप से इन्हीं बड़े नगरों में केन्द्रित हो गया। पिछले दशक से ग्रामीण-नगरीय प्रवसन अब राज्यों की राजधानियों और स्थानीय नगरों की ओर बढ़ा है। इससे नगरीय विकास में जो असंतुलन आया था वह घटेगा और देश का संतुलित नगरीय विकास सुनिश्चित होगा।

अधिकांश उत्प्रवासी नगरों में धनार्जन के लिये जाते हैं। वहाँ से वे पीछे गाँव में छोड़े गये अपने परिवार के पास रुपया भेजते हैं। इसलिये गाँव के निम्न वर्ग और निम्न मध्यम वर्ग के रहन-सहन में स्पष्ट परिवर्तन हुआ है यही नहीं उत्प्रवासियों के कारण गाँव व नगर के बीच जो कड़ी जुड़ी है उसके नाते गाँव में सांस्कृतिक और संरचनात्मक परिवर्तन भी हो रहा है। साहूकारों, शिल्पियों, दुकानदारों, नौकरी पेशा आदि लोगों के कारण ही ग्रामीण-नगरीय गठजोड़ सम्भव हुआ है। लघु और कुटीर उद्योगों और हस्तशिल्प के व्यवसायों से ग्रामीण-नगरीय गठजोड़ और प्रबल हुआ है। औद्योगीकरण के कारण नगरों में उद्यमियों, नौकरशाहों तथा व्यवसायियों का नया मध्यम वर्ग उत्पन्न हुआ है और हरित क्रांति के फलस्वरूप गाँव में नया मध्यम वर्ग उत्पन्न हुआ जिसमें विशेष रूप से परम्परागत कृषक जातियाँ सम्मिलित हैं। योगेन्द्र सिंह का मत है कि इस परिवर्तन के ग्रामीण-नगरीय संबंधों पर दो परस्पर विरोधी परिणाम दिखाई पड़ते हैं। एक ओर उन्नत और वैज्ञानिक खेती के लिये कृषकों को आधुनिक उपकरणों, बैंक और बाजार आदि के लिए गाँव के लोगों की नगरों पर निर्भरता बढ़ी है। दूसरी ओर गाँव नगर के बीच राजनीतिक, सांस्कृतिक और भौतिक संचार और सम्पर्क बढ़ने से नवीन ग्रामीण मध्यम वर्ग में अपनी पहचान स्थापित करने के प्रति चेतना बढ़ी है। आर्थिक स्थिति में सुधार के कारण राजनीति और शिक्षा में उनकी पहुँच बढ़ी है और गाँव के विकास की प्रक्रिया में भागीदारी बढ़ी है। इन नवीन परिस्थितियों ने गाँव व नगर के बीच के सम्बन्धों को प्रतिस्पर्धात्मक और तनावपूर्ण बना दिया है (सिंह 1991)।

संदर्भ ग्रन्थ

- इण्डेन, आर०, 'इमैजिनिंग इण्डिया' बैसिल ब्लैक वेल लि०, कैम्ब्रिज, 1990
- जोशी, पी०सी०, लैण्ड रिफार्म एण्ड अग्रेरियन चेन्ज इन इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, रिपोर्ट, 1971
- वैबर, एम०, 'दि थियरी आफ सोशल एण्ड इकोनोमिक आर्गनाइजेशन, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क, 1947
- सिंगर, एम०, 'ट्रेडिशनल इण्डिया : स्ट्रक्चर एण्ड चेन्ज, अमेरिकन फोकलोर सोसाइटी, फिलाडेल्फिया 1959

- सिंह, वाई०, 'कन्ट्री-टाउन नेक्सस: सोशल ट्रान्स्फार्मेशन इन कन्टेम्पोरेरी इण्डिया, इन शर्मा एवं गुप्ता (सम्पादित), सेज इण्डिया, नई दिल्ली, 1991
- स्ट्रोक ई०, 'ट्रेडिशनल इलीट्स इन दि ग्रेट रिवेलियन आफ 1857 : सम आस्पेक्ट्स आफ रूरल रिवोल्ट इन दि अपर एण्ड सेन्ट्रल दोआब इन साउथ एशिया', कैम्ब्रिज, 1970

राजनीति एवं समाज : राजनीतिक दल, शक्ति अभिजन, प्रशासन तंत्र एवं नागरीय समाज (सिविल सोसाइटी) 9

I

हम सामाजिक इकाई के रूप में जिस सामाजिक व्यवस्था का अंग हैं, वह हमारे अधिकारों, उत्तरदायित्वों एवं भूमिका संबंधों के अनेक पक्षों को पारिभाषित करने का आधार नहीं है। एक नागरिक के रूप में मेरे अधिकार एवं कर्तव्यों की व्याख्या, एक शिक्षक के रूप में मेरे वेतन मानों का निर्धारण, मेरी आय पर कर का निर्धारण इत्यादि ऐसे पक्ष हैं जो राज्य, राजनीति एवं समाज के अन्त: संबंधों को स्पष्ट करने में सक्षम हैं। समाजशास्त्र के विद्यार्थी के रूप में यह कहा जा सकता है कि ''राजनीति'' एवं ''सामाजिक'' को एक दूसरे के बिना नहीं समझा जा सकता। समकालीन यथार्थ को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि ''समाज'' यदि सामाजिक इकाइयों (प्रस्थिति, समूह इत्यादि) के अर्थपूर्ण एवं उद्देश्य मूलक अन्त: क्रियाओं की गत्यात्मक जटिलता है तो ''राजनीति'' वह कला है जो संतुलन को निरन्तरता एवं संरक्षण प्रदान करती है। यदि विद्यमान विसंगतियों को महत्व दें तो यह तर्क भी दिया जा सकता है कि यदि ''समाज'' प्रतियोगिता में संलग्न सामाजिक इकाईयों के ''स्व'' की सामूहिक अभिव्यक्ति है तो ''राजनीति'' शक्ति संघर्षों को प्रस्तुत करती है। एक व्यापक दृष्टिकोण के रूप में कह सकते हैं कि ''राजनीतिक क्षेत्र'' (पालिटिकल एरिया) जिसमें नागरिक, नीतियाँ इत्यादि सम्मिलित है, में सम्पन्न होने वाली समस्त क्रियाएँ ''राजनीति'' (पालिटिक्स) को निर्मित करती हैं। ये क्रियाएँ वर्तमान विश्व में उन सामाजिक गतिविधियों के क्षेत्र में भी प्रवेश कर चुकी हैं जिन्हें पूर्व में सार्वजनिक बहस का हिस्सा नहीं बनाया जाता था आज सही अर्थों में मनुष्य राजनीतिक प्राणी (जून पालिटिकल–एक अवधारणा जिसे अरस्तु ने प्रस्तुत किया) बन गया है क्योंकि निर्णय प्रणाली में उसकी प्रत्यक्ष या परोक्ष सहभागिता है।

''सेवा उद्योग'' एवं सूचना प्रौद्योगिकी के विस्तार, उदारीकरण, वैश्वीकरण एवं निजीकरण की प्रक्रियाओं, एवं वर्गीय राजनीति के विकास एवं ह्रास संबंधी पक्षों ने राजनीति एवं समाज के संबंधों में परिवर्तनकारी स्थितियाँ उत्पन्न की हैं। शिक्षा स्वास्थ्य एवं सार्वजनिक वितरण प्रणाली में राज्य का हस्तक्षेप किस सीमा तक हो जैसे सवाल भी राजनीतिक परिवेश के तनाव मूलक संबंधों के साक्ष्य बन कर उभरे हैं। जाति एवं धर्म के आधार पर सामूहिक दबाव की अभिव्यक्ति ने ''पहचान''

(आइडेन्टिटी) की "राजनीति" को भारतीय सामाजिक व्यवस्था में उत्पन्न कर "राजनीति" एवं "समाज" के संबंधों के एक महत्वपूर्ण क्षेत्र की तरफ संकेत किया है।

विकास के नवीन स्वरूपों ने राज्य के औपचारिक ढाँचे एवं अर्थतन्त्र के मध्य स्वैच्छिक संगठनों एवं अभिकरणों के ताने बाने को विकसित कर नागरिकीय समाज (सिविल सोसाइटी) को उभारा है। इस उभार ने पालिटिकल सोसाइटी एवं सिविल सोसाइटी की अवधारणाओं को एक दूसरे के लिए एक सीमा तक विशिष्ट बना दिया है। समकालीन जटिल समाजों में राजनीति की व्याख्या करते समय हमारा ध्यान राजनीतिक दल, शक्ति अभिजन एवं प्रशासन तंत्र की संरचनाओं की तरफ जाता है जो विधायिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के अवयवों को निर्मित करता है। राष्ट्र-राज्य के सिद्धांत की चर्चा हम उपरोक्त उल्लेखित तत्वों के आधार पर ही करते हैं। राजनीतिक दल, जो कि समाज की सामाजिक एवं राजनीतिक आवश्यकताओं के स्वरूप के प्रति संरचनात्मक प्रतिक्रिया के रूप में जाने जाते हैं, राजनीतिक शक्ति के लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। इसके साथ ही राजनीतिक दल सामान्यतया विचारधारायी प्रतिबद्धताओं के आधार पर सरकार एवं जनता के मध्य सम्प्रेषण के उपकरण का कार्य करते हैं। हमें इस तथ्य की तरफ भी ध्यान देना चाहिए कि समाज वस्तुत: राजनीतिक सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, बौद्धिक इत्यादि रूप में सक्रिय शक्ति संबंधों की व्यवस्था है। इन शक्ति संबंधों से सम्बद्ध स्रोतों का असमान वितरण एक सामाजिक यथार्थ है। इन स्रोतों पर जिन प्रभावशाली इकाइयों का अधिकार, नियन्त्रण अथवा एकाधिकार होता है, उन्हें "शक्ति अभिजन" की संज्ञा दी जाती है। ये "शक्ति अभिजन" या तो शासक वर्ग को निर्मित करते हैं, अथवा शासक वर्ग के सहयोगी के रूप में क्रियाशील होते हैं।

शक्ति अभिजन की विभिन्न श्रेणियों को राजनीतिक दलों के प्रतिनिधियों के रूप में भी देखा जा सकता है यद्यपि इन अभिजनों का एक बड़ा भाग स्वयं को तटस्थ एवं निष्पक्ष इकाइयों के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। चूँकि अभिजन के रूप में कार्यशील इन इकाइयों को संस्तरण की संरचना में उच्च स्थान प्राप्त होता है अत: समाज व्यवस्था के संचानल में इनकी नेतृत्वकारी भूमिका होती है। कार्यपालिका के क्षेत्र में विशेषत: इस नेतृत्वकारी भूमिका का निर्वाह करने वाली प्रणाली को प्रशासन तंत्र की संज्ञा दी जाती है। प्रशासन तंत्र समस्त समाजों में राजनीतिक सत्ता का एक अनिवार्य अंग बनकर उभरा है। एक औपचारिक संगठन के रूप में प्रशासन तंत्र राज्य द्वारा निर्मित विभिन्न नीतियों के क्रियान्वयन का मुख्य कार्य करता है। साथ ही राज्य को नीति निर्माण करने हेतु "फीड बैक" भी प्रदान करता है। इस दृष्टि से राजनीतिक सत्ता की सफलता एवं असफलता का एक सीमा तक दायित्व प्रशासन तन्त्र पर होता है। मनुष्य की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि, मनुष्य की योग्यताओं का विस्तार एवं नागरिकों के जीवन स्तर को उच्च करने का प्रयास इस कारण राज्य का मुख्य दायित्व हो जाता है। इन दायित्वों के निर्वाह हेतु राज्य अनेक संस्थागत संरचनाएं विकसित करता है। राज्य इस दृष्टि से समाज की आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक गतिविधियों

के संचालन का मुख्य कर्ता बन जाता है। परिणाम स्वरूप कोई भी विशिष्ट प्रघटना किसी भी स्थान पर घटित हो उसके विश्लेषण एवं उत्तर हेतु हमें राज्य की तरफ ही आना पड़ता है।

राज्य पर यह आश्रितता शोषण, दमन एवं असमान विकास को जन्म देती है। साथ ही यह भी सवाल उठता है कि क्यों कुछ राज्य विशेष प्रकार का व्यवहार करते हैं? ऐसे विशेष व्यवहारों को समझने के लिए हमें राज्य की परिधि के बाहर सक्रिय ढाँचों की भूमिका की समझ विकसित करनी चाहिए। ये ढाँचें नागरिकीय समाज (सिविल सोसाइटी) को निर्मित करते हैं। स्वतंन्त्र प्रैस, विभिन्न प्रतिनिधि समूह, स्वैच्छिक गैरसरकारी स्वयंसेवी संगठन, सामाजिक चेतना का निर्माण करने वाले सक्रिय समूह इत्यादि "सिविल सोसाइटी" को निर्मित करने वाली संस्थायें हैं। अधिकार एवं दायित्वों की चेतना, कानून का शासन, स्वतंत्रता, एवं नागरिकता "सिविल सोसाइटी" के मुख्य अंग हैं। यदि किसी स्थान पर इन का उल्लंघन होता है तो "सिविल सोसाइटी" के ढाँचे राज्य की आलोचना कर उसे भूमिका परिवर्तन के लिए बाध्य कर सकते हैं। अत: अनेक "निरंकुश राज्य" सिविल सोसाइटी के ढाँचे पर कठोर नियंत्रण के प्रयासों में संलग्न रहते हैं। समकालीन विश्व में लोकतान्त्रिक राज्य एवं लोकतान्त्रिक समाज के लिए "सिविल सोसाइटी" एक महत्वपूर्ण विशेषता है। ऐसे समाज में "सिविल सोसाइटी" "पालिटिकल सोसाइटी" की गतिविधियों पर नजर रखती हैं। राज्य की अनेक भूमिकाओं को "सिविल सोसाइटी" के अवयव अपनाने लगते हैं यह स्थिति राज्य के सरोकारों से संबद्ध विचारधारायी विवाद को जन्म देती है उपरोक्त विवेचन की पृष्ठ भूमि में आवश्यक हो जाता है कि राजनीति एवं समाज के अन्त: संबंधों का विश्लेषण करने हेतु राजनीतिक प्रक्रियाओं पर चर्चा की जाए तथा इन प्रक्रियाओं में सक्रिय राजनीतिक दलों, अभिजन एवं सामाजिक वर्गों की भूमिकाओं, प्रशासन तन्त्र की कार्यप्रणाली के परिणामों तथा सिविल सोसाइटी के प्रत्युत्तरों को परखने का आलोचनात्मक-विचारधारायी प्रयास किया जाए। हम भारतीय समाज के संदर्भ में ऐसा एक संक्षिप्त प्रयास यहाँ करेंगे।

II

26 जनवरी 1950 ई. को जब भारत का संविधान क्रियान्वित हुआ तो भारत में राजनीति एवं समाज के मध्य संबंधों की दिशा भी सुनिश्चित हो चुकी थी। 26 नवम्बर 1949 को ली गयी शपथ, जिसमें भारत के नागरिकों ने स्वयं को संप्रभु, समाजवादी, धर्म निरपेक्ष, लोकतान्त्रिक गणराज्य के निर्माण हेतु प्रस्तुत किया है, राज्य एवं समाज के संबंधों की प्रकृति का निर्धारण करती है। इसके साथ ही सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, आस्था एवं आराधना की स्वतन्त्रता, पद एवं अवसरों की समानता एवं इस हेतु प्रयास तथा बन्धुत्व के विस्तार, व्यक्ति की गरिमा एवं राष्ट्र की एकता के प्रति प्रतिबद्धता भारतीय राजनीति की मूल्य व्यवस्था को आधारभूत ढाँचा प्रदान करते हैं। हम इस संविधान को एक राजनीतिक विचारधारायी दस्तावेज की संज्ञा भी दे सकते हैं। मताधिकार मूलभूत अधिकार, नीति निदेशक तत्व, मूलभूत कर्तव्य, संरक्षण मूलक भेदभाव इत्यादि प्रावधानों का यह दस्तावेज उस देश को दिशा देता है जिसने उपनिवेशवाद के विरूद्ध संघर्ष कर विरासत में अनेक विसंगतियों को

प्राप्त किया था उपनिवेशवाद के विरूद्ध भारत की जनता का संघर्ष क्रान्तिकारी उभारों को व्यक्त करता है। किसान विद्रोह, श्रमिकों की व्यापक हड़तालें, विद्यार्थी असन्तोष, देशी रियासतों में जनता के जन आन्दोलन, नौ सेना विद्रोह एवं गाँधी के नेतृत्व में जन आक्रोश की अहिंसक प्रस्तुति भारतीय जनता की राजनीतिक चेतना की प्रकृति को प्रस्तुत करती है। हम इस यथार्थ से इन्कार नहीं कर सकते कि उपनिवेशवाद के विरूद्ध (सामन्तों के विरूद्ध) विद्रोह अनेक बाध्यताओं के कारण संगठित रूप ग्रहण नही कर रहे थे। स्वाधीनता के उपरान्त सक्रिय रहा यह पूँजीपति वर्ग एवं सामन्त वर्ग भारत के शासक वर्ग को निर्मित करता है। इस शासक वर्ग ने ब्रिटिश प्रारूप के प्रशासन तन्त्र को सुरक्षा प्रदान की। यही शासक वर्ग संविधान के प्रारूप के अनुसार शासन संचालन करता है और संचालन का यह प्रयास अनेक अन्तर्विरोधों को जन्म देता है जिनका विश्लेषण करते हुए हम भारत की राजनीतिक विकास की प्रक्रिया की समाजशास्त्रीय समीक्षा कर सकते हैं।

संविधान में क्रियान्वयन के साथ ही गणराज्य की स्थापना अस्पृश्यता का निषेध, समानता, स्वतंत्रता एवं सामाजिक न्याय की स्थापना हेतु प्रयास एवं संसदीय प्रणाली का वर्चस्व भारत की लोकतान्त्रिक प्रणाली को वैधानिक संस्थागत गति प्रदान करता है। यह प्रणाली जाति एवं अन्य प्रदत्त मूलक प्रतिष्ठा के तत्वों के आधार को अस्वीकार कर अर्जित प्रस्थिति की पहचान को स्थापित करती है। इस पहचान का विस्तार तार्किक-वैधानिक नेतृत्व के रूप में राजनीतिक भूमिकाओं के आवंटन द्वारा होता है और राजनीतिक दलों की कार्यप्रणाली को दिशा प्रदान करता जाता है। ये राजनीतिक दल शक्ति संरचना के अन्तर्विरोधी चरित्र के सूचक हैं। यह नेतृत्व पूँजीवादी-सामन्ती हितों की उपेक्षा करने में असमर्थ हैं परन्तु निर्धन-अशिक्षित जनसंख्या की राजनीतिक आर्थिक आकांक्षाओं, बेकारी की व्यापकता एवं अर्थ प्रणाली के असमान चरित्र से उत्पन्न बहुआयामी विसंगति को भी लम्बे समय तक स्थगित नहीं कर सकता।

रूडाल्फ एवं रूडाल्फ इन अन्तर्विरोधों के कारण भारत को एक ''निर्बल-सबल'' राज्य की संज्ञा देते हैं जबकि भारतीय अर्थतन्त्र को ''समृद्ध-निर्धन गुणों का सम्मिश्रण बताते हैं। राज्य एवं अर्थतन्त्र के ये चरित्र वस्तुतः राज्य एवं बाजार के अन्तः संबंधों के सूचक हैं। राज्य ने बाजार के साथ सहयोग कर प्रभुत्वशाली वर्ग को एकाधिकार वादी वर्ग में बदलने के लिए ''राजनीतिक-आर्थिक'' एवं सांस्कृतिक स्थिति उपलब्ध कराई है। जबकि निर्धन-अशिक्षित एवं संस्तरण के पैमाने पर निम्न स्थान प्राप्त जनसंख्या हाशिये पर आ गई है। इस परिणाम ने राष्ट्रीय राजनीतिक दलों के सम्मुख अस्तित्व के संकट उत्पन्न किए हैं, क्षेत्रीय राजनीतिक दलों की ''अस्मिता को राजनीति'' के माध्यम से जनाधार दिया है तथा अनेक दवाब समूहों को, जिनका चरित्र सामाजिक रहा है, राजनीतिक प्रक्रिया में हस्तक्षेप के अवसर प्रदान किये हैं। संस्थागत संरचनाओं में राजनेता-प्रशासक-अपराधी गठजोड़ का यथार्थ को दिखाया है और धर्म तथा जातीय अस्मिताओं को राजनीतिक सक्रियता के प्रभावी उपकरणों के रूप में उभारा है। इस संदर्भ में राजनीतिक

दलों की भूमिकाओं का विश्लेषण आवश्यक हो जाता है।

संविधान की संरचना एवं राजनीतिक दलों की सक्रियता के मध्य संबंध के द्वारा ही लोकतान्त्रिक राजनीति की क्रियाशीलता भी सुनिश्चित होती है। आधुनिक राज्य बिना दलीय व्यवस्था के स्थायी सरकार सम्भवतया प्रदान नहीं कर सकते। राजनीतिक दल मताधिकर की प्रणाली के द्वारा लोकतन्त्र में जन आकांक्षा के अनुरूप सरकार निर्माण की प्रक्रिया का अंग बनते हैं। ये राजनीतिक दल प्रत्यक्ष रूप में वर्गीय हितों, आर्थिक हितों, विचारधारायी लक्ष्यों से संबद्ध होते हैं हालांकि भारतीय राजनीतिक दलों को जातीय, क्षेत्रीय, धार्मिक एवं भाषायी हितों के संदर्भ में भी नागरिकों के साथ अन्त:क्रिया करते हुए अवलोकित किया जा सकता है जिसके कारण नागरिकों की विभिन्न पहचानें राजनीतिक दलों के लिए "राजनीतिक पूँजी" का कार्य करने लगती हैं। ये राजनीतिक दल सत्ताधारी एवं विरोधी राजनीतिक दलों के रूप में उस बहस को निरन्तरता देते हैं जो लोक तान्त्रिक प्रक्रिया को शक्तिशाली बनाती है। इस बहस के परिणामस्वरूप नागरिकों में राजनीतिक शिक्षा का विस्तार होता है जिससे राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने हेतु राजनीतिक दलों में प्रतियोगिता के स्वरूप का निर्धारण होता है।

भारत में दलीय व्यवस्था का प्रारम्भ 1885 ई. में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के साथ हुआ है। यद्यपि कांग्रेस का यह प्रारम्भ एक हित समूह के रूप में हुआ था। स्वाधीनता संग्राम के दौर में मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा, कम्युनिस्ट पार्टी इत्यादि राजनीतिक दलों का उदय हुआ, परिणामस्वरूप स्वाधीन भारत में बहुदलीय प्रणाली एक स्वाभाविक परिणाम के रूप में उभरी। औपनिवेशिक भारत में पनपी साम्प्रदायिकता की भावना, सामन्तों के हितों के प्रश्न तथा वर्गीय अन्तर्विरोध एवं जातीय अस्मिताओं के प्रश्नों ने उत्तर औपनिवेशिक भारत में दलीय रचनाओं के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान दिया। हमें भारतीय जनसंघ पार्टी एवं स्वतंत्र पार्टी के उदय को इस संदर्भ में परखना चाहिए। देश की सांस्कृतिक विविधता एवं संघीय संरचना ने विभिन्न हितों के आधार पर नागरिकों को सामाजिक श्रेणियों में वर्गीकृत किया जो "जीवन्त लोकतन्त्र" का परिचायक है वही दूसरी तरफ विभिन्न प्रान्तों में असमान एवं असन्तुलित विकास की राजनीति ने बहुत तीव्र गति से अनेक अन्तर्विरोधों से निर्मित राजनीतिक आकांक्षाओं को जन्म दिया। भारत में उभरी "गठबन्धन की राजनीति" एवं राष्ट्रीय राजनीतिक दलों की लोकप्रियता में ह्रास के तत्व इन्हीं अन्त: विरोधी राजनीतिक आकांक्षाओं के परिणाम हैं।

III

राजनीति एवं समाज के मध्य संबंधों की प्रकृति को समझने का एक अन्य परन्तु अन्त: संबद्ध परिप्रेक्ष्य और भी है। एक अनुमान के अनुसार भारत में कार्यशील जनसंख्या अर्थात् श्रमशक्ति लगभग 32 करोड़ है। इस श्रम शक्ति में से लगभग 15 करोड़ औद्योगिक श्रम से संबद्ध है। इस 15 करोड़ की संख्या में 4.5 करोड़ संगठित क्षेत्र में तथा 10.5 करोड़ असंगठित क्षेत्र में कार्यरत हैं। लगभग 11 करोड़ की जनसंख्या श्रमशक्ति का वह अंग है, जो

बेकारी अथवा अर्द्ध बेकारी का शिकार है। भारत सरकार के एक अनुमान के अनुसार लगभग 36 प्रतिशत जनसंख्या निर्धनता की सीमा रेखा के नीचे अपना जीवन व्यापन करने को बाध्य है। ग्रामीण क्षेत्र में 37.37 प्रतिशत जनसंख्या की प्रति माह प्रति व्यक्ति आय इस दृष्टि से 49 रु. 9 पैसे या उससे कम है जबकि नगरीय क्षेत्र में 32.36 प्रतिशत जनसंख्या की आय 56 रु. 64 पैसे या उससे कम है। 6 वर्ष से 11 वर्ष तक की आयु समूह के लगभग 50 प्रतिशत बच्चे विद्यालय का अंग नहीं हैं। इन विसंगतियों एवं अन्तर्विरोधों से निर्मित सामाजिक संरचना उस समय और भी अधिक जटिल हो जाती है जब उच्च जाति एवं निम्न जाति-स्त्री एवं पुरुष, जनजाति तथा ग्रामीण-नगरी संरचनात्क संकेतकों का राज्य विशिष्ट दृष्टि से प्रयोग किया जाए। भारतीय समाज की राजनीतिक प्रणाली के वर्गीय चरित्र की व्याख्या इन आँकड़ों की सहायता से एक सीमा तक होती है। जिसमें "असमान विकास'' एवं असन्तुलित विकास की राजनीति स्पष्टतया परिलक्षित है। डा. योगेन्द्र सिंह के द्वारा व्यक्त असफलता का संकट इन तथ्यों को ऐसा संकेतक बनाता है जहाँ जन राजनीति एवं प्रभुत्व की राजनीति एक वैचारिक बहस का अंग बनती है। असन्तुलित विकास के साथ विराजनीतिकरण तर्क राजनीतिक शिक्षा की अपेक्षा एवं राजनीति के प्रति घृणा अथवा तटस्थता का भाव राजनीति एवं नागरिकों के मध्य एक ऐसी दूरी उत्पन्न करता है जिसका लाभ प्रभुत्वशाली वर्ग की राजनीतिक वर्चस्वता को प्राप्त होता है। इस दूरी को वर्गीय हित के लिये प्रयुक्त कर साम्प्रदायिकता, भाषावाद, धार्मिक संकीर्णता, जातिवाद, क्षेत्रवाद, आतंकवाद इत्यादि प्रघटनाओं को जन्म दिया जा सकता है। तथा भावनात्मक आक्रामकता को विस्तार देकर सांस्कृतिक फाँसीवादी रूझान उत्पन्न किये जा सकते हैं। विकासशील देशों के राजनीतिक तन्त्रों में हो रहे बदलावों को इस परिप्रेक्ष्य में देखें जाने की आवश्यकता है।

वेश्वीकरण की प्रक्रिया का एक अपकार्यात्मक परिणाम यह है कि विश्व में अनेक विश्व विकसित हो गये हैं। विश्व की लगभग 20 प्रतिशत जनसंख्या समूचे विश्व को 85 प्रतिशत अर्थव्यवस्था पर प्रत्यक्ष एवं परोक्ष नियन्त्रण रखती है अत: असमान व्यापार संबंध उभरे हैं। इस असमानता के कारण विकसित एवं विकासशील देशों में राजनीतिक एवं आर्थिक तनावों का विस्तार हुआ है। विकसित देशों की एकता में वृद्धि हुई है जबकि विकासशील देशों के मध्य अन्तर्विरोधों को तीव्र किया गया है ताकि इनके मध्य एकता स्थापित न हो। चूँकि भारत भी एक विकासशील देश है अत: इन समस्त पक्षों का मूल्यांकन कर भारतीय राजनीति के विकास की दिशा को समझा जा सकता है। समाजशास्त्र के विद्यार्थी के रूप में हम यह तर्क दे सकते हैं कि विकास की इस दिशा ने राजनीति के मानवीय चेहरे राजनीति के अमानवीय चेहरे, राजनीति के उदारवादी चेहरे, "राजनीति के संकीर्णतावादी चेहरे'', राजनीति के लोकतान्त्रिक चेहरे'' एवं "राजनीति के कट्टरवादी चेहरों को एक साथ उत्पन्न कर राजनीतिक प्रक्रिया को अत्यन्त जटिल बना दिया है। इस जटिलता ने राजनीतिक अन्त: संबंधों के क्षेत्र में हिंसा की भूमिका को महत्वपूर्ण बनाया है। वैसे तो हिंसा की यह भूमिका 1947 में देश के विभाजन के साथ प्रारम्भ हो गई

थी परन्तु असमान आर्थिक विकास ने जम्मू एवं काश्मीर, पंजाब, पूर्वोत्तर राज्यों, आन्ध्र प्रदेश, बिहार इत्यादि में पृथकतावादी आन्दोलन से संबद्ध हिंसा, वामपंथी उग्रवादी हिंसा जिसका वर्गीय चरित्र का स्पष्ट रूप है, को उत्पन्न किया वहीं दूसरी तरफ बिहार, उत्तर प्रदेश, राजस्थान एवं मध्य प्रदेश इत्यादि राज्यों में जातीय एवं साम्प्रदायिक तनावों को विस्तार दिया। इस असन्तुलन ने अनेक दबाव एवं हित समूह विकसित किये। नेशलन सोशलिस्ट काउन्सिल आफ नागालैण्ड, यूनाइटेड़ लिब्रेशन फ्रन्ट आफ आसाम इत्यादि समूहों की इस संदर्भ में चर्चा की जा सकती है। इस असमान आर्थिक विकास ने क्षेत्रीय अस्मिताओं को राजनीतिक शब्दावली में रूपान्तरित करना प्रारम्भ किया। परिणाम स्वरूप क्षेत्रीय राजनीतिक दल विभिन्न राज्यों में उभरने लगे।

एकात्मकतावाद एवं संघवाद के अन्त: विरोधों ने केन्द्र एवं राज्य के संबंधों में प्रकियामूलक तनाव उत्पन्न किये जिन्हें राजनीतिक आकांक्षा संरचना में परिवर्तित कर उन क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का उद्‌भव और विस्तार हुआ। वस्तुत: क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का उद्‌भव एवं उनका विस्तार राष्ट्रीय राजनीति एवं क्षेत्रीय राजनीति के मध्य सहयोग एवं संघर्ष की द्वन्द्वात्मक एकता का परिचायक है जिसे राजनीति में पुश एवं पुल के सिद्धांत से संबद्ध किया जा सकता है। कारण चाहे कुछ भी हो परन्तु क्षेत्रीय राजनीतिक दलों को राजनीतिक परिदृश्य पर आना "गठबन्धन की राजनीतिक प्रणाली" को स्थापित करता है। यह एक स्पष्ट संकेत है कि अब इन क्षेत्रों के विकास की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसके साथ ही क्षेत्रीय राजनीतिक दलों की स्वीकृति इस सामाजिक तथ्य की द्योतक है कि जनसंख्या की सामाजिक रचना (सोशल कम्पोजीशन) एवं राजनीतिक सहभागिता के मध्य सकारात्मक संबंधों को स्थापित करने के माध्यम अस्तित्व में आ चुके हैं। राष्ट्रीय स्तर के राजनीतिक दलों को अपना राष्ट्रीय अस्तित्व बनाये रखने के लिये क्षेत्रीय राजनीतिक दलों के साथ सहयोग करना पड़ रहा है वहीं क्षेत्रीय राजनीतिक दल राष्ट्रीय राजनीतिक दलों के साथ अन्त: क्रिया व सहयोग कर अपने स्थानीय दृष्टिकोण की सीमा से बाहर आकर विभिन्न विषयों पर राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य विकसित करने लगे हैं। इसके साथ ही पंचायती राज एवं, नगरपालिका अधिनियम (संविधान संशोधन 73) के उपरान्त विभिन्न राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय राजनीतिक दलों ने स्थानीय स्तर पर राजनीतिक सहभागिता कर राजनीति को जीवन पद्धति का अंग बना दिया है। राजनीति के विवदास्पद स्वरूप का मूल्यांकन इस संदर्भ में भी करने की आवश्यकता है। सम्भवतया "राजनीतिकीकरण" एवं "वि-राजनीतिकीकरण" इस देश की राजनीति में एक साथ सक्रिय होने वाली परन्तु परस्पर विरोध प्रक्रियाएँ हैं जिन्हें वर्गीय दृष्टि से समझना आवश्यक है।

IV

विभिन्न राजनीतिक दलों के द्वारा संचालित राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया तथा उससे विकसित राजनीतिक संस्कृति ने नागरिकों को समस्याओं के प्रति उत्तेजित करने की दिशा में योगदान किया है। 1967 के उपरान्त "कांग्रेसवाद", एवं "गैर कांग्रेसवाद" के अन्तर्विरोध, केरल पश्चिम बंगाल एवं त्रिपुरा में वामपन्थी गठबन्धन के

शासन के परिणाम आपातकाल की समाप्ति के उपरान्त गैर कांग्रेसवाद के विस्तार तथा 1989 में राष्ट्रीय मोर्चा की सरकार की स्थापना, 6 दिसम्बर 1992 को बाबरी मस्जिद गिराये जाने के उपरान्त तथा 1990 के दशक में निजीकरण, उदारीकरण एवं वैश्वीकरण की प्रक्रियाओं के प्रभाव तथा समाजवादी व्यवस्थाओं के सोवियत संघ सहित पूर्वी यूरोपीय देशों में पतन के उपरान्त एक ध्रुवीय विश्व के मिथक ने भारतीय राजनीतिक व्यवस्था एवं संबद्ध राजनीतिक अर्थवाद में अनेक गुणात्मक परिवर्तन उत्पन्न किये हैं। इन परिवर्तनों के कारण राजनीतिक नेतृत्व-प्रशासन-अपराधी गठबन्धन का स्वरूप उभरा है वहीं दूसरी तरफ पारदर्शी शासन, सूचना का अधिकार, मानवाधिकर एवं सामाजिक शोषण के विरूद्ध अर्थात् सामाजिक न्याय के पक्ष में राजनीतिक प्रक्रिया उभरी है। महिलाओं के लिये संसद में आरक्षण की माँग इसी प्रक्रिया के भाग की अभिव्यक्ति है। हम इसे लोकतान्त्रिक प्रक्रिया के विस्तार की संज्ञा दे सकते हैं।

लोकतान्त्रिक राजनीति में विभिन्न सामाजिक श्रेणियाँ, जो किसी न किसी रूप में बंधन का शिकार है, के सबलीकरण की प्रक्रिया अनिवार्य है यदि ऐसा नहीं होता है तो आर्थिक प्रभुत्व, राजनीतिक प्रभुत्व तथा विचारधारायी प्रभुत्व इतने विस्तृत हो जाते हैं कि लोकतंत्र की राजनीति एक " मिथक'' बन कर रह जाती है। महिलाओं का आरक्षण लोकतान्त्रिक राजनीति के माध्यम से पुरुष सत्ता को सार्थक चुनौती है फिर वह चाहे ''सामन्ती पुरुष सत्तात्मकता'' हो अथवा ''पूँजीवादी पुरुष सत्तात्मकता'' हो। लोकतान्त्रिक प्रणाली में विभिन्न ''वंचित'' सामाजिक श्रेणियों की सहभागिता से अर्जित प्रस्थिति से निर्देशित नेतृत्व का विकास होता है और विभिन्न सामाजिक समस्याओं के प्रति वे दृष्टिकोण अस्तित्व में आते हैं जो समस्याओं का अनुभव कर चुकी जनसंख्या की सोच है, हम इस स्थिति को ''जन सम्मत लोकतान्त्रिक राजनीति'' के उभार की संज्ञा दे सकते हैं। यह उभार दो दृष्टियों से आवश्यक है, प्रथम आरक्षण में महिलाओं की भूमिका संबंध निर्मित करने के लिए राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्र उपलब्ध कराता है जबकि अब तक महिलाओं के पास मुख्य रूप से ''पारिश्रमिक विहीन श्रमशक्ति'' का क्षेत्र था। यह स्थिति महिलाओं को समाज में प्रस्थिति हेतु संघर्ष को प्रेरित करती है। द्वितीय, उच्च, उच्च मध्य एवं मध्य वर्ग की महिलाओं में साम्प्रदायिक चेतना के विस्तार को यह अवरूद्ध करता है। वस्तुत: इस वर्ग को वे सभी अवसर एवं सुविधायें प्राप्त हैं जिससे उनकी सभी आवश्यकताएँ पूरी हो सकें। यह समृद्धि इन वर्गों को शक्तिशाली बनाती है और शक्ति को साम्प्रदायिकता की चेतना अन्य वर्गों विशेषत: निम्न वर्गों के सम्मुख सांस्कृतिक वैधता दे देती है। महिला आरक्षण इस स्थिति को चुनौती देने में सक्षम है। स्वतन्त्र भारत में राज्य एवं महिला के मध्य का संबंध पितृसत्तात्मक, वर्ग विभेद एवं अलोकतान्त्रिक प्रकृति का रहा है। इस पृष्ठभूमि के संदर्भ में महिला आरक्षण की राजनीतिक आवश्यकता की समीक्षा की जा सकती है। वस्तुत: बाल शोषण, बलात शोषण, जातीय संघर्ष एवं तनाव, सामाजिक हिंसा, गैर संस्थागत क्रियाओं का विस्तार एवं नगरों के द्वारा गाँव का उपनिवेश के रूप में प्रयोग इत्यादि ऐसी प्रघटनाएं हैं जिनके विश्लेषण हेतु राजनीति

एवं समाज के परिवर्तित होते संबंधों एवं इन परिवर्तित संबंधों से उभरते शक्ति अभिजन के सोच में बदलाव को सैद्धांतिक विचारधारायी दृष्टि से समझने की आवश्यकता है।

V

राजनीति एवं समाज के संबंधों के परिप्रेक्ष्य में प्रशासन तन्त्र की भूमिका की भी संक्षिप्त चर्चा आवश्यक है। प्रशासनतन्त्र एक तार्किक-वैधानिक-औपचारिक व्यवस्था है जिसका दायित्व नीतियों के निर्माण में विधायिका को सहयोग देना एवं स्वीकृत नीतियों के प्रभावी क्रियान्वन से संबद्ध है। प्रशासन तन्त्र की इस प्रणाली को औपनिवेशिक भारत में इस प्रकार निर्मित किया गया कि वह राजनीतिक नेतृत्व के अधीनस्थ हो और नागरिकों को अपने अधीनस्थ रखे। नागरिकों की उपेक्षा प्रशासन तन्त्र की मानसिकता बना दी गयी एवं वस्तुनिष्ठ-अवैयक्तिक निर्णयों को आधार बना कर प्रशासनतन्त्र को सुविधासम्पन्न बना दिया। स्वतन्त्र भारत में प्रशासन तन्त्र की यह संरचना विद्यमान है।

केन्द्र एवं राज्यों की सरकारें दलीय दृष्टि से चुनाव परिणाम के कारण परिवर्तनशीलता को व्यक्त करती है यद्यपि देश के दो बड़े राष्ट्रीय राजनीतिक दलों की आर्थिक विचारधारा लगभग समान है, उदारीकरण, निजीकरण, वैश्वीकरण के वर्तमान रूप का दोनों दल समर्थन करते हैं, बीमा उद्योग संबंधी बिल/अधिनियम इसका उदहरण है जबकि प्रशासन तंत्र राजनीतिक दलों की सरकारों के परिवर्तन के साथ नहीं बदलता। इसके दो मुख्य परिणाम उभरते हैं– प्रथम निर्मित की गयी नीतियाँ नेतृत्व/सरकर के परिवर्तन के बावजूद निरन्तर बनी रहती है तथा द्वितीय प्रशासन तंत्र की कार्यशैली में "ठहराव" का तत्व उत्पन्न हो जाता है जो प्रशासनिक अराजकता, प्रशासनतन्त्र के वर्चस्व एवं प्रशासनिक संरचना के प्रति जन आक्रोश जैसे विवादास्पद सवालों को उत्पन्न करता है। विचलन, अलगाव, प्रतिमानहीनता एवं यथा स्थितिवाद की ये स्थितियाँ प्रशासकों के अन्य प्रभावशाली वर्गों के साथ गठबंधन को जन्म देती है।

स्वतंत्र भारत में संस्थागत संरचनाओं के साथ समानान्तर संरचनाओं की उपस्थिति का यह मुख्य कारण है। हम इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकते कि प्रशासन तन्त्र स्वतंत्र भारत में सामाजिक परिवर्तन का मुख्य अभिकरण है, परन्तु राजनीतिक नेतृत्व एवं प्रशासनिक व्यवस्था के प्रति उत्पन्न अविश्वास एक ऐसा तथ्य है जिसका चरित्र "राष्ट्र-राज्य" की अवधारण के परिप्रेक्ष्य में खतरनाक है। वि-प्रशासनिकीकरण, प्रशासनिक अधिकारियों एवं विशेषज्ञों के मध्य के विवाद तथा राजनीतिक नेतृत्व एवं प्रशासन के मध्य के आरोप प्रत्यारोप इस बहस को जन्म देते हैं कि क्या राजनीतिक परिवर्तन के साथ प्रशासनिक ढाँचे में परिवर्तन लोकतान्त्रिक राजनीति की प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकता है एवं राजनीतिक नेतृत्व संविधान एवं प्रशासनिक संरचना के मध्य उत्तरदायित्वों की दृष्टि से क्या संबंध होने चाहिए? 1990 के उपरान्त "राजनीतिक अस्थिरता" के तर्कों के राजनीतिक अर्थ, मतदान व्यवहार में परिवर्तन जातीय एवं धार्मिक समूहों की राजनीतिक भूमिका, इन समूहों से राजनीतिक नेतृत्व एवं प्रशासनिक अधिकारियों से संबंध तथा प्रशासन के साम्प्रदायिकीकरण एवं राजनीतिकीकरण के आरोप ऐसे यथार्थ है जिनका यदि हम समाजशास्त्रीय

मूल्यांकन करें तो समाज की भेदभावपूर्ण सामाजिक रचना का राजनीति पर प्रभाव एवं राजनीति का भेदभावपूर्ण रचना को प्रोत्साहन का यथार्थ समझ में आ जाता है।

इस लेख में हमने राजनीति एवं समाज के बुनियादी संबंधों को समझने का प्रयास किया है। हमने इस तथ्य को स्वीकारा है कि राजनीति समाज के प्रत्येक पक्ष को निर्धारित करती है अत: जनता की सहभागिता से राजनीति का निर्धारित होना लोकतान्त्रिक राजनीति की सफलता हेतु आवश्यक है। हमने इस तथ्य की तरफ संकेत किया है कि राजनीति एक औपचारिक प्रणाली है अत: अनौपचारिक प्रणालियों से इसका स्वाभाविक अन्तर्विरोध है परन्तु इन दोनों के मध्य की अनुकूलनशीलता यथार्थवादी राजनीति का यह चरित्र समाज एवं संस्कृति के विभिन्न आयामों को नवीन अर्थ प्रदान करता रहता है। हमने यह भी संकेत दिया कि निजीकरण, उदारीकरण एवं वैश्वीकरण ने भारत सहित विकासशील देशों के सम्मुख राज्य की सम्प्रभुता की अवधारणा को विवादास्पद कर दिया है अत: वर्गीय राजनीति की भूमिका का विश्लेषण आवश्यक हुआ है तथा राजनीतिक समाज एवं नागरिकीय समाज के मध्य संबंधों के स्वरूप को निर्धारित करना भी आवश्यक हुआ। प्रशासन तन्त्र व राजनीति के संबंधों की प्रकृति की तरफ भी हमने संकेत दिये हैं तथा धर्म, जाति एवं लैंगिक संबंधों के राजनीतिक संदर्भों को समझने का प्रयास किया है। समाजशास्त्र के विद्यार्थी के रूप में हमारी स्पष्ट एवं आनुभविक मान्यता है कि ''राज्य- समाज-राजनीति-अर्थतन्त्र'' की अन्त: निर्भरता एक विचारधारायी सवाल है वह विचारधारा चाहे पूँजीवादी अथवा मार्क्सवादी हो अथवा एक विश्व अथवा अनेक विश्व की हो। राजनीति का जनचरित्र ही राजनीतिक समाजशास्त्र का विकासशील देशों में आधार है। अत: हमारा विश्लेषण एवं संक्रिय प्रयास इसी दिशा में होना चाहिए।

संदर्भ ग्रन्थ

- बोटोमोर टॉम, गुडे, पैट्रिक (सं) "रीडिंग्स इन मार्क्ससिस्ट सोशियोलोजी", क्लिनर्डन प्रैस, ऑक्सफोर्ड, 1983
- लिपसेट, एस०एम०, "पोलिटिक्स एण्ड दा सोशल साइंसेस", विलि ईस्टर्न, न्यू देहली, 1972
- ल्यूकास, जार्ज, हिस्ट्री एण्ड क्लास कोंशियसनैस : स्टडीज इन मार्क्ससिस्ट डाइलैक्टिक्स, रूपा एण्ड कंपनी, न्यू देहली, 1993
- रावलस, जोन, ए थ्योरी ऑफ जस्टिस, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, ऑक्सफोर्ड, 1973
- वनाइक अचिन, दा पेनफुल ट्रांजिशन : बोरगिओट्स डैमोक्रेसी इन इंडिया, वरसो, लंदन, 1990

भारतीय समाज में स्त्री

10

भूमिका

यह एक अवर्णित धारणा है कि भारतीय समाज का कोई भी अध्ययन, हम चाहें या न चाहें, पुरुष और स्त्री दोनों के अध्ययन को सम्मिलित किये बिना कर सकते हैं, दुर्भाग्य से सदैव ऐसा नहीं होता। इस तरह का दावा निरर्थक लगता है और विशेष करके तब जब हम समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र जैसे विषयों का अध्ययन करते हैं। दूसरे विषयों की तरह इन विषयों में यह मान्यता नहीं होती कि हम विवाह, परिवार, नातेदारी जैसी संस्थाओं का अध्ययन पुरुष और स्त्री के बिना कर सकें। इन संस्थाओं के अध्ययन में स्त्रियों की उपेक्षा करना सरल नहीं होता। लेकिन ऐसे क्षेत्र भी हैं जैसे कि परिवार और नातेदारी जिनमें नातेदारी की सम्पूर्ण संरचना और प्रक्रिया को हम पुरुष को प्रधान मान कर करते हैं। समाजशास्त्रीय व मानवशास्त्रीय अध्ययनों में जहाँ हम लोगों के जीवन का प्राथमिक अवलोकन करते हैं, स्त्रियों की गतिविधियों को नगण्य समझते हैं। यह एक सामान्य बात है कि जब कभी हम किसी समाज का अध्ययन करते हैं तो तथ्य सामग्री केवल पुरुषों से ही एकत्रित करते हैं, स्त्रियों से नहीं।

समाजशास्त्र में महिलावादी हस्तक्षेप का तर्क है कि यहाँ महिला का अध्ययन किसी वस्तु के रूप में किया जाता है न कि विषय के रूप में। इसका एक उदाहरण लीजिए। मैं भारतीय समाजशास्त्र की एक बड़ी केन्द्रीय अवधारणा को लेती हूँ : "संस्कृतिकरण"। इसे जिस तरह परिभाषित किया जाता है, उसमें कहा जाता है कि यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा निम्न जातियाँ समाज की उच्च जातियों के रीति रिवाजों, जैसे शाकाहारी भोजन और जनेऊ का अनुकरण करके ऊपर आ जाती हैं। ऊपर आने के लिये ये जातियाँ अपने परिवार की स्त्रियों को खेतों में काम करने नहीं भेजती। इसी तरह समाज में ऊँचा उठने के लिए ये निम्न जातियाँ लड़कियों की विवाह की उम्र कम कर देती हैं, विधवा पुनर्विवाह की रस्म को बन्द कर देती हैं, और विवाह - विच्छेद को कठिन बना देती हैं। मैं इस बात पर जोर देना चाहती हूँ कि इन नये रस्म रिवाजों का स्त्रियों के जीवन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। इन सब रीति-रिवाजों में स्त्रियों की गतिविधियों और स्वायत्तता पर पर्याप्त अंकुश लगाया जाता है। ऐसे प्रतिबन्धात्मक रिवाजों पर कम से कम कई वर्षों तक विरोध दर्ज नहीं

किया गया। इस तरह के रीति रिवाज जनेऊ पहनने की माँग से भिन्न नहीं हैं। मुझे स्पष्ट रूप से लगता है कि संस्कृतिकरण के अवर्णित विषय में आदमी सबसे महत्पूर्ण है। दूसरे शब्दों में, वास्तविकता यह है कि आदमी तय करता है और उसके निर्णय को स्त्रियाँ मानने को बाध्य हो जाती हैं। यह महत्वपूर्ण बात बाद में चलकर मेरी समझ में आई। इसलिए संस्कृतिकरण की प्रक्रिया का प्रभाव पुरुष और स्त्रियों पर जुदा-जुदा पड़ता है। दूसरे शब्दों में, संस्कृतिकरण की अवधारणा पुरुष और स्त्री के भेदभाव से युक्त नहीं है। महिलावादी आन्दोलनकारी अब यह बराबर महसूस करते हैं कि वे सामाजिक प्रक्रियाएँ और नीतियाँ जो समाज के विश्लेषण के लिए अपनाई गई हैं, स्त्री और पुरुष के भेदभाव से ग्रसित हैं।

आपको आश्चर्य होगा कि मैं भारतीय समाज में स्त्रियों की प्रस्थिति और भूमिका का विस्तृत वर्णन देने की अपेक्षा इस तरह की टिप्पणी से अपनी बात को क्यों शुरू करती हूँ। इसका कारण अध्ययन प्रणाली है। स्त्रियों के जीवन के आधुनिक आनुभविक विवरण देने में इस अत्यधिक महत्वपूर्ण बात पर जोर देना चाहती हूँ कि पिछले दिनों समाज विज्ञानों में हमारा ध्यान हमेशा पुरुषों पर केन्द्रित रहा है। हमने हमेशा पितृसत्तात्मक प्रभुत्व की दृष्टि से स्त्रियों की स्थिति को स्पष्ट या अस्पष्ट किया है। एक बात और कहूँ। भारतीय समाज विज्ञान साहित्य में हमने हमेशा इसी मुहावरे को दोहराया है कि भारतीय स्त्रियों ने अभी हाल में ही सार्वजनिक क्षेत्रों में काम करना शुरू किया है। इसमें विधि प्रणाली की दृष्टि से दो त्रुटियाँ हैं। पहली तो यह कि इस कथन से पहले जैसे भारत की स्त्रियाँ घर से बाहर कहीं काम ही नहीं करती थीं। हम यह भूल जाते हैं कि कई सदियों से आदिवासी और निम्न जाति की स्त्रियाँ बहुत बड़ी संख्या में खेतों और जंगलों, खानों और कारखानों तथा चाय बागानों में काम करती आ रही हैं। यहाँ तक कि वे हमारे मध्यम वर्गीय घरों में भी घर का काम काज करती रही हैं। दूसरा, काम करने से हमारा मतलब उस काम से है जहाँ संगठित क्षेत्रों में नकद भुगतान किया जाता है। देखा जाये तो जब से सन् 1975 में "समानता की ओर" रपट प्रकाशित हुई है, भारत में स्त्रियों पर जो भी अध्ययन हुए हैं, उन्होंने बार बार यह प्रश्न उठाया है कि काम करने की अवधारणा से हमारा क्या मतलब है। आज जनगणना अधिकारी भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि राज्य ने काम को जिस तरह से परिभाषित किया है, उसमें कई अनियमिततायें हैं। और हमें बार-बार यह जानकारी आये दिन मिलती है कि पत्थर तोड़ने वाली, खलिहानों में काम करने वाली, और घर बैठकर राखी गूँथने वाली सभी स्त्रियाँ कामगार हैं।

जिस बात पर मैं जोर देना चाहती हूँ वह यह है कि भारतीय समाज में जब कभी हम स्त्रियों के बारे में अध्ययन करते हैं तब यह पर्याप्त नहीं है कि जो कुछ हो रहा है उसे केवल लिपिबद्ध करें। देखा जाये तो इस तथ्य को लिपिबद्ध करना कि स्त्रियाँ क्या करती हैं और कैसे रहती हैं, एक बहुत बड़ी कवायद है। कवायद इसलिए कि हमारी समाज विज्ञान की पुस्तकों में स्त्रियाँ हमेशा अदृश्य रहती हैं लेकिन केवल लिपिबद्ध करने के आगे हमें यह प्रश्न भी रखना चाहिये कि स्त्रियों के बारे में जो कुछ हमारा विश्लेषण है, उसकी श्रेणियाँ और

अवधारणा कौन सी हैं। जैसा कि हमने पहले कहा है कि स्त्रियाँ घर में रहकर जो उत्पादन कार्य करती हैं उसे न तो हम स्पष्ट रूप से परिभाषित करते हैं और न हमारे क्षेत्र में कार्य करने वाले अनुसंधानकर्ता ऐसे होशियार हैं कि इन स्त्रियों के काम का सही लेखा-जोखा कर सकें। इस प्रकार उनके काम का उल्लेख ही नहीं हो पाता।

इससे जुड़ा हुआ एक और बिन्दु भी है जिसकी ओर मैं ध्यान आकर्षित करूँगी। यह कैसे होता है कि हम खुद अपनी आँखों से देखते हैं कि मजदूर वर्ग की स्त्रियाँ हमारे चारों ओर काम करती हैं, लेकिन हम इनका समाज विज्ञान के साहित्य में कोई ब्यौरा नहीं देते। दूसरी ओर, यह कैसे है कि एक मध्यम वर्ग की स्त्री दिन-भर अपने घर के काम में खपी रहती है और बड़ी क्षमार्थी होकर कहती है कि : "मैं कोई काम नहीं करती"। इन दोनों उदाहरणों में हमारी जो सामान्य अवधारणा है, और हमारा जो सोच है वह यह स्वीकार नहीं करता कि जिस तरह से पुरूष काम करते हैं, वैसे स्त्रियाँ भी काम करती हैं। ऐसा क्यों है कि हम घरेलू नौकर, पत्थर तोड़ने वाले और शाक सब्जी बेचने वालों को हमेशा से काम करते देखते आ रहे हैं और अब यह कहने लगे हैं कि भारतीय स्त्रियों ने अभी काम करना शुरू किया है? हमारा ऐसा कहने का कारण है कि जब कभी हम स्त्रियों के बारे में सोचते हैं तो उन्हें हम अपनी माता और बहन की तरह देखते हैं। हमारा सामाजिक आधार ही ऐसा है कि हम अपने सामाजिक अनुभवों द्वारा निर्मित स्थिति से बाहर कुछ भी कहने के लिये तैयार नहीं होते। जब एक गृहिणी बराबर कोई न कोई काम करती है फिर भी कहती है कि वह कोई काम नहीं करती तो वह इस बात की शिकार है कि उसकी दृष्टि में काम वही है जिसकी दिहाड़ी मिलती है जैसे कि किसी दफ्तर में काम करने जाना या किसी और स्थान पर काम करना। इस प्रकार के काम घर के बाहर के काम हैं और उन्हीं को वह "काम" समझती हैं। देखा जाये तो समाज विज्ञानों का इतिहास इसी विश्लेषण पर है कि गृह क्षेत्र के कार्य को सार्वजनिक क्षेत्र के कार्य से भिन्न करता है।

महिलावादी विद्वानों ने समाज विज्ञानों में "निजी" और "सार्वजनिक" क्षेत्रों के इस कार्य के पृथक्करण की आलोचना की है। जिस तरह काम के स्थान पर जोर दिया जाता है, उसी तरह सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक दबावों ने परिवार को भी प्रभावित किया है। इतिहासकारों ने यह बताया है कि किस प्रकार पूर्व-औद्योगिक काल के इंग्लैण्ड में गृह कार्य को भी उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन के कार्य की तरह माना था। यह सब बदलाव बहुत बड़े कारखानों और काम के स्थानों के प्रादुर्भाव से आया है। इन स्थानों के उद्‌भव से इनसे जुड़ी हुई एक वैचारिकी आई कि मकान तो केवल अवकाश का समय गुजारने तथा उपभोग का स्थान है। आदमी तो केवल सार्वजनिक क्षेत्र में कार्य करता है, इसलिए वह वस्तुओं का उत्पादन करता है और कमाने वाला व्यक्ति है। स्त्रियों का काम तो केवल घर और चूल्हे को संभालना है, वह इन्हीं पर निर्भर है। इस सारी कवायद में वर्ग और "लैंगिकता" का दृष्टिकोण प्रभावी है। जब कार्यकारी वर्ग की स्त्रियाँ खानों और कारखानों में काम करती थीं, मध्यम वर्ग की स्त्रियाँ एक बुझे हुए दिल से विश्वास और कोमलता की भावना से दबी थी।

यद्यपि इस तरह की विश्वास व्यवस्था वर्ग विशेष की विशेषता थी, इसने शेष समाज को शक्तिशाली ढंग से प्रभावित किया है।

इंग्लैण्ड के उपनिवेशवाद के युग में भारतीय समाज भी कुछ ऐसी ही धारणाओं से पीड़ित था। यहाँ जब 19वीं शताब्दी में मध्यम वर्गों में सामाजिक सुधार आन्दोलन ने कई रीति रिवाजों जैसे कि सती प्रथा, विधवा विवाह पर प्रतिबन्ध, और बाल विवाह से लड़ने की शक्ति जुटाई, तब दूसरी ओर इस आन्दोलन ने एक ऐसी विचारधारा को भी पनपाया जो स्त्रियों को ऐसा सुसंस्कृत बनाना चाहती थी कि वे कसीदें के काम में अपनी कलात्मक सुई चलायें और घर के काम काज में जुटी रहें। इस तरह की विचारधारा की भागीदार भारतीय गरीब स्त्रियाँ नहीं थीं। यह अवश्य है कि राष्ट्रीयता और विशेषकर वामपंथी आन्दोलन ने काश्तकार और आदिवासी कार्यकारी स्त्रियों के वर्ग को सार्वजनिक विवाद के घेरे में खड़ा कर दिया। जब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने राष्ट्रीय योजना कमेटी बनाई जिसमें 29 उप-कमेटियाँ थीं, एक उप-कमेटी सम्पूर्ण रूप से इस लिए बनाई गई थी कि वह "योजनाबद्ध आर्थिक" व्यवस्था में स्त्रियों की भूमिका देखे। उप-कमेटी का ऐसा शीर्षक इस बात को बताता है कि हमारे राष्ट्रीय नेताओं में यह चेतना थी कि वे अर्थव्यवस्था में स्त्रियों की भूमिका को निर्णायक समझें।

यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद जो चेतना हमारे राष्ट्रीय नेताओं में थी, वह नहीं रही। इसके बजाय राज्य स्त्रियों के बारे में अनिवार्य रूप से यह सोचता है कि वे पत्नियाँ और माताएँ हैं इसलिए उन्हें कल्याणकारी और सामाजिक सहायता की आवश्यकता है। सन् 1970 के दशक में जो महिला आन्दोलन चलें और इनके साथ में स्त्रियों पर अनुसंधान का जो पुनरूत्थान हुआ, उसने इस स्थिति को बदल दिया। पिछले 20 वर्षों में नये मुद्दे उठे हैं। एक नया प्रयास किया जा रहा है जिसमें न केवल यह समझा जाता है कि स्त्रियों की स्थिति क्या है लेकिन यह भी देखा जाता है कि स्त्री और पुरुष में भेदभाव कैसे हैं और समाज में किस भाँति ये भेदभाव भिन्न तरह से बनते हैं। उदाहरण के लिये जब यन्त्रीकरण होता है तब पुरुष कामगारों की कुशलता को बढ़ावा दिया जाता है, उन्हें आगे धकेला जाता है और स्त्री कामगारों को बाहर फेंक दिया जाता है। ऊपर हमने देखा है कि संस्कृतिकरण किस भाँति पुरुष और स्त्रियों को भिन्न तरह से प्रभावित करता है।

अगले पृष्ठों में मैं भारतीय समाज में स्त्रियों की प्रस्थिति और भूमिका का विश्लेषण करूँगी और ऐसा करने में ऊपर मैंने विधि प्रणाली से जुड़े जिन मुद्दों को उठाया है, उन्हें ध्यान में रखूँगी।

स्त्रियाँ और कार्य

स्त्रियों के कार्य की प्रकृति में एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में, बड़ा अन्तर देखने को मिलता है। यह अन्तर विभिन्न वर्गों, गाँवों, और शहरों में पाया जाता है। इस प्रघटना की एकाधिकता को ध्यान में रखना चाहिये।

ग्रामीण क्षेत्रों में स्त्रियों के कार्य

सातवें दशक तक हमारे समाज विज्ञान अनुसंधान में गृह कार्यों और अर्थव्यवस्था में स्त्रियों की सहभागिता पर अपर्याप्त ध्यान दिया गया था।

हमारे पास समाजशास्त्रियों द्वारा किए गए जो अनेक ग्रामीण अध्ययन हैं उनमें स्त्रियों का विवेचन केवल नातेदारी, विवाह और परिवार के संदर्भ में है। यदि समाज विज्ञानों की यह स्थिति थी तो यह आश्चर्यजनक नहीं है कि स्त्रियों के बारे में सामान्य लोगों का यह सोच कि वे एक आधुनिक काम काजी महिला हैं, शहर की उपज हैं, बड़ी बात नहीं है। सच्चाई इससे एकदम भिन्न है। गाँवों में सभी वर्गों की स्त्रियाँ काम करती हैं। लेकिन उनके काम की प्रकृति प्रत्येक वर्ग और क्षेत्र में भिन्न होती है। इसमें वर्ग की अपेक्षा जाति प्रभावी है। कृषि गतिविधियों में स्त्रियों की भागीदारी का निर्णायक कारण यह है कि उनका परिवार कितनी भूमि का मालिक है। निम्न जाति की स्त्रियाँ जिनके पास थोड़ी जमीन होती है, खेतों में काम करती हैं। ऊँची जाति की स्त्रियाँ सामान्यतया: खेतों में काम नहीं करती, यह अवश्य है कि जहाँ भूमि का आकार बड़ा होता है, स्त्रियाँ खेतों में निरीक्षक का काम करती हैं। इसके अतिरिक्त कृषि कार्य में लागत बढ़ जाने के कारण भी स्त्रियाँ खेतों में काम करने के लिये बाध्य हो जाती हैं। भूमि का आकार बढ़ जाने से स्त्रियाँ खेत के काम से पीछे हट जाती हैं। इस तरह की गतिविधि शायद इस सांस्कृतिक विश्वास के कारण है कि जिन समूहों की प्रतिष्ठा ऊँची होती है, उनमें स्त्रियाँ खेतों में काम नहीं करती। लेकिन रुचिकर बात यह है कि एक ओर कथन इस सन्दर्भ में दिया जाता है। शायद स्त्रियाँ प्रतिष्ठा के कारण खेतों में काम नहीं करती लेकिन उन्हें कृषि से जुड़े हुए अन्य काम तो करने ही पड़ते हैं। इन अन्य कामों का उल्लेख तथ्य एकत्र करने वाले नहीं करते। इन अन्य कार्यों में मजदूरों के लिए भोजन बनाना है। इस कार्य को अब मजदूरी पर रखे लोग भी करने लगे हैं। इन अन्य कार्यों में बीज को जमीन में डालना भी सम्मिलित है। ऐसी स्थिति में कोई यह नहीं देखता कि स्त्रियाँ भी किसान हैं।

खेती बाड़ी की गतिविधियों में स्पष्ट रूप से स्त्रियाँ जिस तरह काम करती हैं, उसमें देश के विभिन्न भागों में अन्तर दिखाई देता है। उदाहरण के लिए केरल और तमिलनाडु में स्त्रियाँ धान की खेती में काम करती हैं जबकि पंजाब और हरियाणा में वे ऐसा कुछ नहीं करतीं। धान की पैदावार करने वाले क्षेत्रों में स्त्रियों को अलग नहीं रखा जाता है और खेती बाड़ी के काम-काज तथा कृषि संबंधी निर्णय में स्त्रियों की भागीदारी अधिक होती है। लेकिन वे क्षेत्र जहाँ स्त्रियों की खेती में भागीदारी होती है, वहाँ एक ही क्षेत्र में जाति और वर्ग के अलग विस्तार दिखाई देते हैं। उदाहरण के लिए तमिलनाडु के भूमिहीन वर्गों में स्त्रियाँ खेत में भी काम करती हैं और मालिक के मकान और चार दिवारी में भी काम करती हैं। जब वे खेतों में काम करती हैं तो उनका काम बुआई, प्रत्यारोपण, खरपतवार हटाना और फसल को काटना आदि होते हैं। इसी भाँति मकान मालिक के घर चारदिवारी में बीज को बोने के लिए तैयार करना और भूसी हटाना, अनाज को फटका देना तथा खलिहान में ले जाने के लिए तैयार करना आदि काम होते हैं। इस तरह की गतिविधियों में जाति की दृष्टि से अन्तर तो होता ही है, लेकिन एक और अन्तर स्त्री की कुशलता, उम्र और स्वास्थ्य के आधार पर होता है। लघु भूमि धारकों की स्त्रियाँ और विशेष करके अगर वे ऊँची जातियों की नहीं हैं, अपनी भूमि पर

काम करती हैं, कभी-कभी दूसरे के खेतों पर भी काम करती हैं और इन्हें खाद बीज आदि की खरीद में, मजदूरों के भोजन बनाने में, अक्सर खेती की कृषि संबंधी गतिविधियों में भागीदारी करनी पड़ती है। वे स्वयं की और पड़ौसी की खेती बाड़ी की छोटी बड़ी सभी बातों पर ध्यान रखती हैं। ऐसे परिवार जिनके पास अधिक भूमि होती हैं, उनकी स्त्रियाँ खेतों में काम नहीं करती। लेकिन जो कुछ तथ्य सामग्री उपलब्ध है उसके अनुसार कम से कम कुछ स्त्रियाँ अपने पति के साथ जो एक ही गाँव में रहती हैं खेती की गतिविधियों पर अवश्य देख-रेख रखती हैं।

असंगठित क्षेत्र में स्त्रियों के कार्य

यदि हम असंगठित क्षेत्र, चाहे गाँव या इससे बाहर देखें तो ज्ञात होगा कि स्त्रियाँ बराबर काम करती हैं और उनका संघर्ष स्पष्ट दिखाई देता है। **द नेशनल कमिशन ऑफ सेल्फ इम्प्लाईड वीमन** के एक अनुमान के अनुसार कामकाजी स्त्रियों की सम्पूर्ण संख्या का 94 प्रतिशत इस क्षेत्र में काम करता है। सच तो यह है कि अंसगठित क्षेत्र में स्त्रियों की भागीदारी बराबर देखी जा सकती है। वे विस्तृत रूप से कृषि, पशुपालन, दूध डेयरी, सामाजिक और कृषि वानिकी, मत्स्य आखेट, शिल्पकला, खादी और ग्रामीण उद्योग, हाथकरघा और रेशम कीट उत्पादन आदि में काम करती हैं।

हमने पहले ही कहा है कि कृषि संबंधी विभिन्न गतिविधियों में स्त्रियाँ बराबर काम करती हैं। जहाँ वे वनरोपण में काम करती हैं, तब उनका काम लघु वन उत्पाद और आयुर्वेदिक जड़ी बूटियों को संग्रहित करने का होता है। वनरोपण में तो इनकी भूमिका बहुत बड़ी है। जमीन से जुड़े हुए धन्धों के अतिरिक्त स्त्रियों का ग्रामीण उद्योगों में योगदान भी किसी अर्थ में न्यून नहीं होता। अधिकांश कामकाजी महिलायें स्वरोजगार में काम करती हैं या ऐसे उत्पादन में लगी रहती हैं जिनका आधार घर होता है घर के उद्योंगों में वे सिले-सिलाये वस्त्रों, बीड़ी बनाने और इसी तरह के भाँति-भाँति के धन्धों में काम करती हैं। असंगठित स्त्रियाँ फेरी देने वाली, घरेलु नौकरानी तथा हॉकर की तरह काम करती हैं।

यहाँ संख्या से कोई मतलब नहीं है। कामकाजी महलाओं की संख्या तो अधिक है ही लेकिन महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि वे किस तरह के काम करती हैं और उनके काम की प्रकृति कैसी है। एक तरफ तो उनका कार्य दिहाड़ी का होता है और दूसरी ओर वे स्वनियोजित होती हैं, परिवार के लिए काम करती हैं और छोटे-मोटे धन्धे ले लेती हैं। वे स्त्रियाँ जो स्वनियोजित होती हैं उन्हें तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है। पहली श्रेणी में, वे स्त्रियां आती हैं जो छोटे धन्धे करली हैं, फेरी लगाती हैं, साग-सब्जी, फल-फूल, अण्डे और घरेलू कामकाज की छोटी वस्तुओं को बेचती हैं। दूसरी श्रेणी में, वे स्त्रियाँ आती हैं जो घर पर ही रहकर उत्पादन करती हैं जैसे कि मिट्टी के बर्तन बनाना, दूध बेचना, कृषि उत्पादनों पर काम करना जैसे दाल बनाना और हाथ करघे पर काम करना। तीसरी श्रेणी में, वे स्त्रियाँ आती हैं जो श्रमिक का काम करती हैं या नौकरी करती है। स्वनियोजित स्त्रियों का बहुत बड़ा भाग शहरी होता है।

वे स्त्रियाँ जो अपने घर को आधार बना कर उत्पादन कार्य करती हैं, उनके दो प्रकार हैं।

पहले प्रकार में वे स्त्रियाँ हैं जो नियोजक या ठेकेदार से कच्चा माल ले आती हैं और उसे तैयार करके लौटा देती हैं। इस स्थिति में जिस वस्तु को बनाया जाता है उसकी संख्या, वजन या आकार के हिसाब से पैसा दिया जाता है। इस तरह के कामों में बीड़ी बनाना, कपड़े सिलना, पापड़-बड़ी बनाना और अन्य कई कार्य हैं जिन्हें घर पर रहकर ही किया जा सकता है। ऐसी स्त्रियाँ जो घर पर ही काम करती हैं उनके बहुत से बुनियादी खर्च बच जाते हैं। इस भाँति टुकड़ों में काम करने वाली स्त्रियाँ किसी एक नियोजक के लिए काम नहीं करती। उनका सरोकार तो एजेण्टों और ठेकेदारों के माध्यम से होता है। क्योंकि ये स्त्रियाँ घर पर ही रहकर काम करती हैं इनका संबंध कई बिचौलियों से होता है। ऐसी अवस्था में स्त्रियों का नियोजकों के साथ जो संबंध होता है, उसके कोई स्पष्ट नियम नहीं होते। ऐसी अवस्था में फैक्ट्री एक्ट तथा दुकान के जो कानून होते हैं उन्हें नियोजक मनमाने ढंग से तोड़-मरोड़ देता है। घर पर रहकर काम करने वाली स्त्रियों की दूसरी श्रेणी उनकी है जो कच्चे माल की खरीद में अपना पैसा लगाती हैं, इस माल पर काम करती हैं और वस्तुओं को बाजार में बेच देती हैं। इस तरह के कार्य में निम्न स्तर की कुशलता और तकनीकी काम में ली जाती है। यह उत्पादन हल्का होता है और इसकी प्रकृति मौसमी होती है। इन कामों में आय थोड़ी होती है और इनके पीछे किसी संगठन का हाथ नहीं होता। इन स्त्रियों के कार्य के उत्पादन, विपणन और आर्थिक सहायता में किसी की भूमिका नहीं होती ।

मध्यम वर्ग की स्त्रियाँ और कार्य

सन् 1940 के दशक के बाद मध्यम वर्गीय स्त्रियाँ जो शिक्षित, उच्च जातियों और शहरों की थी उन्होंने बहुत बड़ी संख्या में घर से बाहर काम करना प्रारम्भ किया। शुरू के समाज सुधारक जो स्त्रियों की स्थिति को ऊँचा उठाने में रूचि रखते थे, वे स्त्रियों की आर्थिक भूमिका के बारे में कुछ सोचते नहीं थे। वे केवल विधवाओं की आर्थिक स्थिति के बारे में ही विचार करते थे। सातवें दशक में मध्यम वर्ग की स्त्रियों के काम करने में वृद्धि के कई कारण थे। इन कारणों में बढ़ता हुआ आर्थिक संकट, विस्तृत होता सार्वजनिक क्षेत्र, और उच्च शिक्षा के माध्यम से काम करने की प्रवृत्ति, सम्मिलित है।

आज भारत के महानगरों, शहरों और कस्बों में मध्यम वर्गीय महिलाओं को बहुत बड़ी तादाद में काम करने के लिए जाते देखना, एक सामान्य बात है। ये स्त्रियाँ सफेद पोश धन्धों जैसे कि बाबुगिरि, सैक्रेटरी, टेलीफोन ऑपरेटर, बैंक और निजी कार्यालयों में काम करती हैं। कई स्त्रियाँ दवा-दारू, स्कूल और कॉलेज में अध्यापन तथा अनुसंधान जैसे धन्धों में काम करती देखी जा सकती हैं। पिछले एक दशक और इससे अधिक समय में स्त्रियों की बढ़ती हुई संख्या कम्प्यूटर तथा प्रबन्ध कार्यकारी के रूप में भी काम करती मिलती हैं। जहाँ निजी निगम क्षेत्र में पिछले एक दशक में बड़ा विस्तार हुआ है और जिसमें अधिकांश स्त्रियाँ काम करती हैं, वहाँ पुराने सार्वजनिक क्षेत्र में वैसे ही कई स्त्रियाँ नियोजित थीं। कामकाजी मध्यम वर्गीय स्त्रियों पर जो अध्ययन हुए हैं उन्होंने कुछ

महत्वपूर्ण मुद्दों को प्रस्तुत किया है। इन मुद्दों का संबंध स्त्रियों के रोजगार और परिवार में उनकी भूमिका के साथ जुड़ा हुआ है। अधिकांश मध्यम वर्गीय महिलायें अपने कार्य और परिवार के उत्तरदायित्व के इन्द्रजाल से जूझ रही हैं। बहुत बड़ी संख्या में मध्यम और निम्न वर्गीय महिलाओं के लिए काम करना एक आर्थिक आवश्यकता है। इन स्त्रियों के वेतन के अभाव में उनके परिवार की बहुत सी आवश्यकताएँ जैसे कि आवास और अच्छे स्कूलों में बच्चों की शिक्षा, पूरी नहीं हो सकती। भारत का मध्यम वर्ग अपने बच्चों के लिए बहुत कुछ चाहता है। इसमें संचार साधनों की भूमिका बहुत बड़ी है जिसने इस भावना को बढ़ाया है कि बच्चों का पालन पोषण सबसे बढ़िया उपलब्ध अवसरों के अनुसार होना चाहिए जिससे कि ये बच्चे हमारे समाज के जो भी दबाव हैं उनके साथ भविष्य में ताल-मेल बैठा सके। इसलिए बच्चों के संगीत, नाच, खेलकूद तथा यहाँ तक कि उनके व्यक्तित्व को परिपक्व करने के लिए धन की आवश्यकता होती है। ऐसी अवस्था में इन कामकाजी स्त्रियों द्वारा पैदा किया हुआ धन परिवार के चलाने में निर्णायक होता है।

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि घर के चलाने में स्त्रियों की कोई महत्ती भूमिका है। इसके विपरीत अक्सर कामकाजी महिलायें अपने वेतन को अपने पति या ससुराल वालों को दे देती हैं। वास्तव में शादी के समय लड़के वाले यह माँग प्राय: रखते हैं कि उन्हें कामकाजी लड़की चाहिए। सामाजिक आलोचक इस तरह की माँग को एक आवर्तक दहेज या जीवन पर्यन्त दिया जाने वाला दहेज कहते हैं। ऐसी घटनायें मिली हैं जहाँ मध्यम वर्गीय महिलायें प्रतिष्ठा और बड़े वेतन वाले धन्धों में काम करती हैं और वे दहेज से जुड़ी/जुड़े हुए अत्याचारों की शिकार हुई हैं। इन घटनाओं में बहू को जला देने के हादसे भी हुए हैं। विद्वानों को उन सांस्कृतिक मुद्दों की पड़ताल करनी चाहिए जिनकी परिणती ऐसी घटनाओं में होती है। इस लेख के अगले भाग में हम उन परम्पराओं, रीति-रिवाजों और समाजीकरण का उल्लेख करेंगे जो स्त्रियों को समाज में हाशिये पर ले आती हैं। कुछ स्त्रियों को छोड़कर, यद्यपि उनकी संख्या बढ़ रही है, अधिकांश स्त्रियाँ अपने परिवार के उत्तरदायित्वों के साथ समझौता नहीं करती और इस तरह एक ऐसी स्थिति आ जाती है जहाँ अपनी स्वयं की व्यक्तिगत उपलब्धियों पर वे स्वयं प्रतिबन्ध ओढ़ लेती हैं।

स्त्रियों पर जो अध्ययन हुए हैं, वे बताते हैं कि जहाँ आज की मध्यम वर्गीय स्त्रियाँ किसी न किसी धन्धे को अपना कर जीवन बनाने के बारे में चेतन हैं, वे अपनी इस महत्वकांक्षा में ज्यादा आगे नहीं बढ़ पाती। एक महिला वैज्ञानिक किसी प्रयोग के लिए प्रयोगशाला में देरी तक ठहरना कठिन पाती है। एक महिला वकील किसी वकील के कार्यालय में काम करना पसन्द करेगी बनिस्पत कि वह अदालत में जाकर वकालत करे क्योंकि ऐसा करने पर उसको अपने कार्यालय में देर रात तक काम करना पड़ेगा। एक महिला चिकित्सक वेतन पाकर 10 बजे से 5 बजे तक अस्पताल में काम करना बेहतर समझेगी क्योंकि अपने स्वयं की प्रेक्टिस चलाने पर अनिश्चित घण्टों तक उसे काम करना पड़ेगा। मैं यहाँ सार्वजनिक क्षेत्र में काम करने वाली स्त्रियों की एक कार्यशाला का अपना अनुभव बताना चाहूँगी। इन महिला सह भागियों में लगभग

सभी ने बताया कि कार्यालय के समय हो जाने पर जब वे घर जाने के लिए बसों पर चढ़ जाती थी तब पुरुष स्त्रियों की तरफ व्यंग से ठीठी करते थे। यदि ये स्त्रियाँ घर पर विलम्ब से पहुँचती हैं तो उनके पति भद्दी और अशोभनीय टिप्पणी करते हैं और अपनी अप्रसन्नता बताते हैं। महत्वपूर्ण बात यह है कि पुरुष कार्यालय में देर से काम करने आते हैं और प्राय: "ओवर टाइम" करते हैं या कार्यालय में समय हो जाने के बाद देर तक गप्प-शप्प करते हैं या ताश खेलते हैं।

व्यवहार के इस तरह के प्रतिमान से हम में से अधिकांश लोग परिचित हैं। लेकिन आज इस बात की आवश्यकता है कि हम यह स्वीकार करें कि पुरुष और स्त्री में भेदभाव भी एक समस्या है और ऐसा करके ही हम स्त्री और पुरुष कामगारों के भिन्न व्यवहार को समझ पाएंगे। स्त्रियों पर किये गये अध्ययन हमें जो बुनियादी अन्तर्दृष्टि देते हैं वह यह है कि हमें घर और बाहर के काम काज के अन्तर पर प्रश्नवाचक चिन्ह करना सीखना चाहिए। ऊपर हमने स्त्रियों के जिस व्यवहार की चर्चा की है, वह इस बात को बताता है कि हमारी यह धारणा कि घर का काम केवल स्त्रियों के लिए हैं, दोष पूर्ण है। जब स्त्रियाँ ऐसा करती हैं यानी घरेलु काम काज में जुटी रहती हैं, तब राज्य और सरकार उन्हें बहुत सामान्य और महत्वपूर्ण समझते हैं। ऐसी स्थिति में हमारे सामने एक उहापोह की अवस्था आती है। जब घर को सुचारू रूप से नहीं चलाया जाता तब घर से बाहर काम करने वाला आदमी गुस्सा करता है, प्रलाप करता है लेकिन जब यही आदमी घर से बाहर काम करता है तो घर के कामों को बहुत साधारण समझता है। इस संदर्भ में मैं सरकार के इस निर्णय का उल्लेख करूँगी कि वह पिता को मातृत्व के लिए छ: सप्ताओं का अवकाश देने की बात करती है। एक स्तर पर लोग ऐसे अवकाश को प्रतीकात्मक और बेमतलब समझेंगे लेकिन मैं प्रतीकात्मक स्तर पर ही सही राज्य के इस निर्णय को बहुत महत्वपूर्ण मानती हूँ। यहाँ राज्य की दृष्टि में यह तय हो जाता है कि पुरुषों के भी बच्चे और उत्तरदायित्व हैं। सामान्यत: एक स्त्री स्वयं के गर्भवती होने पर अपने आपको बड़ी लाचार समझती है और ऐसा ही वह मातृत्व लाभ देने में मानती है। उसकी लाचारी का कारण यह है कि वह भी सार्वजनिक और निजी द्वन्द्व की शिकार है। जब वह गर्भवती होती है तो उसे लगता है कि वह अपने व्यवसाय के प्रति विश्वासघाती है। लेकिन सही बात यह है कि समाज को परिवार और बच्चों की आवश्यकता भी है। कुछ इसी तरह जैसे काम धन्धों की भी आवश्यकता है। कुछ लोग जो महिलावादी आन्दोलन के विरोधी हैं, सुझाव दे सकते हैं कि यदि समाज को घर और बाहर के दोनों कामों की आवश्यकता है तो आदमी को बाहर काम करने दो और स्त्री को घर में। यदि इस तरह, कार्य का बंटवारा हो जाये तब भी आदमी पिता और पति दोनों रहेगा। लेकिन यदि स्त्रियाँ इस तरह कहें तो सलाह दी जायेगी कि उन्हें विवाह नहीं करना चाहिए या बच्चों का प्रजनन नहीं करना चाहिए। ऐसे तर्क की धारणा यह है कि राज्य और आगे चलकर समाज तथा आदमी का यह प्राथमिक उत्तरदायित्व नहीं है कि बच्चों का पालन-पोषण किया जाये। इस तरह की धारणा के प्रति प्रश्न उठाया जाना चाहिये। ऐसी समझ के कारण है कि भारत और दुनिया में अन्य

जगहों पर महिला आन्दोलन राज्य और नियोजक दोनों से माँग करता है कि इन्हें बच्चों की देखभाल करने के लिए और गृह कार्यों के लिए सहायता प्रदान करनी चाहिये। दूसरे स्तर पर यह माँग भी की जाती है कि पुरुषों को भी घर के उत्तरदायित्व को अपनाने के महत्व को समझना चाहिए और पुरुष तथा स्त्री के संबंधों को प्रजातान्त्रिक बनाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, आदमी को भी स्त्री के जीवन की चिन्ताओं को उतना ही समझना चाहिए जितना कि मध्यम वर्ग की स्त्रियाँ पुरुषों की चिन्ताओं में अपनी भागीदारी करती हैं।

मैंने पिछले पृष्ठों में यह बताने का प्रयास किया है कि विभिन्न वर्गों और जातियों की स्त्रियाँ किस भाँति काम करती हैं। स्त्रियों की ऐसी स्थिति होते हुए भी आज यह बलवती धारणा लोगों में काम करती है कि स्त्रियों का कार्य गौण है। मैंने पिछले विवरण में इस विश्वास का खोखलापन भी रखा है कि जैविकीय दृष्टि से कमजोर होने के कारण सामाजिक रूप से भी स्त्रियाँ अधीनस्थ हैं। यह सैद्धांतिक पक्ष ऐसा है जिसे विस्तार से देखना चाहिये। मेरा निष्कर्ष इसी बिन्दु को छूता है।

वैचारिकी और स्त्रियों की सामाजिक प्रस्थिति

अब तक हमने स्त्रियों के कार्य की प्रकृति की पड़ताल की है। यह बात बहुत स्पष्ट रूप से उभर कर आती है कि यद्यपि स्त्रियाँ आर्थिक गतिविधियों में पुरुषों के बराबर उत्पादन करती हैं, लोगों का यह सामाजिक विश्वास है और यह विश्वास बहुत बड़ा है कि स्त्रियाँ केवल गृह क्षेत्र का काम ही करती हैं। लेख के इस भाग में हम इसका परीक्षण करेंगे कि स्त्रियों के बारे में लोगों के सामान्य विचार क्या हैं और इस तरह के विचार क्यों हैं। मैं यहाँ यह स्पष्ट कर देना चाहूँगी कि इन विचारों के भागीदार पुरुष और स्त्री दोनों हैं। पितृसत्तात्मक वैचारिकी की शिकार और इसकी एजेण्ट दोनों स्त्रियाँ ही हैं। इस तरह सास जो बहू को तंग करती है या बहू जो सास के हाथों तंग होती है, एक ही प्रक्रिया की अंग हैं। इस बिन्दू पर जोर देना जरूरी है, यह इसलिए कि पुरुष स्त्री के भेदभाव में लोगों की यह धारणा है कि पुरुष दमन करने वाला है, और स्त्री उसकी शिकार है। बात यह है कि पुरुष के प्रभुत्व वाली इस व्यवस्था में स्त्रियाँ अक्सर शोषण की शिकार होती हैं। यह भी सही है कि स्त्रियाँ स्वयं भी सक्रिय रूप से इस विचारधारा में विश्वास करती हैं और इसे लागू भी करती हैं कि पुरुष उच्च है और स्त्री निम्न। यहाँ मैं रविन्द्र नाथ ठाकुर की प्रसिद्ध लघु कहानी का उल्लेख करूँगी। यह कहानी है: " घरे, बहिरे'' यानी घर और बाहर। बाद में चल कर इस कहानी पर सत्यजीत रे ने एक फिल्म बनायी थी। इस कहानी में पति अपनी पत्नी को शिक्षा देने की कोशिश करता है। इस प्रयास में पत्नी अपने पति को बताती है कि घर में अन्य स्त्रियाँ उसके (पत्नी) पढ़ने के प्रयास की मखौल उड़ाती हैं। वे कहती हैं कि स्त्रियों का मस्तिष्क संकुचित होता है और उसमें कुटिलता भरी होती है। अपनी पत्नी की इस बात पर पति जवाब देता है कि स्त्रियों का मस्तिष्क तो चीनी स्त्रियों की पाँव के तरह छोटे जूतों से बचपन से ही बंधा रहता है। रविन्द्रनाथ ठाकुर की इस कहानी का बहुत साधारण सबक यह है कि जब तक किसी व्यक्ति को विकास के अवसर नहीं दिये जाते, वह आगे नहीं बढ़ सकता।

स्त्रियों की तथाकथित लघुता समाज द्वारा संरचित हैं कुछ इसी तरह जैसे कि स्पष्ट रूप से दिखाई देने वाला रूखापन। मेरा विवाद यह है कि जिस प्रकार अधिकांश समाजों में स्त्रियों के बारे में बंधे-बंधाये विचार होते हैं, वैसे ही भारत में स्त्रियों के बारे में आम लोगों के विचार हैं जो बहुत प्रभावी और बहु प्रसारित हैं।

इन विचारों में कुछ इस तरह हैं:

- भारतीय स्त्रियाँ पवित्र और दिव्य हैं
- स्त्रियाँ अपवित्र और प्रदूषित हैं
- उच्च जाति की स्त्रियों को नियन्त्रित और रोकथाम करने की आवश्यकता है
- उच्च जाति की स्त्रियाँ विशुद्ध और श्रद्धालु होती हैं
- निम्न जाति की स्त्रियाँ यौन संबंधों में उदार होती हैं और नैतिक दृष्टि से अविश्वसनीय
- लिंग की दृष्टि से स्त्रियाँ खतरनाक होती हैं
- स्त्रियाँ कमजोर और आश्रित होती हैं
- स्त्रियाँ स्वार्थी और षड़यंत्रकारी होती हैं
- स्त्रियाँ निस्वार्थ और बलिदान करने वाली होती हैं

यह तालिका और भी लम्बी हो सकती है। लेकिन जिस ओर मैं ध्यान आकर्षित करना चाहती हूँ वह यह है कि स्त्रियों के बारे में हमारे जो भी विचार हैं वे सुदृढ़ और परस्पर विरोधी हैं। ये विचार सुदृढ़ इसलिए हैं कि इनकी जड़ें हमारे इस विश्वास में हैं कि स्त्रियों की प्रकृति जैविकीय है और इसलिए इसे बदला नहीं जा सकता। ये विचार परस्पर विरोधी भी हैं। इस संबंध में यह तर्क भी दिया जाता है कि पारस्परिक विरोध का कारण संरचनात्मक है। इस विरोध में नातेदारी और उत्पादन के भौतिक संबंध मुख्य हैं। वस्तुत: हमारी संरचना ही परस्पर विरोधी विचारों को बनाये रखती है। इन्हें परस्पर विरोधी इसलिए कहा जाता है कि स्त्रयों के यौन संबंधी विचार भ्रामक हैं। एक और हम कहते हैं कि स्त्रियाँ कमजोर हैं और दूसरी ओर ऐसे कथन बहुत हैं जो स्त्रियों को शक्तिशाली, सृजनात्मक और यौनाकर्षण में पराक्रमी हैं। ये विचार भी परस्पर विरोधी हैं। इसका कारण यह है कि भारतीय समाज में सोपानिक व्यवस्था है और यहाँ एकाधिक संस्कृतियाँ हैं। भारत में स्त्रियों को देवी-देवता की तरह आदर्श रूप में प्रस्थापित किया जाता है। और उसमें दिव्य शक्ति का आरोप किया जाता है। दूसरी ओर उन्हें जलाया भी जाता है और उनके साथ मार पीट भी की जाती है। उन्हें बेचा जाता है, मारा जाता है। यह सब होते हुए जब स्त्रियाँ मनुष्य होने के नाते अपने अधिकारों को बुलन्द करती हैं तब इस पर बहुत बड़ा क्षोभ होता है और यह कहा जाता है कि भारत में स्त्रियों की दैवियों की तरह पूजा होती रही है और यह तो पश्चिमी प्रभाव के कारण है कि आज स्त्रियाँ अपने अधिकारों की माँग कर रही हैं। जैसा कि मैंने कहा है स्त्रियों के बारे में हमारे विचार बहुत सुदृढ़ और परस्पर विरोधी हैं अत: इनसे लड़ना बहुत कठिन है।

मैं विश्लेषण के लिये एक ढाँचा देना चाहती हूँ जिसका सरोकार भारतीय समाज की संरचनात्मक व्यवस्था से जुड़ा है और यह बताता है कि किस तरह से इन विचारों को इसमें प्रस्तुत किया जा सकता है। एक ओर मैं नातेदारी और विवाह को

देखूंगी और दूसरी ओर जाति को, मैंने स्त्रियों के उत्पादन संबंधी कार्यों का उल्लेख पहले ही कर दिया है।

पितृस्थानीयता

ग्रामीण भारत के कई भागों में पितृस्थानीय निवास ने स्त्रियों को अपने पिता के घर से अलग कर दिया है और यह प्रार्थक्य पुरुष और स्त्री के भेदभाव का मुख्य स्रोत हैं। इस तरह की प्रार्थक्यता विधवाओं की वंचितता में निर्णायक भूमिका रखती है। सीमित अर्थ में पितृस्थानीयता का संबंध उस प्रचलित मानक से है जो भारत के हिन्दू समुदायों में पाया जाता है। इसके अनुसार विवाह के समय अपने पिता के घर को छोड़कर स्त्री को पति के घर जाना पड़ता है। यदि थोड़े विस्तृत अर्थों में देखें तो विशेष करके उत्तरी भारत के हिन्दू समुदायों में जहाँ परम्परा के अनुसार गाँव के बाहर विवाह किया जाता है, तब स्त्री का विवाह के पश्चात् माता-पिता के परिवार से अलगाव हो जाता है और वह अपने पति के परिवार को "स्थानान्तरित" हो जाती है। यह व्यवस्था इस बात को स्पष्ट करती है कि जब एक विवाहित लड़की अपने माता-पिता के घर लौटने की बात करती है और उसे भय बना रहता है कि वह मार डाली जायेगी, उसे वापस नहीं ले जाया जाता। शहरों में रहने वाले बहुत से भारतीय इस बात से परिचित हैं कि लड़की के आग्रह करने पर भी जब उसे पिता अपने घर नहीं ले जा पाते तब इसका परिणाम हमें लड़की की मौत में देखने को मिलता है।

पितृसत्तात्मक उत्तराधिकार

रस्म-रिवाजों में बड़े अन्तर होते हैं। लेकिन यह निश्चित है कि भारत में अदालती कानून की अपेक्षा प्रथागत कानून अधिक मजबूत है। शहरी मध्यम वर्गों में अधिकांश स्त्रियाँ अपने भाइयों के साथ संबंध में बिगाड़ आने के कारण पैतृक सम्पत्ति पर अपने अधिकार का दावा नहीं करती। आज जो प्रचलित रिवाज हैं उनमें अधिकांश पितृसत्तात्मक हिन्दू समुदायों में स्त्रियों को लड़की होने के नाते परिवार की सम्पति पर बहुत सीमित अधिकार होता है लेकिन अपने पति के मरने की स्थिति में उसे पति के परिवार की पैतृक भूमि में जहाँ पति का अधिकार था, एक भाग अवश्य मिल जाता है।

यह महत्वपूर्ण बात है कि मातृसत्तात्मक और मातृस्थानीय परिवारों में पितृसत्तात्मक और पितृस्थानीय सम्पत्ति के उत्तराधिकार की ओर प्रवृति है। यहाँ तक कि मातृसत्तात्मक समाज जैसे कि खासी जनजाति पितृसत्तात्मक व्यवस्था को अपनाने की एक माँग है। इस माँग का कारण अपने समुदाय की पहचान को बनाये रखना है। समुदाय की पहचान का मुद्दा और इस पहचान को कौन बनाये रखता है, और इसे बनाये रखने वाले कौन से कारक हैं, इन सबका उल्लेख हम इस अध्याय के अन्त में करेंगे।

पवित्रता और सम्मान की वैचारिकी

हिन्दुओं का दुनिया के बारे में जो दृष्टिकोण है, इसमें परिवार, वंश और जाति की पवित्रता और उसके सम्मान की प्रतीक स्त्रियाँ होती हैं। जीवन

के आदर्शवृत में एक हिन्दू स्त्री, कौमार्य अवस्था, विशुद्ध विवाहित स्त्री एक श्रद्धालु माता की अवस्था से गुजरती है। इन सब अवस्थाओं में उसे अपने पिता, भाई, पति आदि का संरक्षण प्राप्त होता है। यदि स्त्री को सही तरीके से सुरक्षा मिले और उसे नियन्त्रित किया जाये तो वह स्वयं तथा अपने पति के परिवार के लिये सम्मान लाती है। यही नहीं वह इस बात की प्रतीक भी बन जाती है कि समाज ने अपनी नैतिक व्यवस्था को बनाये रखने में सफलता पाती है।

विद्वानों ने उच्च जातियों की स्त्रियों की सती-साध्वी प्रतिमा को निम्न जातियों की स्त्रियों की यौन संबंधी ढिलाई के साथ जोड़ा है। इस तरह के विश्वास सम्पत्ति, उत्तराधिकार और वैधता के साथ जुड़े हुये है। यह उच्च जातियों के सम्पन्न परिवारों पर निर्भर है कि वे इस बात की पुष्टि कर लें कि उनके समूहों की स्त्रियों में कोई भी दाग नहीं है और उनकी वैधता को किसी तरह की चुनौती नहीं है। स्त्रियों का सती-साध्वी होना सबसे महत्वपूर्ण है। किसी भी लड़की के चरित्र का मूल्यांकन उसके विशुद्ध होने में है। दूसरी ओर उच्च जातियों के आदमी प्राय: निम्नजातियों की लड़कियों को यौन संबंध रखने का साधन मानते हैं। ऐसी स्त्रियों के सम्मान और नाम को बनाये रखने का उत्तरदायित्व इन स्त्रियों के परिवार तथा वंश के आदमियों पर निर्भर है।

ऊपर हमने स्त्री-पुरुष के भेदभाव पर जाति और श्रम पर आधारित जो तथ्य दिये हैं, उनके निष्कर्ष बड़े रुचिकर हैं। परम्परागत पितृसत्तात्मक रीति-रिवाज विभिन्न जातियों में विभिन्न होते हैं। यदि हम संस्कृतियों को सोपानिक दृष्टि से देखें और उत्पादन व्यवस्था को समझें तो ज्ञात होगा कि निम्न जातियाँ श्रम करती हैं और उच्च जातियाँ किसी प्रकार का परिश्रम न करके विशिष्ट व्यक्तियों का स्थान ग्रहण कर लेती हैं। शारीरिक श्रम नहीं करने वाली ऊँची जातियों की स्त्रियों के यौन संबंधों पर कड़ा नियन्त्रण रखा जाता है और वैधव्य में स्त्रियों को ऊँचा सम्मान दिया जाता है। ऐसा करने वाली स्त्रियों को जाति व्यवस्था में प्रतिष्ठित स्थान मिलता है। इसके विपरीत निम्न जातियों में विधवाओं के विवाह पर कई तरह के रिवाज अपनाये जाते हैं जिन पर ऊँची जातियाँ जोर देती हैं और इसलिए आदर्श रूप में नीची जातियों की स्त्रियों को निम्न समझा जाता है। यह इसी धारणा के कारण है कि सुसंस्कृत जातियाँ विधवा पुनर्विवाह निषेध पर जोर देती हैं।

पहले मैंने कहा है कि किस प्रकार धार्मिक कृत्य और अन्य सांकृतिक गतिविधियाँ अतीत से प्राप्त की गई धरोहर हैं और ये सब समाजशास्त्रीय विश्लेषण से परे हैं। लेकिन स्त्रियों से जुड़ी हुई प्रतीकात्मक गतिविधियों और खास करके हिन्दू स्त्रियों से जुड़ी हुई गतिविधियों का यदि हम अध्ययन करें तब तो हमें और कुछ दिखाई देगा। विभिन्न प्रकार की स्त्रियों के लिए जो धार्मिक मूल पाठ हैं उनका बहुत बड़ा केन्द्रीय ध्यान पत्नी पर होता है। जो भी प्रतीक और धार्मिक मानक हैं, उन सबका सरोकार किसी न किसी तरह से पत्नी से होता है। जब स्त्री को उसके पति के संदर्भ में देखा जाता है, तो वह एक सामाजिक इकाई मानी जाती है और इस अवस्था में वह शुभ समझी जाती है, यानी वह सुमंगली (पवित्र स्त्री) सौभाग्यवती (भाग्यशाली स्त्री) समझी जाती है। ये दोनों पद

तब प्रयोग में लाये जाते हैं जब एक स्त्री का पति जीवित होता है। पति के साथ वह धार्मिक क्रियाओं को करती है और पुत्र या पुत्रों को जन्म देती है, एक और बात है। निम्न जातियों और जनजातियों में वधु मूल्य का प्रचलन था (ध्यान में रखने की बात है कि यहाँ स्त्री की पहचान पुरुष में नहीं मिल जाती है) दामाद अपने ससुर को वधु मूल्य इसलिए देता है कि उसे अपनी लड़की के एवज में उसे श्रम का दाम मिलता था, विवाह होने पर यह उसकी हानि भी थी। हाल में जो अध्ययन हुए हैं, वे बताते हैं कि स्थानान्तरण, शहरीकरण और सामान्य वाणिज्यीकरण के कारण वे लोग जिनमें वधु-मूल्य प्रथा प्रचलित थी, अब दहेज माँगने लगे हैं। पहले मैंने कहा है कि शहरी मध्यम वर्ग कमाती हुई बहु के लिए दहेज माँगते हैं। आज इसलिए हमारे सामने एक असंगत स्थिति है। शहरों में स्त्री घर से बाहर जाती है, काम करती है और फिर भी उसकी परिवार की प्रतिष्ठा खराब नहीं होती। ऐसी घटनाएँ मिलती हैं जहाँ स्त्रियों को बराबर इसलिए भला बुरा कहा जाता है कि वे कॉलेज में लड़कों के साथ बातचीत करती हैं। यह सब इस बात को बताता है कि हमारे आज के समाज में प्रतिष्ठा, पवित्रता, शुद्धता से जुड़े हुए विचार कितने सुदृढ़ हैं। बदनामी का भय स्त्रियों की गतिशीतला को नियन्त्रित और रोकने के लिए पर्याप्त है। इसका कारण यह है कि जब इन मानकों को तोड़ दिया जाता है तो समाज किसी न किसी तरह से दण्ड अवश्य देता है।

आज भी हमें यह पढ़ने को मिलता है कि यदि कोई लड़की निम्न जाति के लड़के के साथ भाग जाती है तो पिता और भाई उसे जान से मार डालते हैं। इस प्रकार की हिंसा को प्रतिष्ठा और रीति-रिवाज के नाम पर समाज वैधता देता है। दिवराला (राजस्थान) में 1980 में सती होने की जो घटना हुई थी उसने इसी प्रतिष्ठा और रीति-रिवाज के मुद्दे को उठाया था। स्त्री शिशु हत्या की प्रथा को अभी भी हम संजोकर रखते हैं। वे समूह जिनका 19वीं शताब्दी में बार-बार उल्लेख किया जाता है, वह उच्च प्रतिष्ठा वाले राजपूतों का है जो उत्तर व पश्चिमी भारत के कई भागों में स्त्री शिशु हत्या के रिवाज को अपनाते थे। जब ब्रिटिश अधिकारियों ने इस प्रथा को बन्द करना चाहा तब कई उच्च पदीय राजपूतों ने इन ब्रिटिश अधिकारियों को कहा कि यह हत्या राजपूत जाति का रिवाज है। रुचिकर बात है कि बंगाल की धर्मसभा ने ब्रिटिश राज के सामने यह वकालत की थी कि सती होना हिन्दुओं की एक प्राचीन प्रथा है। तर्क यह था कि इस तरह के रिवाज को बदलने का अधिकार प्रभावित होनी वाली जाति को है या नहीं। यहाँ महत्वपूर्ण बात यह है कि समुदाय को बनाने वाले व्यक्ति और समूह कौन से हैं, और उन्हें सम्पूर्ण समुदाय के लिये बोलने का अधिकार किसने दिया है। यह एक ऐसा मसला है जिसे भारतीय समाज में उठाया जाता है।

राज्य, समुदाय और स्त्री-पुरुष के भेदभाव से जुड़ी वैचारिकी

जब कभी स्त्रियों के साथ भेदभाव पूर्ण व्यवहार की रीति को बदलने के लिए पहल की जाती है, तब संस्कृति तथा परम्परा के नाम पर चिल्ल-पौं मचती है। आजादी के तुरन्त बाद जब हिन्दू कोड बिल को रखा गया, तब ऐसा ही हुआ। ऐसा ही फिर दूसरी

बार तब हुआ जब सर्वोच्च न्यायालय ने अपने एक फैसले में कहा कि मुस्लिम महिलाओं को भरण पोषण भत्ता प्राप्त करने का अधिकार है। पहली घटना में नेहरू जी को हिन्दू कोड बिल कई बार वापस लेना पड़ा क्योंकि इस बिल का बड़ा भारी विरोध किया गया। दूसरी घटना में यह कहा गया कि राज्य को शरियत में दखल देने का कोई अधिकार नहीं है। जब मुसलमानों ने इस विचार का विरोध किया तो दकियानूस मुसलमानों ने घोषणा की कि मुसलमानों की इस तरह की आवाज बेमतलब है और वे ऐसा करके अच्छे मुसलमान नहीं बनते। कुछ इस तरह की बात सन् 1890 के विवाह के उम्र के बिल रखने के समय भी उठी थी जब यह प्रस्ताव रखा गया था कि हिन्दू लड़कियों की विवाह की उम्र 12 वर्ष कर दी जाय। इस समय कहा गया कि हिन्दू सुधारवादी सच्चे हिन्दू नहीं थे। दिवराला सती की घटना में भी फिर यही बात दोहरायी गई जब यह निन्दा की गई कि शहरों में रहने वाले लोग पश्चिमीकरण से प्रभावित हैं और देश की परम्परा और संस्कृति में उनकी कोई जड़ें नहीं हैं।

ये सब प्रश्न जो मैंने उठाये हैं, वस्तुत: एक प्रश्न में समाहित हैं: समुदाय का प्रवक्ता बनने का हकदार कौन है? दूसरा, संस्कृति और परम्परा को हमेशा स्त्री के साथ पर्यायवाची क्यों बना दिया जाता है? पहले प्रश्न का उत्तर यह है कि पितृसत्तात्मक समाज में जहाँ पुरुष अधिक शक्तिशाली हैं, वे ही प्रवक्ता बन जाते हैं। लेकिन इस तरह का उत्तर मूर्खतापूर्ण है। पुरुषों में सभी एक जैसे नहीं हैं। प्रवक्ता बनने वाले वे ही हैं जिनके विचार प्रभावी रूढ़िवाद के साथ मेल खाते हैं और इन्हीं को वैध प्रवक्ता माना जाता है। 19 वीं या 20 वीं शताब्दी के अन्त में जो भी पुरुष सुधारवादी थे, चाहे वे हिन्दू, मुसलमान या ईसाई हों, उन पर हमेशा आक्रमण होता था। दक्षिण भारत में प्राय: मेरी राय और चर्च के बीच में यही झगड़ा था कि स्त्री का पैतृक सम्पत्ति में क्या अधिकार है? एक बार हम फिर यहाँ देखते हैं कि हमारी विश्वास व्यवस्था शून्य में काम नहीं करती। इस सारी कथा में निहित समूहों की बड़ी भागीदारी होती है। यदि हम स्त्रियों के अधिकारों से जुड़ी हुई विवादास्पद ऐतिहासिक बहसों को देखें तो ज्ञात होगा कि जिस समुदाय के सम्पति, विवाह, विवाह- विच्छेद, उत्तराधिकार आदि के मुद्दे होते हैं, वह समुदाय बहुत अधिक प्रतिरोध करता है।

हमने दो प्रश्न उठाये थे। पहले का उत्तर हमने दे दिया। अब दूसरे का देंगे। यह दूसरा प्रश्न संस्कृति और परम्परा को स्त्रियों का पर्यायवाची मानकर चलना है। इस उत्तर का थोड़ा खुलासा करना पड़ेगा। पहला इस बात पर जोर देना चाहिए कि यह केवल आधुनिक काल में ही है कि लोग (मध्यम वर्ग) संस्कृति के प्रति आत्म चेतन हो गये हैं। होता यह है कि प्रत्येक समाज राज्य और संस्कृति के साथ एक राष्ट्र के रूप में संगठित होता है। इसलिए भारत की भी एक संस्कृति होनी चाहिए। वास्तविकता यह है कि भारत में एक संस्कृति न होकर एकाधिक संस्कृतियाँ हैं। दूसरा, वे देश जो उपनिवेशवादी थे उन्हें पद दलित होने का अनुभव है और इस कारण वे अब अपनी नैतिक और सांस्कृतिक उच्चता को बताते हैं। उपनिवेशवादी परम्परा में यदि पश्चिमी देश ताकतवर थे तो इसका मतलब हुआ वे भौतिक दृष्टि से:

शक्तिशाली थे। भारतवर्ष आध्यात्मिक क्षेत्र में ताकतवर था। इस प्रकार की विचारधारा केवल आंशिक रूप से सही है। प्राचीन और मध्यकालीन भारत न केवल ईश्वरपरक थे लेकिन विज्ञान और तकनीकी, चिकित्सा और वास्तुकला में भी विकसित थे। लेकिन इस प्राचीन विधा में हम भारतीय संस्कृति को उस आँख से देखने लगे जिस आँख से उन्होंने हमें देखा था। तीसरा, उपनिवेशवाद के साथ हमारा जो मुकाबला हुआ इसमें एक नया दृष्टिकोण आया जिसमें हमने सार्वजनिक को निजी से पृथक कर दिया। जिसे समाजशास्त्री विभक्तीकरण के नाम से जानते हैं, उसमें भारतीय मध्यम वर्ग अपने सार्वजनिक जीवन में पश्चिमी पद्धति की वेश-भूषा और व्यवहार को अपनाने लगा और अपने पारिवारिक क्षेत्र में परम्परा और संस्कृति की तरफ मुड़ गया। इसका अर्थ यह निकला कि परिवार और महिलाओं को विदेशी प्रभाव से दूर रखना चाहिये। और आज भी जब स्त्रियाँ सांस्कृतिक मानकों की अवहेलना करती हैं तो हम इसे अच्छा नहीं समझते।

स्त्रियों को राष्ट्रीय चरित्र का प्रतीक समझा जाता है। लेकिन जैसा कि हमने कहा है कि हमारे देश में एकाधिकता, हमारी संस्कृतियाँ एकाधिक हैं और इसी तरह स्त्रियों की जीवन पद्धति और तौर तरीके भी एकाधिक हैं। वास्तव में देखा जाये तो हमारा अतीत भी एकाधिक है। इसी कारण जब विद्यासागर और विरेसालिंगन ने विधवा पुनर्विवाह के लिए शास्त्रों को उद्धत किया तब उनके विरोधियों ने एक पूरी श्रृंखला ऐसे शास्त्रों की प्रस्तुत कर दी जो विधवा पुनर्विवाह का विरोध करते हैं। आज इस तथ्य को स्वीकार करना बहुत महत्वपूर्ण है कि हमारे यहाँ संस्कृति और मानकों की बड़ी विविधता है और इसलिए हमें धर्म या संस्कृति के नाम पर किसी एक संहिता को थोपना नहीं चाहिए। एक खास प्रकार की संहिता को थोपना हमें तालिवान जैसी हुकूमत की भयानकता की याद दिलाता है। इससे और अधिक इन संहिताओं को वे लोग परिभाषित करते हैं। जिनके निहित स्वार्थ होते हैं और जिनके मस्तिष्क में अपने स्वयं के कार्यक्रम होते हैं। इसलिए यह अत्यधिक महत्वपूर्ण है कि हमें संस्कृति और परम्परा की अवधारणाओं की समाजशास्त्रीय पड़ताल करनी चाहिये और उन्हें यह समझकर स्वीकार नहीं करना चाहिए कि उनको किसी दिव्यशक्ति ने बनाया है।

उपसंहार

इस अध्याय में हमने भारतीय समाज की एकाधिकता की विशिष्टता की चर्चा की है। जिस तरह यहाँ कई संस्कृतियाँ हैं कुछ इसी तरह स्त्रियों के भी कई प्रकार हैं। इसलिए इस तरह का सोचना दोषपूर्ण है कि भारत की स्त्रियों की परिभाषा कोई एक तरह के मानक और व्यवहार कर सकते हैं। हमने देखा कि स्त्रियों के कार्य भिन्न प्रकार के हैं, परिवार भी भिन्न तरह के हैं और विचार भी भिन्न तरीके के हैं। हमने यह भी देखा है कि किसी भाँति समाज के महत्वपूर्ण विचार सम्पूर्ण समाज को प्रभावित करते हैं। यह इसी कारण है कि संस्कृतिकरण लाने की इच्छा स्त्रियों पर विपरीत प्रभाव डालती है। इस भाँति भारतीय स्त्रीत्व की

परम्परागत छवि ऊँची जातियों के व्यवहार के प्रतिमान के अनुकूल बनायी जाती है।

यह समझना भी बहुत आवश्यक है कि स्त्रियों को प्रभावित करने वाले विचार उन लोगों के भी हैं जो नीति निर्धारण करते हैं। नीति निर्धारण करने वाले अपनी जाति और वर्ग के विचारों से प्रभावित होते हैं और वे यह नहीं जानते कि उन्हीं के समाज में ऐसे विश्वास और व्यवहार हैं जो स्त्रियों के बारे में भिन्नता रखते हैं। भारत में स्त्रियों पर जो अध्ययन हुए हैं वे बताते हैं कि स्त्रियों के "कार्य" की किस भाँति उपेक्षा होती है। इन अध्ययनों ने यह भी बताया है कि किस प्रकार घर के मुखिया की धारणा जो पुरुष होने के नाते होती है, वह विकास कार्यों को प्रभावित करती है। मेरे स्वयं के क्षेत्रीय तथ्य जो समन्वित विकास कार्यक्रमों के बारे में हैं और जो उत्तर पूर्वी क्षेत्र के हैं, बताते हैं कि स्त्रियों को किस भाँति कर्ज का लाभार्थी नहीं समझा जाता और किस भाँति अब भी नीति निर्धारक इस विचार पर काम करते हैं कि सिलाई की मशीन देना स्त्रियों की सही किस्म की सहायता है। इन निर्माताओं के दिमाग में यह बात नहीं आती कि दूर-दराज क्षेत्रों में रहने वाले आदिवासी को पशु पालन में रुचि होगी। ये इस तरह के विचारों की ताकत और धारणा है कि हम भारत की स्त्रियों के विकास का प्रारूप बनाते हैं। वे इस तथ्य को बताने के लिए कि भारतीय स्त्रियों में आर्थिक और सांस्कृतिक विविधता होती है एक भिन्न प्रकार की नीति को अपनाते हैं। इस तरह जब उपनिवेशवादी राज में विधवा पुनर्विवाह अधिनियम को लागू किया गया तब यह धारणा थी कि सम्पूर्ण भारतीय स्त्रियों में विधवा पुनर्विवाह पर प्रतिबन्ध था। लेकिन जब अधिनियम पारित कर दिया गया तब इसके बाद यह अपने आप स्पष्ट हो गया कि बहुत सी जातियों और समुदायों में इस अधिनियम के लागू होने के पहले ही यहाँ विधवा पुनर्विवाह परम्परा थी। वास्तविकता तो यह कि इस अधिनियम के पहले भी प्रथागत कानून के अनुसार दूसरा विवाह करने पर विधवा को अपने पहले भी वहाँ के बच्चों को रखने और पहले पति की भूमि पर अधिकार था। जब पुनर्विवाह का नया कानून लागू कर दिया गया तब इसका निम्न जाति की स्त्रियों पर विपरीत प्रभाव पड़ा। मैं इन उदाहरणों का उल्लेख इसलिए कर रही हूँ कि भारत में स्त्रियों का जीवन वर्ग और जाति तथा क्षेत्र के अनुसार बदल जाता है और जब कोई यह प्रयास किया जाता है कि देश में स्त्रियों की छवि अखण्डित थी तो इसका नकारात्मक प्रभाव पड़ता है।

इस अध्याय में हमने इस तथ्य का भी उल्लेख किया है कि भारत में स्त्रियों का मुद्दा 19वीं शताब्दी में उभर कर आया था। 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में स्त्रियों के संगठन बने और राष्ट्रीय आन्दोलन में स्त्रियों की भागीदारी देखने को मिली। वे लोग जो ऐसा समझते हैं कि आज पश्चिमी विचारधारा पुरूष और स्त्री के भेदभाव के मुद्दों को प्रभावित करती है, और वह आधुनिक है, गलत है। इस विषय में हमारा इतिहास बहुत पुष्ट है। हमारे यहाँ स्त्रियों की स्थिति के बारे में बहसें हुई हैं और आन्दोलन चले हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि भारतीय स्त्रियों के आन्दोलन पर प्रजातन्त्र, राष्ट्रीयता और समानता का कोई प्रभाव नहीं है। वास्तव में जब पश्चिम का प्रभाव हमारे

यहाँ आया तब वे देश बड़े शक्तिशाली थे। देखा जाए तो भारत ने दूसरी संस्कृतियों के प्रति एक रचनात्मक प्रत्युत्तर दिया है लेकिन ऐसा करने में हम अपनी जड़ों से कभी भी उखड़े नहीं हैं। और हमारी जड़ें अपने आप में एकाधिक थीं। आज भारतीय समाज सहस्त्राब्दि के चौखटे पर असमंजस की अवस्था में खड़ा है। पंचायतों में स्त्रियों का आन्दोलन ताकतवर और महत्वपूर्ण हो गया है। नये कार्यक्रम अपनाये गये। पंचायतों में स्त्रियों को एक तिहाई आरक्षण दिया गया है। स्त्रियों को आज जमीन से जोड़ कर संगठित किया गया है। वे मद्य और अरक पान के खिलाफ संघर्ष कर रही हैं, वे भूमि के अधिकारों और शिक्षा के लिए जूझ रही हैं। लैंगिक प्रताड़ना और संरक्षण कानून पर देश के उच्चतम न्यायालय ने महत्वपूर्ण फैसले दिये हैं। पहले फैसले का मतलब यह है कि वह प्रताड़ना जिसके बारे में परम्परागत रूप से कुछ नहीं कहा गया था, उस पर जब कोई 20 वर्ष पहले किसी लड़की को छेड़ा जाता था और तब वह इसकी दोषी अपने स्वयं को मानती थी लेकिन आज वह मुखर है, स्वयं बोलती है। दूसरे फैसले का अर्थ यह है कि अब समाज स्त्रियों को माता-पिता और अभिभावक मानता है। आज कई स्कूलों में भर्ती के आवेदन पत्र ऐसे हैं जहाँ माता का नाम भी लिखा जाता है।

आज एक स्थिति ऐसी भी है जहाँ स्त्रियों की उन्नति के विरोध में क्षोभ व्यक्त किया जाता है। वादा करने के बाद भी सरकार स्त्रियों को लोकसभा में दो-तिहाई आरक्षण देने में असफल रही है। यहाँ मैं इस टिप्पणी का उल्लेख करूँगी जिसे बार-बार मध्यम वर्गीय संसार में दोहराया जाता है। यह कहा जाता है कि यदि स्त्रियाँ पुरुषों के बराबर होने का दावा करती हैं तब उन्हें पृथक कतार में खड़े होने की क्या आवश्यकता है। इस प्रश्न का उत्तर "बहुत छोटी बात है" कहकर नहीं टाला जा सकता है। सावधानीपूर्वक इसकी जाँच होनी चाहिए। मतलब यह हुआ कि स्त्रियाँ जैविकीय दृष्टि से गैर बराबर हैं अत: उन्हें सामाजिक दृष्टि से भी गैर बराबर होना चाहिए। इस तरह के विचारों पर महिलावादी कहेगें कि जैविकीय स्त्रियाँ पुरुषों से भिन्न हैं। अर्थ हुआ कि शारीरिक और लिंग की दृष्टि से स्त्रियों की बनावट जुदा है। लेकिन आदमी और औरतों के बारे में हमारे जो सामाजिक और सांस्कृतिक विश्वास हैं, वे जैविकीय नहीं हैं। इनका सृजन तो समाज करता है। यह समस्या पुरुष और स्त्री के भेदभाव की है।

पुरुष और स्त्री में लैंगिक अन्तर होता है और इस कारण लिंग से संबंधित व्यवहार में सभी समाजों और इतिहास के कालों में अन्तर दिखाई देता है। उदाहरण के लिए विक्टोरिया के मध्यम युग में संकट के नाम मात्र के इशारे पर जब स्त्रियाँ बेहोश हो जाती थीं तब इसे उचित समझा जाता था लेकिन आज के ब्रिटेन में स्त्रियों से यह अपेक्षा नहीं की जाती। यह बात भी अवश्य है कि विक्टोरिया के काल में भी ब्रिटेन की कामगार स्त्रियों से भी बेहोश होने की अपेक्षा नहीं की जा सकती थी। 18वीं शताब्दी के प्रारम्भ में स्त्रियों में जो "पर्दा" था वह स्त्रियों के विशिष्ट गुणों को बताता था। लेकिन 19वीं शताब्दी के मध्य और अन्त में सुधारकों ने स्त्रियों को आधुनिक शिक्षित महिला बनाने का प्रयास किया लेकिन ऐसा करने में उन्होंने स्त्रियों को हर तरह से पारम्परिक

बनाया। यह नई शिक्षित स्त्री एक आदर्श बन गई। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत में जो फैशन मॉडल था, ब्यूटी क्वीन की धारणा बनी उसने भी स्त्री को राष्ट्र का सांस्कृतिक राजदूत बना दिया। जो मैं कहना चाहती हूँ वह यह है कि पुरुष और स्त्री के बारे में हमारे मानक बदलते रहे हैं। स्वाभाविक है कि ये मानक जैविकीय नहीं हैं, इन्हें समाज बनाता है।

अभी हमने स्त्रियों की कतार के बारे में जो बात कहीं है, उसके पीछे जो धारणा है वह यह है कि इसमें यौन और पुरुष तथा स्त्री के भेदभाव का संघर्ष या तनाव है। इस कथन में दूसरी धारणा यह है कि समानता से हमारा तात्पर्य व्यवहार की समानता से है, अवसर की समानता से नहीं।

इस अध्याय में मैंने वैचारिकी का प्रयोग बड़े ढीले या हल्के-फुल्के अर्थ में किया है। मैंने कहा है कि वैचारिकी विश्वासों का एक पुलिंदा है जो समाज के प्रभुत्वशाली व्यक्तियों ने दिया है और उन्हीं के अनुसार सामाजिक संबंधों की निरन्तरता बनी रहती है समाज के ये सामाजिक संबंध जिनकी हम प्राय: बात करते हैं जाति और वर्ग से जुड़े हैं। लेकिन पुरुष स्त्री के भेदभाव के संबंध समान रूप से वैचारिकी द्वारा प्रसारित किये जाते हैं और इनको वैधता दी जाती है। पुरुष स्त्री के भेदभाव पूर्ण संबंधों में जैविकीय अन्तर को सामाजिक अन्तर का वैध आधार माना जाता है। विभिन्न संस्कृतियों में किये गये हमारे जो अध्ययन हैं, वे बताते हैं कि हमारे बहुत से विचार पुरुष को कमाने वाला तथा स्त्री को माता तथा पत्नी के रूप में प्रस्तुत करते हैं। ये विचार आधुनिक मध्यम वर्ग के हैं। विद्वानों ने बताया है कि किसी भी युग या समाज में ऐसी कोई परिवार व्यवस्था नहीं थी जिसमें आधुनिक केन्द्र परिवार भी सम्मिलित हैं, जहाँ स्त्रियाँ केवल पति और बच्चों की घर की आवश्यकताओं की पूर्ति करती हों। आज के समकालीन भारत में और इसे हमने कृषि में काम करने वाली स्त्रियों में देखा है तथा पश्चिमी देशों में समृद्ध परिवारों में भी खाना बनाने वालों की देखरेख करनी पड़ती थी और धन सम्पत्ति से जुड़ी हुई गतिविधियों को देखना पड़ता था। यह सब होते हुए भी पुरुष और स्त्री के श्रम विभाजन में जो अन्तर दिखाई देता है, वह अपरिवर्तनशील है। यह सही है कि फिर कभी हम निर्माण कार्यो में श्रमिकों को देखेंगे तो पायेंगे कि आदमी खाना बनाते हैं और स्त्रियाँ अपने सिर पर जमी हुई ईंटों को लेकर इमारत पर चढ़ती दिखाई देंगी।

समाज विज्ञानों में टालकट पारसन्स जैसे कई सिद्धांन्तवेत्ता हुए हैं जिन्होंने संरचना का एक मानदण्ड तैयार किया है जिसमें पुरुष तो भूमिका निभाने वाला साधन है और स्त्रियाँ अभिव्यक्ति देने वाली भूमिका को पूरा करती हैं। इस तरह के सिद्धांतों के परिणाम स्वरूप यह विश्वास समाज विज्ञानों में बराबर सुदृढ़ होता गया कि पुरुष स्त्री के भेदभाव की व्यवस्था एक ऐसी सामाजिक प्रघटना है जो अपरिवर्तनशील है। इसी विचारधारा के साथ यह धारणा भी बनी कि पुरुष स्त्री में जो भेदभाव हैं वे हमारे अतीत संस्कृति के अंग हैं। पुरुष-स्त्री के भेदभाव की तरह यह भी समझा जाने लगा कि "संस्कृति और "परम्परा" भी ऐसे हैं जिनमें कोई परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। ये सब निरन्तर और सनातन समझे जाते हैं। रुचिकर बात यह है

कि संस्कृति को पवित्र समझा गया और जब इसे पवित्रता का दर्जा दे दिया गया तब फिर इस पर कोई प्रश्न चिन्ह नहीं उठाया जा सकता। कुछ इसी तरह समाज विज्ञानों में जब यह विश्लेषण किया जाने लगा कि पुरुष स्त्री में किस तरह के भेदभाव हैं तब सवाल उठा कि ये सब तो समाज की पवित्र समझी जाने वाली संस्थाये हैं। मैं समझती हूँ कि मैंने इस अध्याय में भारतीय स्त्रियों के बारे में जो मिथक थे, उनका भंडा फोड़ किया है। वास्तव में भारतीय स्त्रियों को देवियाँ मानकर उन्हें विश्लेषण के दायरे से बाहर रखना, जहाँ एक ओर भारतीय स्त्रियों की सुदृढ़ता और विविधता के साथ अन्याय करना है, वहीं दूसरी ओर भारतीय संस्कृति का भी अनादर करना है।

संदर्भ ग्रन्थ

- ए. एम. शाह, बी. एस. बावस्कर, ई. ए. रामास्वामी (संपादित) **सोशल स्ट्रक्चर एण्ड चेंज,** वोल्यूम 2. वीमैन **इन इन्डियन सोसाइटी** सेज, नई दिल्ली, 1996
- मैत्रेयी चौधरी इन्डियन वीमैन्स: मूवमेंट : रिफोर्म एण्ड रिवाईवल, रेडिएन्ट, दिल्ली, 1993
- बारबरा साउथर्ड, दा वीमैन्स मूवमेन्ट एण्ड कोलोनिएल पोलिटिक्स इन बंगाल 1921-1936, मनोहर न्यू दिल्ली, 1995
- इलीना सेन, ए स्पेस विदिन दा स्ट्रगल : वीमैन्स पार्टिसिपेशन इन पीपल्स मूवमैन्ट, काली, नई दिल्ली, 1990
- जाना मैटसन एवरैट, वीमैन एण्ड सोशल चेंज इन इन्डिया, हैरीटेज, नई दिल्ली, 1978
- पैट्रीशिया ओबेराय, स्टेट, सोशल रिफोर्म एण्ड सैक्सुएलिटि, सेज, नई दिल्ली, 1990
- बी आर नन्दा, (संपादित) इन्डियन वीमैन : फ्राम पर्दा मोर्डनिटि, विकास : नई दिल्ली, 1970
- मार्था एल्टर चैन, (संपादित) विडोस इन इन्डिया : सोशल नैगलेक्ट एण्ड पब्लिक एक्शन, सेज, नई दिल्ली, 1998
- सोशल इश्यूस ओन वीमैन स्टडीज : इकोनोमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली, अक्टूबर-नवम्बर एण्ड अप्रैल-मई।

जनसंचार साधन और सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तन

11

जनसंचार साधनों और सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तनों के संबंध में कई प्रश्न उठने स्वाभाविक हैं। जनसंचार और उसके साधन क्या हैं? ये साधन परिवर्तन के वाहक कैसे हैं? संस्कृति को बनाए रखने अथवा उसमें परिवर्तन और रूपान्तरण के लिये ये साधन वाहक कैसे हो सकते हैं और वैश्वीकरण (Globalization) के चलते संस्कृतियों में कुछ अन्तर्विरोध कैसे पैदा हो गये हैं? ये सब प्रश्न कुछ तो सामान्य अर्थों के साथ जुड़े हुए हैं और कुछ का भारतीय सन्दर्भ में अत्यन्त महत्त्व है। भारतीय संदर्भ में यह प्रश्न इसलिये महत्त्वपूर्ण है कि इन जनसंचार साधनों का भारतीय आवश्यकताओं, सामाजिक समस्याओं और परिवर्तन की आकांक्षाओं में क्या भूमिका हो? जनसंचार के साधनों की भूमिकाओं के संबंध में इन प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करना आवश्यक है।

विज्ञान का हस्तक्षेप

जनसंचार के साधन, पिछली दो शताब्दियों में विज्ञान और तकनालॉजी के विकास की कड़ियों में से एक है। विज्ञान के लिए प्रकृति पर विजय एक दृष्टिकोण था और समाज में मानवीय सुविधाओं का विकास एवं अन्य [illegible] साधनों का आविष्कार और विकास सीधे-सादे विज्ञान का सामाजिक [illegible] रूप था। जनसंचार के साधनों के विकास [illegible] अधिक से अधिक लोगों के साथ सम्पर्क [illegible] और विचारों का प्रवाह [illegible] सी राजनीतिक व्यवस्थाओं [illegible] इन साधनों का सत्ता की विशिष्ट विचारधारा के आधार [illegible] बनाए रखने के लिए प्रयोग किया। सबसे [illegible] छापेखाने आये। पुस्तकों का प्रकाशन प्रारंभ हुआ और बाद में समाचार पत्र प्रकाशित होने प्रारंभ हुए। आज समाचार पत्र जनसंचार का सशक्त माध्यम है छापेखानों की नई तकनीकों में वृद्धि के कारण समाचार पत्रों के रूप रंग बदल गये हैं और साथ ही उनकी समाचार ग्रहण करने, जनपीड़ाओं की प्रस्तुति करने, समाज की समस्याओं पर जनमत तैयार करने और राजनीतिक शक्तियों को चुनौती या समर्थन देने के लिये महत्त्वपूर्ण आधार है। प्रजातंत्र में समाचार पत्र चौथी शक्ति है। ज्ञान के क्षेत्र में विशेषज्ञ पत्रिकाएँ भी इसी क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान देती हैं।

रेडियों आवाज के प्रेषण का माध्यम बना। एक स्थान से बहुत से लोगों को एक साथ संबोधन रेडियों का प्रमुख उद्देश्य था। जनसंचार का यह साधन दशाब्दियों तक महत्त्वपूर्ण रहा। रेडियो सत्ता के प्रचार तथा उसके विरोधी प्रचार का साधन भी बना। रेडियों के साथ आविष्कार हुआ सिनेमा का। सिनेमा मनोरंजन और संदेशों के लिए महत्त्वपूर्ण साधन बना। लोकप्रियता की दृष्टि से सिनेमा आज भी एक महत्त्वपूर्ण साधन माना जाता है। टेलीविजन विज्ञान की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि तथा जनसंचार साधनों के विकास की सबसे नई कड़ी है। टेलीविजन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और क्रांतिकारी साधन स्वीकार किया जाता है। सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तनों की संभावनाएँ टेलीविजन के साथ बढ़ी हैं।

संचार अध्ययन का महत्त्व

समाजशास्त्र के विद्यार्थियों के लिये समाज में संचार व्यवस्था का अध्ययन महत्त्वपूर्ण है। समाज का सारा आधार व्यक्तियों के बीच क्रियाओं और अन्तर्क्रियाओं पर केन्द्रित है। इन क्रियाओं और अन्तर्क्रियाओं के लिये पारस्परिक अभिव्यक्तियाँ आवश्यक हैं। ये अभिव्यक्तियाँ तभी संभव है, जब विचारों का संचरण हो। समजिक क्रियाओं का मूल इस प्रकार संचार ही है। समाज केवल संचार से चलता ही नहीं है अपितु स्वयं संचार में ही निहित है।

जनसंचार आधुनिक जगत में सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तन का महत्त्वपूर्ण आधार है। जितनी तेजी से सूचनाएँ, ज्ञान और मनोरंजन के विविध स्वरूप विश्व के एक भाग से दूसरे भाग को हस्तान्तरित होते हैं, उससे सामाजिक संरचना पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। विश्व में घटित बहुत सी बातों में जनसंचार का प्रसार भी एक है। समाजशास्त्र का विद्यार्थी होने के नाते इन परिवर्तनों और उससे होने वाली नई व्यवस्थाओं के स्वरूप अध्ययन के लिये महत्त्वपूर्ण हैं। उपभोक्तावाद, सांस्कृतिक आघात, पॉप संस्कृति आदि ऐसे कई शब्द, जनसंचार के प्रभावों से जुड़ गये हैं। उपर्युक्त सभी परिवेश समाजशास्त्र के अध्ययनों की परिधि में हैं, जिनका अध्ययन आवश्यक है। स्वयं संचार साधन अपने आप में संगठन हैं और संगठन की संरचना तथा क्रिया स्वयं में एक समाजशास्त्रीय रुचि का प्रश्न है।

जनसंचार का अर्थ

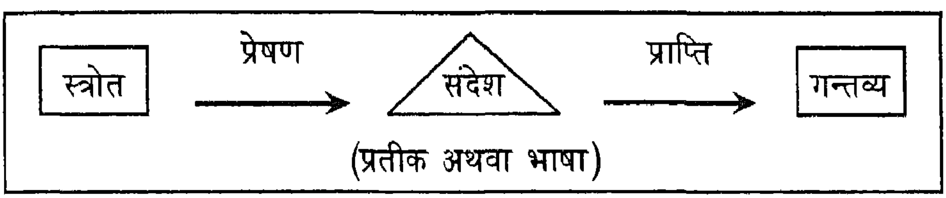
मानव समाज में संचार तथा संचार के स्वरूपों की चर्चा बहुत पहले से होती रही है। समाजशास्त्रियों ने संचार की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए कहा है कि संचार संदेशों के माध्यम से की जाने वाली सामाजिक अन्तःक्रिया है। किसी भी संस्कृति में ये संदेश साझे महत्त्व के आधारों को प्रस्तुत करने के लिये प्रकटतः अथवा प्रतीकात्मक रूप में निर्मित होते हैं। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, मानवीय संचार सामाजिक अस्तित्त्व के लिये भी महत्त्वपूर्ण है। यह वह प्रक्रिया है जो सूचनाओं (सांस्कृतिक विशेषताओं) को एक स्थान (व्यक्ति) से दूसरे स्थान (व्यक्ति) को पहुँचाती है। यह कहा जा सकता है कि संचार किसी भी सामाजिक व्यवस्था के लिये आवश्यक है। समाज में पारस्परिक सहमति/सामाजिक व्यवस्था को स्थापित करने और उसको बनाए रखने के लिये संचार एक कुंजी

है। मानवीय क्रिया-कलापों तथा सांस्कृतिक तत्त्वों को संयोजित करने में संचार प्रक्रियाओं की अपनी ही भूमिका है।

संचार की सारी संरचना तीन इकाइयों से निर्मित होती हैं। स्रोत, संदेश तथा लक्ष्य। स्रोत का अर्थ है- जहाँ से प्रेषित विचार जन्मा है। संदेश का अर्थ है, वह कथ्य या विचार सामग्री जो प्रेषित की गई और गन्तव्य का अर्थ है, वह व्यक्ति या समूह जिसके लिये संदेश प्रेषित किया गया है। इस संरचना को निम्न चित्र से भी समझा जा सकता है:

जनसंचार साधनों की आवश्यकता भी पड़ी। समाज का बदलता चरित्र वृहद समाज का चरित्र था। इस समाज में समाज के सदस्यों के बीच अन्त:क्रिया का विस्तार हुआ और संबंधों की जटिलता भी बढ़ी यह सब कुछ पहले के समाजों से भिन्न था, जिसमें अन्त:क्रिया छोट-छोटे समूहों तक सीमित थीं। यह बहुत से व्यक्तियों का समाज था, जिसमें जटिलताएँ अधिक थीं। स्थानीय संदर्भो के स्थान पर इस समाज में अधिक से अधिक दूरी तक जुड़ने की आकांक्षा थी। इस प्रकार के समाज में अलग तरह की संचार व्यवस्था की आवश्यकता

मानव संचार की संरचना

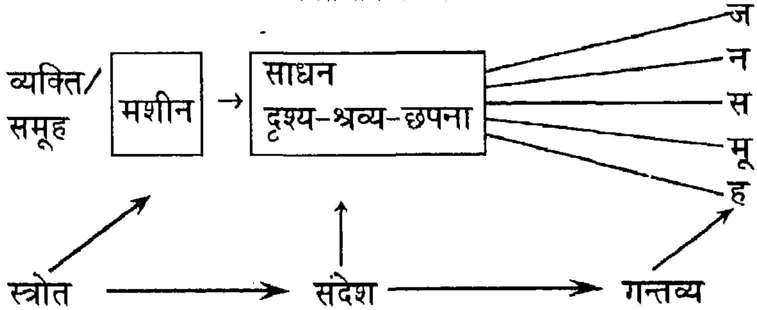


आधुनिक समाज में जनसंचार साधन

जनसंचार साधनों की आवश्यकता वृहद समाज की आवश्यकताओं से जुड़ी हुई है। आधुनिक संदर्भो में समाज के चरित्र के बदलाव के साथ-साथ

थी। व्यक्ति, मशीन, और संगठन नए समाज के प्रकार थे। जनसंचार साधन इस आवश्यकता को पूरा करते थे। जनसंचार की इस रचना को निम्न रूप में देखा जा सकता है:

जनसंचार की रचना



जनसंचार की समाजशास्त्रीय अवधारणा बहुत कुछ मानवीय संचार का एक विकसित स्वरूप ही है। जनसंचार का अर्थ है- किसी अवैयक्तिक साधन से अपेक्षाकृत बहुत से जनों को एक ही समय में किसी संदेश का प्रेषण (लारसेन,1964) ये सभी अवैयक्तिक साधन मशीन से (प्रेस, रेडियो, टेलीविजन, सिनेमा) सीधे ही अपने श्रोताओं, पाठकों और दर्शकों को अपना संदेश देते हैं। ये संदेश नियमित भी होते हैं और तात्कालिक भी। जनसंचार के ये साधन जन समाज में सबसे अधिक विस्तृत विचारों को एक रूपता प्रदान करने के साधन हैं (गर्बनर, 1976) निश्चित ही जनसंचार के ये साधन सामाजिक व्यवस्था के ही हिस्से हैं और सामाजिक व्यवस्था पर प्रभावी भी हैं क्योंकि जनसंचार के ये साधन अपनी संरचना तथा प्रकार्य की दृष्टि से सामाजिक गठजोड़ों के साथ जुड़े हुए हैं, समाज तथा व्यक्ति के व्यवहारों पर प्रभावी बहुत से कारकों में से ये भी एक हैं (मर्टन, 1959)। जनसंचार के ये साधन उन लोगों के मूल्यों और मनोवृत्तियों पर प्रभाव डालते हैं जो इनका प्रयोग करते हैं, पर दूसरी ओर जन के मूल्य व उनकी मनोवृत्तियाँ भी जनसंचार के साधनों पर प्रभाव डालती हैं (सिमैल,1950)।

अधिकांश स्थितियों में जनसंचार की ये प्रक्रियाएँ जन को प्रेषण से अधिक है। जन प्रतिक्रिया की पूर्ति जनमत सर्वेक्षणों, कार्यक्रमों के संबंध में पाठकों, दर्शकों और श्रोताओं द्वारा दी गई अपनी रुचि मत तथा बाजार के संबंध में किये गये शोधों के जरिये हो जाती है। जनसंचार साधनों के लिये आवश्यक है: (1) जो भी संदेश दिया जा रहा है उसके प्रति लोग आकर्षित हों। (2) जिस प्रकार की अपेक्षा की गई है लोगों ने वैसा ही उसे समझ लिया हो, और (3) लोग प्रेषित कार्यक्रम के प्रति अपनी प्रतिक्रिया देने में सक्षम हों। इसी में जनसंचार साधन की सफलता निहित है।

50वीं तथा 60 वीं दशाब्दी में जनसंचार के साधनों को सामाजिक परिवर्तन के लिये महत्त्वपूर्ण वाहक माना जाने लगा था। न केवल यह स्वीकार किया जाने लगा था कि जनसंचार के साधन सरलता से संदेशों को प्रवाहित कर सकते हैं, बल्कि यह भी स्वीकार किया जाने लगा था कि ये साधन लोगों के विचारों और मनोवृत्तियों को काफी हद तक तोड़-मरोड़ सकते हैं। राष्ट्रों के विकास के लिये लोगों को प्रेरित करने की क्षमता इन साधनों में हैं। सामाजिक गठन और व्यक्तियों तथा क्षेत्रों के मानसिक संबंधों को जोड़ने का काम इन साधनों से संबंद्ध है। बाद में जब इन मान्यताओं की समीक्षाएँ की गई तब जनसंचार के इन साधनों को परिवर्तन का मुख्य आधार नहीं, अनेक आधारों में से एक आधार स्वीकार किया गया। उन अवरोधों का भी उल्लेख किया गया जो साधनों के प्रेषण में हस्तक्षेपों के प्रतीक हैं। अच्छे जनसंचार के लिये तकनीकी श्रेष्ठता तथा क्षमता आवश्यक है। कमजोर तकनीक संचार व्यवस्था के संदेश पहुँचाने में असमर्थ होती है। संदेशों को प्राप्त करने वालों में इन साधनों को प्राप्त करने में कितने की क्षमता है, यह भी महत्त्वपूर्ण बिन्दु है। यदि शिक्षा का स्तर ऊँचा नहीं है तो समाचार पत्र समाज के एक सीमित भाग में ही पहुँच पाएगें। टेलीविजन और रेडियो अपने मूल्यों के कारण बहुत से लोगों की पहुँच के बाहर है। सिनेमा घरों

की जन उपलब्धि कितनी है– यह भी महत्त्वपूर्ण है। ये सभी आधार संचार साधनों की सीमितता का प्रदर्शन भी करते हैं। यह भी प्रश्न उठता है कि इन साधनों का साधन के स्वामियों ने कितना विस्तार किया है? संदेशों की भाषा क्या लोगों को ग्राह्म है? समाज की राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था ने इन साधनों पर कैसा और कितना नियंत्रण कर रखा है? ये सभी प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। औद्योगिक युग के आगे चलते इलेक्ट्रानिक साधनों के विकास के कारण ये साधन सामाजिक आर्थिक विकास के लिए महत्त्वपूर्ण हो गये हैं। इसीलिये इन साधनों को 'जनचेतना जागृति उपयोग' भी कह दिया गया है (इयाजेनिस बर्गर 1965)। राजनीतिक नियंत्रण यह फैसला कर देता है कि साधनों पर अभिव्यक्ति कितनी स्वतन्त्र है।

जनसंचार की भूमिका

जनसंचार की भूमिकाओं को स्पष्ट करना सरल नहीं है। अपेक्षित भूमिकाएँ न केवल विवादास्पद हैं साथ ही अलग-अलग समाजों में इन भूमिकाओं की आवश्यकताएँ भी अलग-अलग हो सकती हैं। समाज के अलग-अलग वर्ग भी जनसंचार की भूमिका के संबंध में अलग-अलग तरह से आकांक्षी हो सकते हैं। समाज की सामान्य आवश्यकताओं के आधार पर संयुक्त राष्ट्र शैक्षिक तथा सांस्कृतिक परिषद् ने जनसंचार की सामाजिक भूमिकाओं के संबंध में अपना मन्तव्य निर्धारित किया। परिषद् की अपनी रिपोर्ट के अनुसार जनसंचार की जो भूमिकाएँ संभावित हैं, वे हैं (1) जानकारियों को फैलाने की भूमिका (2) समाजीकरण के वाहक की भूमिका (3) जन को प्रवृत्त करने की भूमिका (4) विचार विमर्श तथा संवाद स्थापित करने की भूमिका (5) शिक्षा प्रदान करने की भूमिका (6) संस्कृति को प्रोत्साहित करने की भूमिका। (7) मनोरंजन की भूमिका (8) विविधताओं को समन्वित करने की भूमिका। जनसंचार की दो अन्य भूमिकाओं की अन्यत्र चर्चा की गई हैं वे हैं : (1) समाज के विघटन के विरूद्ध चौकीदारी का कार्य तथा (2) वाणिज्य, व्यापार और बाजार का पथ प्रदर्शक। ऐसा कहा जाता है कि यद्यपि इन साधनों से संचरण औपचारिक हैं परन्तु अनौपचारिक स्तर पर इन संदेशों की भूमिकाएँ बलशाली हो सकती हैं।

जनसंचार की इन भूमिकाओं के परिणाम दोनों ही हो सकते हैं। एक ओर ये साधन सामाजिक सांस्कृति परिवर्तन के वाहक हैं तो दूसरी ओर धरोहर को संजोये रखने की प्रेरणा, एक ओर संचार साधनों की स्वतन्त्रता का प्रश्न है, दूसरी ओर राजनीतिक व्यवस्था द्वारा एकाधिकार। एक ओर विश्व संस्कृति निर्माण का आह्वान है तो दूसरी ओर स्थानीय संस्कृति पर जोर देने की माँग। एक ओर शास्त्रीय आधारों को बचाने की प्रेरणा है तो दूसरी ओर आधुनिकता को लाने का आह्वान। इसीलिये जनसंचार साधनों की सीमाएँ भी हैं। संचार साधनों के संदेश जन के लिये चयनित हैं। यह चयन व्यक्ति की रूचि और आवश्यकता पर निर्भर है। यह भी संभव है कि तकनीकी खराबी के कारण संदेश जन के पास पहुँचे ही नहीं। यह भी संभव है कि संदेश अपने उस रूप में न पहुँचें जिस रूप में भेजने वाला भेजना चाहता हो।

जनसंचार के एक अन्य सिद्धांत के (द्वि चरणीय प्रवाह) के अनुसार जन संचार साधनों से प्रसारित सामग्री लोगों के पास चरणों में पहुँचती है। साधनों का प्रयोग करने वालों से, साधनों में प्रकाशित सामग्री को उन लोगों तक पहुँचाते हैं, जो इन साधनों का प्रयोग या तो नहीं करते हैं, या कम करते हैं। ऐसे व्यक्ति संचार साधनों के मानवीय वाहक हैं।

जनसंचार साधनों की परिसीमाएँ कुछ भी हों, यह निर्विवाद सत्य है कि वर्तमान समाज के बहुत बड़े हिस्से ने इन साधनों को स्वीकार किया है और समाज ने साधनों के क्रिया कलापों में मन माना हस्तक्षेप भी किया है। इधर इन साधनों ने समाज पर अपना व्यापक प्रभाव भी डाला है। समाज में साधनों को लक्ष्य कर नई गतिविधियाँ प्रारंभ हुई हैं। भौगोलिक-सामाजिक दूरियाँ अब सिकुड़ गई हैं तथा आम मुद्दों को परिभाषित करते समय अब भूगोल तथा समाज की सीमाएँ काम नहीं आती। व्यक्तिगत अन्त:क्रियाओं, मुद्दों और आन्दोलनों में जनसंचार नये मध्यस्थ हो गये हैं जो इनसे संबंधित किसी भी परिस्थिति को तोड़-मरोड़ सकते हैं। नायकों और खलनायकों की पहचान तथा मूल्यांकन इन साधनों से संभव है। परिवारों की सत्ता के आधार भी बदले हैं क्योंकि इन साधनों पर अब परिवार को अधिक रोमान्टिक प्रस्तुत किया जाता है–कठोर अनुशासन वाला नहीं। परिवार की समस्याओं पर ये साधन बेधड़क सलाह देतें हैं। वृहद् उत्पादन के साथ जनसंचार साधनों ने भौतिक मूल्यों में वृद्धि की है और इससे आर्थिक संदर्भों पर अधिक जोर स्थापित हो गया है। वस्तुओं के प्रचार ने उपभोक्ता की न केवल रुचि जागृत की है अपितु पैदा किये गये जीवन स्तर के लिये उन वस्तुओं को खरीदने के लिए उसे बाध्य भी किया है। सांस्कृतिक आदान-प्रदान और भी ज्यादा तेज हुआ हैं, नगरीय संस्कृति एक दूसरे से मिली है। संचार साधनों के इन हस्तक्षेपों ने समाज में व्यापक परिवर्तन किये भी हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि संचार साधनों ने बाजार को अधिक विकसित और विस्तारित किया है। इन साधनों के कारण दुनिया भर के बाजारों में सजातीयता आ गई है।

भारत में जनसंचार साधनों का इतिहास

समाचार पत्र

ऐतिहासिक दृष्टि से भारत में जनसंचार साधनों का विकास औपनिवेशिक काल में प्रारंभ हुआ था। सबसे पहले छापेखानों के आने के साथ समाचार पत्रों का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। ई. 1780 में पहला समाचार पत्र 'बंगाल गजट' प्रारंभ हुआ था। प्रारंभ में जो भी समाचार पत्र निकले उनका उद्देश्य अंग्रेजों की सामाजिक तथा व्यावसायिक आवश्यकताओं की पूर्ति तथा औपनिवेशिक शासन की सुदृढ़ता थी। ईसाई मिशनरियों ने भी धर्म प्रचार के लिये इन छापेखानों का प्रयोग किया। हिन्दू सामाजिक तथा धार्मिक सुधारवादियों ने भी प्रकाशनों के माध्यम से नई विचारधाराओं को प्रसारित करना प्रारंभ किया। भारतीय स्वाधीनता संग्राम में इन समाचार-पत्रों का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। इसी अवधि में समाचार-पत्रों की संख्या भी बढ़ी। समाचार पत्रों की संख्या में वृद्धि तथा उसके बढ़ते प्रभाव ने औपनिवेशिक शासन को चिन्ता में भी डाला। प्रेस को अपने अनुकूल

बनाने के लिये कई कानून भी बनाए गये और लेखन कार्य के लिए बड़े राष्ट्रीय नेताओं पर मुकदमा भी चला। बाल गंगाधर तिलक और महात्मा गांधी इनमें प्रमुख थे। अंग्रेजों के खिलाफ लिखना उस समय एक नायक बनने के समान था। पूंजीपतियों के समाचार पत्रों ने भी औपनिवेशिक शासन तथा स्वाधीनता संग्राम के बीच संतुलन बनाए रखा।

स्वाधीनता के बाद समाचार पत्रों से संबंधित औपनिवेशिक शासन के कानूनों का तो अंत हुआ पर समाचार पत्रों के पंजीकरण की व्यवस्था जारी रहीं। सन् 1975 के आपात काल में समाचार पत्र सेन्सर की परिधि में भी रहे। शिक्षा के विस्तार के बाद समाचार पत्रों का विस्तार भी बढ़ा है। आज भारत की सभी भाषाओं में लगभग बारह हजार से अधिक पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं और पचास लाख से अधिक पाठक हैं। समाचार पत्र अपनी विश्वसनीयता तथा स्पष्ट विचारों के कारण अपने पाठकों पर स्थायी प्रभाव डालने में समर्थ हैं। राजनीतिक विचारधाराओं को बदलने अथवा उनको स्थायित्त्व प्रदान करने में समाचार पत्रों की विशेष भूमिका रही है। देश के इतिहास, सामाजिक तथा सांस्कृतिक व्यवस्थाओं पर गंभीर चिन्तन भी समाचार पत्रों ने प्रस्तुत किये हैं। सीमित अर्थो में ही सही समाचार पत्र विचार के मंच स्थापित कर पाए हैं। समाचार पत्रों की राजनीतिक भूमिका विवादास्पद रही है पर शिक्षित वर्ग में समाचार पत्रों की जड़ें काफी मजबूत हैं।

रेडियो

देश में रेडियों का प्रसारण शौकिया तौर पर प्रारंभ हुआ था। सन् 1923-24 में मुम्बई और चैन्नई में प्रसारण के प्रयोग किये गये थे। बाद में सन् 1927 में मद्रास ट्रांसमिशन क्लब तथा सन् 1932 में बंबई ब्राडकास्टिंग कम्पनी ने बाकायदा प्रसार प्रारंभ किया। सन् 1938 में आल इंडिया रेडियो नाम का एक संगठन बनाया गया। तब से भारत में रेडियो प्रसारण इसी नाम से जाना जाता है। जनसंचार का यह साधन सरकारी नियत्रंण में रहा और भारत सरकार का सूचना तथा प्रसारण मंत्रालय रेडियो प्रसारणों पर नियंत्रण रखता है। वस्तुत: भारत में रेडियो प्रसारण के लिये बाकायदा एक कानून भी है। रेडियो पर यह आरोप लगाया जाता रहा है कि क्योंकि यह साधन सरकारी नियंत्रण में है–यह सरकार का प्रवक्ता रहा है। यह भी आरोप लगाया जाता रहा है कि रेडियो सत्तारूढ़ वर्ग की सेवा अधिक करता है। रेडियो के इतिहास के एक युग में यह प्रश्न उठाया गया था कि रेडियो किस प्रसार की संस्कृति का वाहक हो? इस विवाद के चलते फिल्मी संगीत का प्रसारण बहुत अधिक सीमित कर दिया गया था तथा शास्त्रीय एवं लोक संगीत को प्रधानता दी गई थी। यह माना गया था कि रेडियो का कर्त्तव्य भारत की संस्कृति के मूल स्वरूपों की रक्षा करना है। रेडियो का आज का प्रसारण समाज के विभिन्न वर्गों पर केन्द्रित है। इसीलिये रेडियो संचार साधनों में संदेशों की विविधता का प्रतीक है। ट्रांजिस्टरों

के आने के बाद ग्रामीण क्षेत्रों में रेडियो की पैठ बढ़ी है। कृषि तकनीकों और कृषि ज्ञान के प्रसार में रेडियो की भूमिका स्वीकार की जाती रही है। टेलीविजन के आने से पहले तक रेडियो सांस्कृतिक-साहित्यिक विधाओं का प्रमुख साधन था। यद्यपि रेडियो और टेलीविजन की कोई प्रतियोगिता नहीं है, पर टेलीविजन के आने के बाद रेडियो के श्रोताओं में कुछ कमी अवश्य आई है। फिर भी रेडियो देश के दूर दराज क्षेत्रों में अब भी महत्त्वपूर्ण संचार साधन है। आज देश में सौ से भी अधिक रेडियो केन्द्र हैं, एफ.एम. सेवा है और मनोरंजन के लिए विविध भारती सेवा तथा रात भर चलने वाली राष्ट्रीय सेवा कार्यक्रम है।

सिनेमा

भारत में पहली चलती फिरती तस्वीर 1896 में दिखाई गई थी और 1913 में पहली फिल्म बनी थी। प्रारंभिक सफलताओं के बाद बहुत से निर्माता फिल्म बनाने आगे आए। सरकार ने भी 1918 में सिनेमेटोग्राफी एक्ट बनाया जिसका उद्‌देश्य सिनेमा की विषय वस्तु पर नियंत्रण रखना था। फिल्मों की विषय-वस्तु पर नियंत्रण सेन्सर के द्वारा आज भी प्रचलित है। सिनेमा का प्रारंभिक दौर पौराणिक तथा धार्मिक कथानकों का था। इन फिल्मों ने सिनेमा के दर्शकों को न केवल बढ़ाया बल्कि उनकी धार्मिक आस्थाओं में कथानकों के माध्यम से एक नया आधार देने का प्रयत्न भी किया। बाद में सामाजिक सुधारों पर आधारित कथानकों का दौर चला और इन फिल्मों ने रूढ़िवादी व्यवस्थाओं पर चोट की। इन फिल्मों ने परिवर्तनों को अपनाने की प्रेरणा भी दी। इन फिल्मों ने ऐतिहासिक फन्तासियों को भी प्रस्तुत किया। वर्तमान फिल्में रोमान्टिक कथा वस्तुओं पर अधिक आधारित हैं। भारतीय फिल्मों में यौन प्रदर्शन और हिंसा पर चिन्ता की जाती रही है। ऐसा माना जाता है कि सिनेमा में ऐसा प्रदर्शन समाज की धार्मिक नैतिक मान्यताओं के विरूद्ध है। सिनेमा में जीवन की यथार्थता को प्रस्तुत करने का प्रयास भी किया गया। नई लहर की फिल्मों की एक विचाधारा भी बनी जिसका प्रयास व्यक्ति, परिवार तथा समाज के पहलुओं को गंभीरता से प्रस्तुत करना था। सिनेमा के साथ सिने संस्कृति भी आई। सिने संस्कृति का राजनीति से भी नाता जुड़ा। दक्षिण भारत की राजनीति उन सिने अभिनेताओं पर केन्द्रित हो गई जो सिने दर्शकों के लिये आदर्श नायक थे। सिनेमा के परदे पर ये नायक या तो धार्मिक आख्यान प्रस्तुत करते थे अथवा मानव शोषण के प्रतीकों के प्रति विद्रोह। सिने दर्शकों ने इन्हें यथार्थ का नायक भी मान लिया। बालीवुड की फिल्मों में तड़क-भड़क अधिक थी। यही तड़क-भड़क युवा लोगों का आदर्श भी बन गई। काल्पनिक प्रसंगों को युवा पीढ़ी ने प्रेरक मान लिया। सिनेमा की संस्कृति कुछ इसी प्रकार के आचरण को प्रोत्साहित करती थी। पर सिनेमा समाज में प्रभाव के लिये एक प्रभावशाली साधन के रूप में स्वीकार किया गया।

टेलीविजन

आज सबसे अधिक शक्तिशाली जनसंचार साधन टेलीविजन समझा जाता है। भारत में इसका प्रारंभ ई. 1959 में शिक्षा के प्रसार के लिये किया गया था। योजना यह थी कि इससे स्कूल जाने

वाले बच्चों को शिक्षण का लाभ दिया जाय। आज के टेलीविजन के स्वरूप का प्रारंभ ई. 1965 में दिल्ली में हुआ था। आकाश में उपग्रही व्यवस्था की स्थापना तथा उच्च शक्ति तथा निम्न शक्ति प्रसारण केन्द्रों की स्थापना से टेलीविजन के देखने वालों की संख्या में अपार वृद्धि हुई। केबल टेलीविजन के आने के बाद दूरदर्शन की विकल्पता बढ़ी। विदेशी टेलीविजन प्रसार भी भारतीय दर्शकों को उपलब्ध होने लगे। ये विदेशी टेलीविजन एक ओर ज्ञान देते हैं दूसरी ओर दुनिया भर की जानकारी और मनोरंजन। संयोग से टेलीविजन और सिनेमा के रिश्ते मजबूत ही हुए। सिनेमा के शौकीन पहले सिनेमा हॉल में सिनेमा देखते थे, अब घर में बैठ कर कथा चित्रों को देखते हैं। यह कहा जाने लगा हैं कि टेलीविजन पर बॉलीवुड की गहरी छाप है। यहाँ तक की जो धरावाहिक टेलीविजन पर प्रस्तुत किये जाते हैं वे भी सिनेमा शैली के हैं। टेलीविजन की भूमिका से संबंधित एक रिपोर्ट (पी.सी. जोशी) में कहा गया था कि इस गरीब देश में टेजीविजन का कार्य सामान्यजन तक तकनीक, दस्तकारों को कार्य की नई तकनीकें और किसानों को खेती के नये आदर्शों का ज्ञान तथा बच्चों और प्रौढ़ों को शिक्षा देने का काम करना चाहिये। पर वर्तमान टेलीविजन का स्वरूप ऐसा है नहीं।

भारत में जनसंचार साधनों की स्थापना तथा विकास का चाहे जो इतिहास रहा हो, इसकी सीमाएँ वही हैं, जिनका पहले उल्लेख किया जा चुका है। अशिक्षा के कारण समाचार पत्रों की पहुँच कम है। एक अनुमान के अनुसार प्रति 1000 व्यक्तियों पर समाचार पत्रों की संख्या 31 है जो मलयेशिया जैसे छोटे देश (117) से बहुत कम है। कुल सात औद्योगिक घरानों ने अपने समाचार पत्रों से 70 प्रतिशत पाठकों पर कब्जा कर रखा है। प्रति सौ भारतीयों में से केवल 8 के पास अपना रेडियों है। प्रत्येक एक लाख व्यक्तियों के पीछे 1 पुस्तक प्रकाशित होती है। सौ भारतीयों में से केवल 6 के पास अपना टेलीविजन सेट है। औसत भारतीय प्रति सप्ताह लगभग आठ घंटे टेलीविजन देखता है पर समाचार पत्र पत्रिकाओं को केवल दो घंटे का समय देता है। सिनेमा हॉल में जाकर देखने वाली स्त्रियाँ पन्द्रह प्रतिशत हैं जबकि 50 प्रतिशत स्त्रियाँ घरों में टेलीविजन और रेडियो सुनती देखती हैं। कस्बों और छोटे शहरों में पचास प्रतिशत घर केबल से जुड़े हुए हैं जबकि महानगरों में यह प्रतिशत 40 है। जनसंचार के साधनों के उपभोग में नगरीय तथा ग्रामीण भिन्नता भी है। ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा नगरीय क्षेत्रों में इन साधनों का उपयोग अधिक है। समाचार पत्रों के उपभोक्ता यदि वयस्क अधिक हैं तो टेलीविजन कार्यक्रमों के उपभोक्ता बच्चे अधिक हैं। अन्य विकसित देशों की तुलना में जनसंचार साधनों का प्रसार एक सा नहीं है। सारे देश में कुछ समय पहले तक लगभग तेरह हजार सिनेमा थे जिसमें से लगभग 9835 सिनेमा दक्षिण भारत में हैं। आंध्र प्रदेश के छोटे-छोटे नगरों में उत्तर प्रदेश, राजस्थान और मध्य प्रदेश से अधिक सिनेमा घर हैं। दक्षिण और उत्तर भारत की तुलना में उत्तर भारत का पिछड़ापन जनसंचार साधनों के मामले में भी है। संचार साधनों की इस स्थिति को जनसंचार

साधनों का पिछड़ापन भी कहा जाने लगा है। साधनों का यह वितरण भारत के साभाजिक, आर्थिक वितरण की गैर बराबरी के साथ ही जुड़ा हुआ है। साधनों का असमान वितरण तथा 99 अथवा 100 प्रतिशत को अपने प्रभाव क्षेत्र में लेने के बावजूद ग्रामीण क्षेत्रों में साधनों का विस्तार बहुत अधिक नहीं है। बड़े गाँव अथवा नगरीकरण की प्रक्रिया से प्रभावित गाँवों में और दूरदराज क्षेत्रों में भी अंतर है। भारतीय संदर्भ में जनसंचार साधनों की ये सीमाएँ भारत के सामाजिक-आर्थिक विषमता के विभिन्नता के परिणाम भी हैं।

भारत में जनसंचार साधनों की क्या भूमिका हो इस बारे में विवाद अभी भी है। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा घोषित उद्देश्यों के बावजूद भारतीय समाज में जनसंचार साधनों की भूमिकाओं के संबंध में कोई निश्चितता नहीं आयी है। भारतीय स्वाधीनता से पहले इन साधनों पर औपनिवेशिक शासन का कड़ा नियंत्रण था। पर स्वतंत्र भारत में इस बात पर जोर दिया गया कि इसकी भूमिका भारतीय आवश्यकताओं के हिसाब से ही होनी चाहिए। यह सुझाव दिया गया है कि जनजागृति के लिए, एकता स्थापित करने के लिए और स्वाधीनता संग्राम में औपनिवेशिक शासन के विरूद्ध कार्य करने से आधुनिकीकारण तथा पारम्परिकता दोनों से उत्पन्न हुई है (सिंह, 1973)। स्वाधीनता के बाद इन संचार साधनों को अपने लिए नयी भूमिकाएँ स्थापित करनी थी जैसे सूचना तथा जनशिक्षण का काम, प्रजातांत्रिक समाज के मूल्यों को बनाये रखना तथा राष्ट्रीय लक्ष्य समाजवाद तथा धर्मनिरपेक्षता के लक्ष्यों को प्राप्त करने में सहायक है। पिछले कुछ वर्षों से राष्ट्रीय विकास ग्रामीणों का पिछड़ापन, अशिक्षा, गरीबी तथा आर्थिक विकास की संभावनाओं को विकसित करने का काम भी भूमिकाओं के रूप में स्वीकार किया गया है (साराभाई, 1969)। इन भूमिकाओं में एक अपेक्षा संस्कृति के आधारों को बनाये रखना तथा इन साधनों के माध्यम से नवीन संस्कृति का निर्माण करना भी था।

भारत में जनसंचार साधनों पर सरकार का अंकुश है। यद्यपि समाचार पत्र स्वतन्त्र कहे जा सकते हैं पर प्रकाशन संबंधी कानून उन पर लागू होता है। रेडियो और टेलीविजन सम्पूर्णतः सरकारी नियंत्रण में हैं। सिनेमा पर सेन्सर कानून है, जिसके कारण जब तक किसी फिल्म को दिखाने के लिये प्रमाण-पत्र नहीं मिलता, वह फिल्म प्रदर्शित नहीं की जा सकती।

जनसंचार साधनों की भूमिका देश के प्रति उनके कर्त्तव्यों और संचार साधनों के संगठन पर अनेक समितियाँ नियुक्त हुई हैं और उन्होंने अपने प्रतिवेदन सरकार को प्रस्तुत किये हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण समितियाँ इलेक्ट्रोनिक संचार साधनों से संबंधित हैं। स्वतंत्रता से पहले से ही संचार साधनों पर राज्य के नियंत्रण और उनकी भूमिकाओं की चर्चा होती रही है। औपनिवेशिक काल में ब्रिटिश शासकों के अपने निहित स्वार्थ थे। उन्होंने प्रेस पर नियंत्रण के लिये कठोर कानून बनाए, सिनेमा के लिये सेन्सर बोर्ड का कानून बनाया तथा रेडियो को सम्पूर्णतः सरकारी नियंत्रण में रखा।

स्वतंत्रता के बाद समाचार पत्र प्रकाशन संबंधी कानून कुछ शिथिल हुए, पर कुछ बातें जैसे पीत पत्रकारिता तथा सरकार उलटने जैसे मुद्दों पर कानूनी नियंत्रण अभी भी जारी है। एक

स्वतंत्र प्रेस परिषद् है जो प्रकाशन संबंधी शिकायतों पर विचार करती है और निर्णय लेती है। सिनेमा के वितरण के पूर्व पुराने कानूनों के अन्तर्गत सेन्सर सर्टिफिकेट लेना आवश्यक है। सेन्सर बोर्ड सरकार द्वारा मनोनीत बोर्ड है। फिल्मों को विभिन्न श्रेणियाँ देना तथा उनके दिखाने की अनुमति देना, इसी बोर्ड का काम है।

रेडियो और टेलीविजन पर सरकारी नियंत्रण का विरोध होता रहा है। भारत में यह माँग की जाती रही है कि जनसंचार के इन साधनों को स्वायत्तता दे देनी चाहिए। 1977 में बर्गीज समिति ने अपनी रिपोर्ट में 'प्रसार भारती' नामक प्रसारण के लिये स्वायत्त संस्था स्थापित करने का सुझाव दिया था। 1990 में प्रसार भारती (ब्राडकास्टिंग कॉरपोरेशन ऑफ इंडिया) एक्ट संसद ने पारित किया था। इस कानून के अन्तर्गत विशेषज्ञों की एक समिति बनाने का प्रस्ताव था, जो इन साधनों से प्रसारित होने वाले कार्यक्रमों की गुणात्मकता की परख करती है और दिशा निर्देश देती। 1998 में इस कानून में सुधार किया गया। प्रसार भारती कानून अभी पूरी तरह से लागू नहीं हुआ है। परन्तु टेलीविजन और रेडियों प्रसारण के लिये एक स्वायत्त समिति ने कार्य करना अवश्य प्रारंभ किया है। टेलीविजन पर कार्यक्रमों की गुणात्मकता, उपयोगिता एवं भूमिका पर जोशी समिति ने भी कुछ सुझाव दिये थे। जोशी ने संचार साधनों को विकासोन्मुख कार्यक्रमों के साथ जोड़े जाने की आवश्यकता पर बल दिया और टेलीविजन का उपयोग दस्तकारों तथा अन्य तकनीकी आवश्यकताओं की पूर्ति पर अधिक जोर दिया गया है।

भारत में सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या पिछले पचास वर्षों में उभरी कई परिस्थितियों से संबद्ध है। जो भी परिस्थितियाँ उभरी हैं उन्होंने भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों में परिवर्तन किया है, लचीलापन पैदा किया है और अन्तर्विरोध स्थापित किये हैं। भारतीय समाज की पुनर्रचना का आधार भी इन परिस्थितियों ने स्थापित किया है। यह कहना सही नहीं होगा कि किसी एक परिस्थिति ने ही सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तनों को स्थापित किया हो। प्रजातांत्रिक व्यवस्था, विकास के लिये विकेन्द्रीकरण, नगरीकरण, आर्थिक नीतियाँ, सुधार आन्दोलन, पिछड़े लोगों के सशक्तीकरण आदि सभी ने कहीं न कहीं समाज और संस्कृति के बदलने में अपना योगदान दिया है। जनसंचार के साधन इसीलिये इन सब परिस्थितियों में से एक परिस्थिति है। अपने तरीके से, अपनी ही तरह अन्य परिस्थितियों के रहते जनसंचार साधनों ने परिवर्तनों, रूपान्तरणों, लचीलेपन और अन्तर्विरोधों को प्रस्तुत करने में मदद दी है।

संचार साधनों और स्वतंत्रता के बाद सामाजिक परिवर्तनों के संदर्भ में बहुत कुछ कहा गया है। एक सर्वेक्षण के अनुसार भारतीय मानसिकता काफी कुछ सिनेमा और टेलीविजन के साथ जुड़ गयी है। सिनेमा के इस प्रभाव को इस मानसिकता द्वारा बहुत गंभीरता से देखा जाना है। भारतीय मानसिकता उसे स्वीकार भी करती है। वैसे भी सिनेमा और टेलीविजन विश्व भर में सामाजिक रूपान्तरण के लिए महत्त्वपूर्ण साधन स्वीकार किये गये हैं। विज्ञापनों ने लाखों भारतीयों की स्वयं की छवि को रूपान्तरित किया

है। यद्यपि यह विवादास्पद है कि यह कितना प्रभावशाली है पर फिर भी यह कहा जाता है कि इसने विकृतियाँ ही पैदा की हैं। मूल्यों की विसंगतियाँ उत्पन्न हुई हैं, और अन्तर्विरोध बढ़े हैं और वर्तमान में निरर्थकता के कुछ तत्त्व भी जागृत हुए हैं। गरीब देश में उन इच्छाओं का जागरण हो गया है जिनकी पूर्ति बड़ी मुश्किल है। समाचार पत्रों ने नगरीय मध्यम वर्ग से अधिक अपना प्रभाव नहीं बढ़ाया है और टेलीविजन के सामने रेडियो धीरे-धीरे अपना स्थान बदल रहा है। दूरदर्शन सिनेमा की ही एक व्यवस्था है और यह भारतीय समाज को उसी प्रकार से परिवर्तन करने का प्रयत्न कर रहा है जैसे कि सिनेमा से किया करता था। जनसंचार साधनों द्वारा परिवर्तन की भूमिका के लिये यह प्रश्न अब उठने लगे हैं कि हमें समाज के किस वर्ग को बदलना है और कैसे बदलना है? सामाजिक परिवर्तन के नियोजन में जनसंचार साधनों की भागीदारी अभी निश्चित नहीं है।

नियमित कार्यक्रमों के माध्यम से एक सुनिश्चित मूल्य व्यवस्था तथा एक ऐसी जीवनशैली का विकास हुआ है जो अप्रत्यक्ष रूप में इस जीवन शैली के अनुरूप कतिपय उत्पादनों की माँग करती है तथा प्रत्यक्ष रूप में इसी प्रकार के उत्पादनों के ब्रांडों का उपयोग भी प्रस्तुत करती है। ऐसा भी कहा जाता है कि इन जनसंचार साधनों का उद्देश्य भेदभाव को हटाकर समन्वय स्थापित करना है लेकिन जो कुछ भी प्रेषित होता है वह प्राय: राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य नहीं है बल्कि या तो व्यापारिक या राजनीति का परिप्रेक्ष्य है (कार्निक)। भारत में जनसंचार की नीति केन्द्र द्वारा निर्मित की जाती है और इन सारे प्रसारणों में जो लोग उच्च पदों पर बैठे हुए हैं वे लोग अधिक प्रभावशाली हैं (गालटुंग)। जनसंचार साधनों विशेष रूप से टेलीविजन ने सांस्कृतिक मूल्यों में परिवर्तन किया है तथा साधनों का उपयोग करने वालों ने स्वयं की जीवन शैली के प्रति नई चेतना उत्पन्न की है।

जनसंचार साधनों और सांस्कृतिक व्यवस्थाओं के संदर्भ धीरे-धीरे अधिक महत्त्वपूर्ण होने लगे हैं। सामाजिक यथार्थता को जानने के लिए संस्कृति, अर्थव्यवस्था और राजनीति तीन आवश्यक पक्ष हैं। 1980 से विचारधारा तथा उत्तर आधुनिकता वैज्ञानिक विश्लेषण के नये सिद्धांत हैं। संस्कृति इस पद्धति के परीक्षण की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है (मुकर्जी, 1998)। जनसंचार साधनों के सांस्कृतिक विश्लेषण में वर्तमान में कई प्रश्न उठाये जाने लगे हैं। इन विश्लेषणों में यह जानने का प्रयत्न किया गया है कि भारतीय संस्कृति को किस प्रकार रूपान्तरित किया है। निश्चित ही भारत जैसे परिवर्तनशील समाज में यह अपेक्षा है कि स्वाधीनता से पूर्व की सांस्कृतिक बाह्य सरंचना भारतीय विकास, आर्थिक वृद्धि तथा सामाजिक रूपान्तरण के अनुरूप हो। इसके लिये वर्तमान पीढ़ी को उन दृष्टियों तथा प्रतीकों को बदलना होगा जो पहले से मौजूद थे और जिससे भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था को वर्तमान आवश्यकताओं के अनुसार रूपान्तरित किया जा सके। इसका अर्थ यह भी है कि नयी संस्कृति के निर्माण से सामाजिक-आर्थिक विकास की संभावनाओं को भी पूरा होना चाहिये। यदि जनसंचार साधनों ने उचित नीतियों का पालन नहीं किया तो समाज में अन्तर्विरोध बढ़ेंगें।

विकास की इन प्रक्रियाओं ने देश में बहुत सी पराकाष्ठाओं और अन्तर्विरोधों को जन्म दिया है। तकनीकी प्रगति और सामाजिक आवश्यकता अथवा सामाजिक वासनाएँ कुछ सीमाओं तक एक-दूसरे के साथ जुड़ी हुई हैं। सिद्धांतों तथा व्यावहारिक स्वरूपों में भी अन्तर है। जाति, वर्ग, स्त्रियों की प्रस्थिति, धर्म, पर्यावरण आदि सभी महत्त्वपूर्ण मुद्दों में अन्तर्विरोध देखे जा सकते हैं। तकनीकी संभावनाओं और समाज में उसकी व्यावहारिकता के बीच एक बड़ा अन्तर्विरोध संस्कृति तथा जनसंचार साधनों की अन्त:क्रिया में देखा जा सकता है। जहाँ एक ओर संचार के ये साधन अथवा संचार तकनीक राष्ट्रीय दृष्टि से समन्वयात्मक कहे जा सकते हैं वहीं दूसरी ओर इन साधनों की भूमिका विभेदकारी, मुक्तिदायक तथा पराधीनता पैदा करने की भी है। राष्ट्रीय लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए जनसंचार साधनों के नियोजन की चर्चा होती है लेकिन विकास के कार्यों के लिए जनसंचार साधनों का व्यावहारिक प्रयोग विवादास्पद है। यह स्वीकार किया गया है कि संस्कृति विकास प्रक्रियाओं के लिए बहुत अधिक सहायक हो सकते है (जोशी 1986)। संस्कृति के इन संबंधों की व्याख्या ने अन्तर्विरोधों के प्रश्न को और भी तीखा कर दिया है। जनसंचार साधनों के विस्तार के साथ संस्कृतियों के जो पारस्परिक अन्तर्विरोध स्थापित हो गये हैं, उन्हें निम्न रूपों में देखा जा सकता है:

1. राष्ट्रीय संस्कृति-पाश्चात्यीकरण अथवा सार्वभौमिक संस्कृति का अंतर्विरोध।
2. राष्ट्रीय संस्कृति तथा क्षेत्रीय संस्कृति अथवा राष्ट्रीय नेतृत्व और क्षेत्रीय पहचान का अन्तर्विरोध
3. अभिजन की संस्कृति तथा जनसंस्कृति अथवा कुचले हुए सामाजिक संस्तरण के हिस्से की संस्कृति का अन्तर्विरोध।
4. सिविल समाज की संस्कृति और आधुनिक राष्ट्रीय संस्कृति का अन्तर्विरोध। (जोशी, 1982)

इन अन्तर्विरोधों का स्वतन्त्र भारत में सांस्कृतिक विकास पर प्रभाव पड़ा है। संचार साधनों और विशेष रूप से जन कलाकारों के बीच व्यापारिक मध्यस्थों की भूमिका बढ़ी है। कला अब उपयोग भी है, व्यवसाय भी है और साधना भी। कला प्रदर्शन कैसा हो इसमें कलाकारों का हस्तक्षेप कम, नौकरशाहों का हस्तक्षेप अधिक हो गया है। कला के व्यापारीकरण में जनसंचार के ये साधन बिचौलिये का काम कर रहे हैं।

जनसंचार साधनों को परायी संस्कृति के प्रचारित करने से संबंधित प्रश्न भी उठाये जाते रहे हैं। कुछ लोगों ने इसे तृतीय विश्व पर सांस्कृतिक हमले की संज्ञा भी दी है। इस विचार का मानना है कि साधनों पर संस्कृति का प्रसार इस प्रकार से होता है कि लोग अपने सामाजिक तथा सामुदायिक हितों को भी अपनी निगाहों में उचित नहीं समझते। विकसित देशों की अपेक्षा तृतीय विश्व के ये देश जिसमें भारत भी शामिल है, ये प्रसारण स्वयं के समाज का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। सामान्यत: यह हस्तक्षेप राजनीतिक अधिक है जो आन्तरिक आर्थिक तथा सामाजिक एकता पर व्यापक प्रभाव डालता है। यह सांस्कृतिक तथा बौद्धिक प्रचार राष्ट्रीय संस्कृति के कई आधारों को चुनौती देता है (अशन्ते, 87)। कुछ लोग यह भी मानते हैं कि यह सांस्कृतिक आक्रमण कुछ व्यक्तियों

के पोषण का तरीका है जिसमें सामाजिक संदर्भ कमजोर हो जाते हैं तथा संस्कृतियाँ अपनी मौलिकता के संदर्भ खोना प्रारंभ कर देती हैं। वस्तुत: ये जनसंचार के साधन पाश्चात्य देशों के लिए संस्कृति संदर्भ में सम्पत्ति भी है और शक्ति भी (कार, 88)।

जनसंचार के साधनों के साथ एक और प्रश्न पॉप संस्कृति (लोकप्रिय संस्कृति) के उद्भव का भी है। अवधारणात्मक दृष्टि से संस्कृति के उपादानों में 'पॉप संस्कृति' का स्थान नहीं है। यह उच्च तथा शास्त्रीय संस्कृति का विरोधाभास भी है। 'पॉप संस्कृति' का एक सामान्य अर्थ यही है - जो लोगों द्वारा पसंद की जाय और जिसे लोग इच्छापूर्वक ग्राह्य करें। इस दृष्टि से अनेक पौराणिक आख्यान टेलीविजन पर प्रस्तुत किये गये हैं। लोक संगीत का पाश्चात्य संगीत के साथ मिश्रण, एक नई संगीत विधा को उत्पन्न कर गया है। अनेकों सीरियल - जो सामाजिक समस्याओं को छूते हैं - सहानुभूति की भावनाओं से देखे जाते हैं। यह आरोप लगाया जाता है कि संस्कृति के इस रूप के प्रस्तुतिकरण ने 'पॉप संस्कृति' उत्पन्न की है जो शास्त्रीय तथा पारंपरिक संस्कृति की विधाओं से भिन्न है। समाज में अलगाव को पुख्ता करने का काम भी इस विधा ने किया है। पॉप संस्कृति का निर्माण एक प्रकार का मानसिक शोषण है जो व्यापारिक अधिक है। पॉप संस्कृति यदि एक समस्या है तो समाज की थाती भी है। बौद्धिक क्षमता से परे यह एक विकल्प है, जहाँ थोड़ी समझ पर भी व्यक्ति लोकप्रिय कार्यक्रमों का आनन्द ले सकता है।

वैश्वीकरण (Globalization) के संदर्भ में जनसंचार के साधन तथा संस्कृति के संदर्भों की चर्चा की गई है। वैश्वीकरण की यह प्रक्रिया वृहद् स्तर की प्रक्रिया है। वैश्वीकरण के दो अर्थ हैं - विश्व का संकुचितिकरण तथा सम्पूर्ण विश्व की चैतन्यता का प्रसार (राबर्टसन, 1995)। वैश्वीकरण का अर्थ कई पक्षों के साथ जुड़ा हुआ है जैसे आर्थिक उत्पादन और विनिमय का वैश्वीकरण, विश्वस्तर पर सामाजिक संस्तरण का विभ्रम तथा विश्व संस्कृति तथा उसके लिए संचार साधनों का प्रयोग। नि:शस्त्रीकरण, राजनैतिक, विश्व पर्यावरण, विश्व पर्यटन आदि सभी कुछ वैश्वीकरण की प्रक्रिया के साथ जुड़ गये हैं। वैश्वीकरण के दो महत्त्वपूर्ण परिणाम भी हैं पहला : इस प्रक्रिया में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया जो पहले की अपेक्षा अधिक तीव्रता से आती है और दूसरी विश्व के अलग-अलग क्षेत्रों में तरह-तरह के आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओं को समाप्त कर उनको पाश्चात्यीकरण का एक ही रूप बनाने का प्रयत्न किया गया है। दूसरे अर्थों में वैश्वीकरण ने गैर पाश्चात्य देशों और पाश्चात्यिक देशों के बीच अन्त:क्रिया को एक तरफा बना दिया है। कहा जा सकता है कि भारत में इस दृष्टि से सांस्कृतिक मूल्यों का रूपान्तरण काफी तेजी से हुआ है। अभी हाल ही में सम्पन्न चार महानगरों में युवकों की अभिरुचियों के सर्वेक्षण से यह ज्ञात होता है कि उनके सांस्कृतिक संदर्भ विश्व स्तर पर प्रचलित संदर्भों के अनुरूप ही हैं। कुछ अर्थों में वे वैश्वीकरण से जुड़ गये हैं। उनकी पसंद विश्व बाजार की पसंद है और उनके संदर्भ भी विश्व प्रचलित सांस्कृतिक तत्त्वों के साथ जुड़े हुए हैं। विशेष रूप से महानगरों के धनाढ्य तथा मध्यम वर्गों में पाश्चात्य संस्कृति के साथ जुड़ने की ललक बढ़ी है। जनसंचार के

साधनों ने इस वैश्वीकरण की प्रक्रिया में मानव जीवन के उन विशिष्ट आधारों को उभारा है जिनकी विविधता सभी जानते हैं। विविधताओं के सामान्यीकरण से विभिन्न संस्कृतियों में नये रूपान्तरण प्रस्तुत हुए हैं (वियर, 1998)

पिछले कई दशकों में सामाजिक आर्थिक विकास के साथ-साथ भारत में आधुनिक मध्यम वर्ग का विकास हुआ है। लगभग ढाई करोड़ जनसंख्या का यह वर्ग नव व्यवसायों तथा नव उद्यमियों से मिल कर बना है। यही मध्यम वर्ग इस देश का सबसे बड़ा उपभोक्ता है। एक तरह से यही मध्यम वर्ग जनसंचार साधनों का भी सबसे बड़ा उपभोक्ता समूह भी है। सभी प्रकार की सामग्री का बाजार मध्यम वर्ग के लिये खुला हुआ है और संस्कृति के थोक उत्पादन में इनकी रुचि भी है। संचार साधनों में इस दृष्टि से दुहरा कार्य किया है। इन साधनों ने मध्यम वर्ग की खास रुचि पैदा हुई है। यह धार्मिक आस्था के कार्यक्रमों द्वारा उन्हें रूढ़ियों में भी रखता है और आधुनिक पाश्चात्य जगत की फिल्मों तथा संगीत से उन्हें आधुनिक बनाने का प्रयत्न भी करता है। जनसंचार साधनों के लिये थोक सामग्री उत्पादन में इस मध्यम वर्ग का भी हिस्सा है। संचार साधनों को तैयार करने वाला एक ऐसा वर्ग तैयार हो गया है, जिसकी निगाह बाजार पर अधिक है। एक ऐसी संस्कृति का निर्माण करने में जो बाजार की माँग के अनुकूल हो के तैयार करने में इस वर्ग की प्रमुख भूमिका है। इन लोगों के लिये संस्कृति एक पदार्थ है जिसका मोल भाव बाजार की अन्य वस्तुओं की तरह होना चाहिए। मध्यम वर्ग की जीवन शैली में साधनों का प्रवेश इतना गहरा हो गया है कि बहुत से सामाजिक संस्कारों के रूप सिनेमा अथवा टेलीविजन में दिखाये गये कार्यक्रमों के आधार पर होने लगे हैं। इस वर्ग के लिए इस शैली के संदर्भ स्थापित सामाजिक सांस्कृतिक शैली नहीं - अपितु वैभव प्रदर्शित शैली है।

जनसंचार साधनों ने लोक संस्कृति के लिये भी विशद् प्रश्न खड़े कर दिये हैं। लोक संस्कृति के विकास के अपने स्रोत हैं और उसके अपने आयाम। भारत की लोक संस्कृति अत्यन्त सशक्त भी है। लोक नृत्य, लोक गीत, लोक कथा, लोक नाट्य तथा लोक गायन, सभी कुछ मौलिक रचनाओं के निर्माण के लिये स्वतन्त्र हैं। पर अब परिस्थिति बदली है। जनसंचार साधनों का इनके लिये संदर्भ बन जाने के कारण इनके मूल स्वरूपों का रूपान्तरण होने लगा है। इस रूपान्तरण से स्वयं लोक संस्कृति रचनाकारों की अपनी मौलिक रचना की क्षमता प्रभावित हुई है। लोक रचनाओं के साथ जन की प्रत्यक्ष भागीदारी अब साधनों के माध्यम से भागीदारी में बदल गई है। इन मौलिक स्वरूपों को सुरक्षित बनाये रखने के प्रयास के अभाव में यह रूपान्तरण लोक संस्कृति को एक अजीब परिस्थिति में रख रहा है। यह प्रश्न उठने लगा है कि क्या अब लोक संस्कृति भी साधनों द्वारा निर्मित संस्कृति में विलीन हो जायेगी? इस संबंध में विचारों की विभिन्नता भी है। इन साधनों पर यदि लोक संस्कृति को गाँव की संस्कृति तथा सभ्य समाज से कटी हुई संस्कृति के रूप में प्रदर्शित किया जाता है तो फिर लोक संस्कृति के प्रतिमान बदल जाएँगे। लोक संस्कृति के प्रति सामाजिक कौतुहल का निर्माण करना इन संस्कृतियों में अलगाव पैदा कर देगा तथा लोग अपनी ही संस्कृति के प्रति अजनबी हो जायेंगे।

भारतीय राजनीति की रूढ़िवादी परम्परा के समर्थकों और वामपंथी विचारधाराओं के समर्थकों ने भी दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं के आधार के प्रसार प्रचार के लिये संचार साधनों का प्रयोग किया है। संचार साधनों की नीति के संबंध में उनके विचार भी अलग-अलग हैं। खास तौर से मुद्रित साधन इन धाराओं के विशिष्ट प्रचारक रहे हैं। रूढ़िवादी विचारधारा ने इन साधनों को अपनी ही तरह से अपनाया है। केबल टी.वी. के माध्यम से अपना ही चेनल चलाकर तथा अन्य इलेक्ट्रोनिक साधनों से रूढ़िवादी विचारों की हिन्दूवादी प्रवृत्ति ने संस्कृति के आधारों को एक नया रूप दे दिया है। हिन्दूवादी रूढ़िवादी दृष्टिकोण वर्तमान में भारतीय संस्कृति को पुनर्परिभाषित करने में आगे है। संस्कृति के इन नये अर्थो ने जनसंचार साधनों से प्रसारित सामग्री के लिये पुन: एक विरोधाभास उत्पन्न कर दिया है। इसलिये एक प्रश्न यह भी उठने लगा है कि क्या संचार व्यवस्था घोषित राष्ट्रीय लक्ष्यों जैसे धर्म निरपेक्षता के अनुकूल है? सांस्कृतिक सक्रियता जैसे चित्रों की प्रदर्शनी, नुक्कड़ नाटक और कतिपय टी्वी. के कार्यक्रम-धर्म निरपेक्षता के इसी पक्ष की ओर अधिक आकर्षित हैं। पर जनसंचार के इन साधनों पर रूढ़िवादी अधिकार क्या भारतीय संस्कृति की समन्वयवादिता को बचा कर रख सकेगा? जनसंचार साधनों के विस्तार के साथ ही सांस्कृतिक परिवर्तनों के पीछे प्रेरणा खुले तौर पर राजनीतिक श्रेष्ठजन और छिपे तौर पर बाजार के गठबन्धन से मिली है (जोशी, 1994)। राष्ट्र निर्माण के लिए प्रजातांत्रिक प्रक्रियाओं में संस्कृति की भूमिका तथा विश्वधाराओं के लिए भारत का खुलापन, समृद्ध सांस्कृतिक परम्पराओं की मजबूत जड़ों ने उन आधारों को प्रस्तुत नहीं किया है जो सही अर्थों में आधुनिक राष्ट्रीय सांस्कृतिक व्यवस्थाओं को स्थापित कर सकते थे। परिणाम यह हुआ है कि एक सांस्कृतिक शून्यता स्थापित हो गयी है और इसी शून्यता का लाभ उठाकर राजनीतिक दलों तथा व्यापारिक शक्तियों ने संस्कृति का प्रयोग जनचेतना को अपने पक्ष में प्रयोग करने के लिए एक साधन बना लिया है। संस्कृति की यह राजनीति एक नये व्यापारीकरण के साथ जुड़ी हुई है। जिस संस्कृति पर लोगों का जन्म से अधिकार था, वहीं संस्कृति आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओं के माध्यम से दूसरे वाहकों के हाथ चली गई है। यहाँ एक प्रकार का ग्रेशन (Greshan) का नियम प्रभावी होने लगा है जिसके अन्तर्गत सांस्कृतिक सिक्के बड़ी तेजी से अधिक विश्वसनीय मौलिक और उचित सांस्कृतिक सिक्कों को बाहर कर रहे हैं (जोशी, 1994)।

जनसंचार और सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तनों के संदर्भ में एक तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि इन दोनों की व्यवस्थाओं में पुनर्रचना का कार्य हुआ है। जनसंचार के ये साधन परिवर्तन के लिए शक्तिशाली वाहक हैं। वैसे तो परिवर्तन की प्रक्रिया में चुनौती प्राय: अन्तर्निहित होती है लेकिन भारतीय संदर्भ में ये चुनौतियाँ राष्ट्रीय भी हैं और वैश्वीकरण की प्रक्रिया की अंग भी है। सूचना की नई तकनीकें जिनमें संचार साधन सम्मिलित हैं वैश्वीकरण की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। यह नई तकनीक साधन भी है और प्रतीकों को ग्राह्य करने का आधार भी। साधन के रूप में यह व्यवसायों की विभिन्नता, भूमिकाओं और मूल्यों को प्रभावित करती है जो एक सी विश्वव्यापी उपसंस्कृति का

निर्माण करती है और प्रतीकात्मक आंतरीकरण से नयी आत्म-चेतना तथा समानता के आधारों को मजबूत करती है (सिंह, 1995) गांधीजी ने बहुत पहले कहा था "मेरा घर संस्कृति की हवाओं को स्वच्छन्द आने का विरोधी नहीं है पर इसका यह अर्थ भी नहीं है कि कोई संस्कृति की हवा पैर ही उखाड़ दे और मैं किसी भिक्षुक अथवा गुलाम की तरह रहूँ। "इस देश में आधुनिक संचार व्यवस्था ने भारत तथा पाश्चात्य संस्कृति के बीच बहुत गहरे सम्पर्क स्थापित किये हैं। संभावना है कि इससे किसी सांस्कृतिक पुनर्जागरण का जन्म होगा पर संभावना यह भी है कि इससे संस्कृति के विनाश का खतरा प्रारंभ हो जाये।

विसंगतियों, रूपान्तरण और परिवर्तनों के बीच जनसंचार साधनों ने अपनी प्रदत्त सूचनाओं के माध्यम से सामान्यजन के लिये विचार मंच स्थापित किया है। लोगों में विभिन्न मुद्दों पर विचार शक्ति और तर्कों के नये स्वरूप भी इन साधनों ने पैदा किये हैं। विचारों और प्रतिविचारों का एक स्वरूप भी स्थापित हुआ है। साधनों ने समाज में एक ओर जहाँ कट्टर विचारों को जन्म दिया है वहाँ दूसरी ओर समाज में लचीलापन भी पैदा किया है जिसके अन्तर्गत दो परस्पर विरोधी दृष्टिकोण साथ-साथ चलने लगे हैं। कट्टरवाद तथा उदारवाद, दक्षिण पंथ-वामपंथ और देशी संस्कृति तथा विदेशी संस्कृति सभी कुछ गाह्य रूप में इन साधनों ने प्रस्तुत किये हैं। इन विविधताओं के प्रति समन्वयवादी दृष्टिकोण इस लचीलेपन का संकेत है।

जनसंचार के साधनों ने भारतीय समाज एवं संस्कृति को कई चुनौतियाँ दी हैं। अल्प समय में ही टेलीविजन इस आलोचना का पात्र हुआ है। यद्यपि रूढ़िवादी शक्तियाँ इस आधुनिक पाश्चात्य विश्वव्यापी संस्कृति का विरोध करती हैं लेकिन फिर भी एक संतुलित व्यवस्था को प्रस्तुत करने का साधन अभी भी शेष है।

संदर्भ ग्रन्थ

- असान्ते एम. के. : "मीडिया एण्ड डिस्टेब्लाइजेशन इन थर्ड वर्ल्ड", मेनस्ट्रीम, 25, संख्या 2, 1986
- काजमी फरीद : 'द पोलिटिक्स ऑफ इंडियाज कन्वेशंनल सिनेमा,' सेज', नई दिल्ली, 1999
- क्रिस्टीना बोसियस : 'इमेज जर्नीज ऑडियो विजुअल मीडिया एण्ड कल्चरल चेंज इन इंडिया,' सेज, नई दिल्ली, 1976
- गार्बनर जी. : 'सोशियोलॉजी ऑफ मास कम्युनिकेशन', फ्री प्रेस, न्यूयार्क, 1976
- जोशी पी. सी. : 'कल्चर कम्युनिकेशन एण्ड डिवलपमेंट,' मेनस्ट्रीम, रिपब्लिक डे नवम्बर, 1986
- मुकर्जी, रामकृष्ण : 'सोशल रियलिटी एण्ड कल्चर', इंटरनेशनल सोशियोलॉजी वॉल्यूम 46, नं.1998
- मित्र आनन्द : 'टेलीविजन एण्ड पापूलर कल्चर इन इंडिया', सेज, दिल्ली, 1993

- लारसन ओटो एन. : 'सोशल एफेक्ट्स ऑफ मास कम्युनिकेशन' (संपा.) हेण्ड बुक ऑफ मॉडर्न सोशियोलॉजी, रेड मैकहाली, शिकागो, 1964.
- सिंह योगेन्द्र : 'माडर्नाइजेशन ऑफ इंडियन ट्रेडिशन', थॉमसन प्रेस, नई दिल्ली, 1971.
- सिंह योगेन्द्र : 'सोशियोलॉजी एन्ड द इमरजिंग चैलेन्ज ऑफ चेंज', बारहवें अखिल भारतीय समाजशास्त्रीय सम्मेलन अधिवेशन, भोपाल का अध्यक्षीय भाषण, 1995.
- सिंह योगेन्द्र : 'सोशल चेंज इन इंडिया - क्राइसस एण्ड रेजीलेंस', हर आनन्द, नई दिल्ली, 1996.
- शामला एम.पी. : 'ग्लोबलाइजेशन एण्ड मीडिया', हिन्दू, जनवरी 8, 1995.

जनसंख्या, स्वास्थ्य एवं शिक्षा

12

भारतीय समाज वस्तुतः आज संकट काल से गुजर रहा है। ऐसा लगता है कि जनसंख्या का जो सैलाब हमें सभी ओर दिखाई देता है, कहीं रुकने का नाम नहीं लेगा। जिधर भी निकल जाइये - मुहल्ला, गली, सड़क, सभी ओर लोग ही लोग दिखाई देते हैं। लगता है एक अनंत सागर है, जिसका कोई ओर छोर नहीं। कुछ लोगों को लगता है कि देश की बहुत बड़ी समस्या जनसंख्या के कारण है। हमारी कई समस्याएं जनसंख्या से जुड़ी हुई हैं। कई महानगर ऐसे हैं जिनकी बहुत बड़ी जनसंख्या दिनभर सड़क पर काम करती है, और रात को इसी सड़क पर सो जाती है। लोग गंदी बस्तियों में रहते हैं। उनके सामाजिक जीवन को मानो दीमक लग गई है। इधर आम लोगों का स्वास्थ्य खराब हालत में है। अस्पतालों में मरीज़ों की कतारें देखना रोज की बात है। अस्पताल से बाहर निकलने के बाद दवाई खरीदने के लिए बड़ी किल्लत दिखाई देती है। गाँवों में स्वास्थ्य के लिए जो चिकित्सक हैं वे न तो बराबर गाँव के स्वास्थ्य पर ध्यान रख पाते हैं और न वे बुनियादी समस्याओं से निपट पाते हैं जिनका सामना उन्हें रोज करना पड़ता है। ऐसा लगता है कि वस्तुएं उनके अधिकार से बाहर चली गई हैं। ऐसी अवस्था में व्यक्तिगत और सार्वजनिक स्वास्थ्य दोनों ही कई बीमारियों को जन्म देते हैं। लगता है देश के अधिकांश लोग बीमार हैं।

जनसंख्या के कारण यह भी समझा जाता है कि हम अनिवार्य शिक्षा को प्रारम्भ नहीं कर पाते हैं। इतने अधिक लोगों के लिए प्राथमिक विद्यालय खोलना, दूर-दराज़ के गाँवों तक अध्यापकों और पाठ्यपुस्तकों को विद्यार्थियों तक पहुँचाना दुष्कर कार्य है। जहाँ एक ओर वयस्क लोग अनपढ़ हैं, वहीं दूसरी ओर नई पीढ़ी के बच्चे अभी विद्यालय के द्वार तक नहीं पहुँच पाये। इस नई पीढ़ी का, शिक्षा के अभाव में, क्या भविष्य होगा, बताना बहुत मुश्किल है। देश की संकट कालीन स्थिति में हमें इसकी विवेकपूर्ण ढंग से व्याख्या करनी चाहिए। इस व्याख्या से ही संकट से उबरने का आधार मिल सकता है।

यह मानना शायद ठीक नहीं है कि हमारे सम्पूर्ण संकट का कारण जनसंख्या ही है। हमारा स्वास्थ्य बीमार इसलिए है कि हमारी जनसंख्या बहुत विशाल है। हम आने वाली पीढ़ी को विद्यालय की दहलीज तक इसलिए नहीं पहुँचा पाते क्योंकि

हमारी जनसंख्या का आकार करोड़ों में है। इस तरह की हमारी मान्यताएं भ्रांतिपूर्ण हैं। सम्पूर्ण दोष जनसंख्या विस्फोट के माथे पर लगाना सही नहीं है। हमने स्वास्थ्य सुधार के लिए कई प्रयास किए हैं। गाँव-गाँव में प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र खोले हैं। कस्बों और शहरों में चिकित्सा सुविधाएँ उपलब्ध करवाई हैं। हमारी औसत आयु में भी वृद्धि हुई है। जनसंख्या नियंत्रण के लिए भी हमारे प्रयासों में कोई कमी नहीं रही है। गर्भ-निरोध के कई साधनों को आम जनता तक पहुँचाया है। फिर भी जनसंख्या का यह विस्फोट कोई अधिक नियंत्रण में आया हो, ऐसा नहीं लगता है। शिक्षा के क्षेत्र में भी कई विद्यालय खोले गये हैं। अब पुरुष और स्त्री दोनों में शिक्षा का प्रसार ठीक प्रकार से हो रहा है। यह सब होते हुए भी आसन्न संकट से हमें कोई मुक्ति दिखाई नहीं देती है।

हमारी समझ में, इस सम्पूर्ण संकट को देखने का हमारा दृष्टिकोण त्रुटिपूर्ण है। हम पूरी शक्ति लगाकर जनसंख्या विस्फोट को बांधने की कोशिश कर रहे हैं। स्वास्थ्य सेवाओं का विस्तार कर रहे हैं। शिक्षा के विकास को बराबर बढ़ा रहे हैं। लेकिन ऐसा करके हम यह नहीं समझ रहे हैं कि जनसंख्या, स्वास्थ्य और शिक्षा कोई स्वायत्त यानी स्वतंत्र क्षेत्र नहीं है। हम यदि मात्र जनसंख्या को रोक लेवें। यदि मात्र स्वास्थ्य सुधार कर लेवें या केवल अनिवार्य शिक्षा लागू कर दें तब भी देश को इस संकट से मुक्ति नहीं दिला पायेंगे। इसका कारण यह है कि यह तीनों चर यानि मुद्दे पारस्परिक रूप से जुड़े हुए हैं। इन्हें हम कभी भी स्वतंत्र रूप से नहीं देख सकते। उदाहरण के लिए यदि हम शिक्षा का सम्पूर्ण रूप से विस्तार करेंगे तो इसके परिणाम स्वरूप सामान्य लोगों में यह समझ आ जायेगी कि उनके बीमार स्वास्थ्य का कारण क्या है। दूसरे शब्दों में, स्वस्थ जीवन जीने के लिए, पर्याप्त पोषण के लिए जिस जानकारी की उन्हें आवश्यकता है, सामान्य शिक्षा यह समझा पाएगी कि उसे किस विशेष पोषण की आवश्यकता है। नवजात बच्चे को बीमारी से कैसे बचाना है तो शायद स्त्री मृत्यु-दर में कमी हो जाएगी। इसी तरह यदि शिक्षा का आम जनता में प्रसार हो जाये तो सामान्य लोगों की समझ में यह आ जायेगा कि जनसंख्या वृद्धि को कैसे रोका जा सकता है। देश की कठिनाई यह है कि हमने जनसंख्या नियंत्रण के लिए कई विधियों का आविष्कार किया है। हमने ऐसे साधनों की सुविधा प्रदान की है जिनके द्वारा छोटी अवधि या लम्बी अवधि के लिए जन्म-दर को नियंत्रित किया जा सके। इन प्रयासों के होते हुए भी जन्म-दर वृद्धि में कुछ राज्यों को छोड़ कर, वांछित कमी नहीं आई। इसका कारण यह है कि लोगों में शिक्षा का अभाव है। जनसंख्या नियंत्रण के अगणित साधन हमारे पास हैं, लेकिन समुचित जन-शिक्षा के अभाव में यह सब साधन धरे के धरे रह जाते हैं। ऐसा लगता है कि हमने कभी भी गंभीरता से जनसंख्या, स्वास्थ्य और शिक्षा के पारस्परिक संबंधों को व्यावहारिक रूप में लागू नहीं किया। हम हमेशा जनसंख्या, स्वास्थ्य और शिक्षा को देश या समाज के विभिन्न अंगों की तरह देखते रहे हैं। यह कभी नहीं देखा कि जहाँ जनसंख्या, स्वास्थ्य और शिक्षा को प्रभावित करती है वहीं स्वास्थ्य और शिक्षा अलग-अलग तरह से एक दूसरे को और जनसंख्या को प्रभावित करते हैं।

यह नहीं है कि विकास की दौड़ में हमारा देश हाल ही में सम्मिलित हुआ है। लगभग पिछली आधी शताब्दी से हम विकास के लिए संघर्ष कर रहे हैं। शहर और गाँव सभी में कुछ न कुछ विकास के लिए अवश्य हो रहा है। यह सब होते हुए हमने विकास के जो भी परिणाम हमारे सामने आये हैं, उनसे सीखा नहीं है। विकास के अनुभव ने हमें बताया है कि केरल जैसे छोटे से राज्य ने जहाँ जीविकोपार्जन के साधन बहुत सीमित हैं, जहाँ कि अधिकांश लोग अपने भरण-पोषण के लिए देश और विदेश में प्रवास करते हैं, वहीं शिक्षा ने बहुत बड़ा चमत्कार दिखाया है। इस राज्य में मातृ-मृत्युदर में बहुत बड़ी कमी आई है, यहाँ जन-स्वास्थ्य संतोषजनक है और सबसे रुचिकर बात यह है कि इस राज्य में जनसंख्या वृद्धि की दर पिछली कुछ दशाब्दियों में प्रभावी ढंग से कम हुई है। इस राज्य में शिक्षा ने जनसंख्या और स्वास्थ्य दोनों को प्रभावित किया है। इधर जब जनसंख्या में कमी हुई तो स्वास्थ्य सुविधाओं में वृद्धि हो गई और विद्यालयों के द्वार गाँव-गाँव के लिए खुल गए।

विकास का अनुभव एक और महत्वपूर्ण तथ्य हमारे सामने प्रस्तुत करता है। देश में ऐसे राज्य भी हैं जिन्हें बीमार राज्य कहा जाता है। इन राज्यों में बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान आदि सम्मिलित हैं। ये राज्य बीमार या पिछड़े हुए इसलिए हैं कि इनमें शिक्षा का प्रसार बहुत कम है, कृषि भी क्रान्ति के स्तर पर पूरी तरह नहीं आई, औद्योगिकीकरण पूरी तरह विकसित नहीं हुआ। यह राज्य स्वास्थ्य की दृष्टि से भी पिछड़े हुए हैं। औसत आयु के पहले ही लोग काल-कवलित हो जाते हैं। इस सब के मूल में अनुभव यह बताता है कि हमने शिक्षा, स्वास्थ्य और जनसंख्या के तथ्यों या चरों पर एकीकृत रूप से बहुत कम ध्यान दिया है। ऐसा लगता है कि देश के सर्वांगीण विकास के लिए प्राथमिक शिक्षा का होना आवश्यक है। जब शिक्षा आम लोगों तक पहुँच जाएगी तो परिणामस्वरूप जनसंख्या और स्वास्थ्य की समस्याएँ भी एक सीमा तक हल हो जायेंगी। इधर दूसरी ओर जनसंख्या वृद्धि में कमी हो जाने से स्वास्थ्य और शिक्षा सुविधाओं में सुधार आ जाएगा। इन तीन चरों को एकीकृत रूप से समझने से पहले हमें इन पर पृथक रूप से सोचना चाहिए। इस तरह की समझ के बाद हम पुन: इनके पारस्परिक संबंधों को देखेंगे।

जनसंख्या

जनसंख्या अपने आप में शिक्षा की एक पृथक विधा है। एक विधा के रूप में इस विषय का बड़ा विस्तृत अध्ययन किया जाता है। अपने कलेवर में जनसंख्या एक बहुत बड़ी अवधारणा है इसके अंतर्गत जनांकिकी भी सम्मिलित है। सामान्यत: जनसंख्या के अंतर्गत हम जन्म-दर, मृत्यु-दर, और स्थानान्तरण की प्रक्रियाओं को देखते हैं। इस अवधारणा में हम यह देखते हैं कि विगत दस वर्षों में जनसंख्या वृद्धि का क्या प्रतिशत रहा है। इसमें हम प्रति हजार व्यक्तियों के आधार पर जन्म-दर और मृत्यु-दर भी देखते हैं। व्यक्ति जब अपने क्षेत्र से दूसरे राज्य में स्थानान्तरण करते हैं तब इसका अध्ययन भी इसी विषय में किया जाता है। जनसंख्या की एक संरचना होती है। इसका फैलाव होता है – गाँव और शहर में, देश और विदेश में इस सबको हम इसी नियम के अंतर्गत रखते हैं।

जनांकिकी जनसंख्या से भिन्न है। जनसंख्या में जो विभिन्नता होती है अर्थात् विवाह योग्य पुरुष और स्त्री, जनसंख्या के विभिन्न उम्र समूह आदि का अध्ययन जनांकिकी करती है। जब कभी जनसंख्या के आकार और प्रकार में अंतर आता है तब इसका प्रभाव जनांकिकी पर भी पड़ता है। उदाहरण के लिए हमारे देश में 1000 व्यक्तियों पर 933 स्त्रियाँ हैं। इसका मतलब हुआ पुरुषों की तुलना में स्त्रियाँ कम हैं। इस अंतर का क्या कारण है? उत्तर दिया जाता है कि अधिकांश लोग लड़के का जन्म उचित समझते हैं इसके लिए लड़कियों की जन्म के पूर्व और पश्चात् हत्या कर दी जाती है। आँकड़े बताते हैं कि लड़कियों का मृत्यु-दर लड़कों की तुलना में ज्यादा है। इस प्रश्न का उत्तर और तरह से भी दिया जाता है। इसके धार्मिक कारण भी बताये जाते हैं। कहा जाता है कि पितृसत्तात्मक परिवारों की निरन्तरता के लिए पुत्र का होना आवश्यक है। पुत्र पिंड दान करता है, व्यक्ति को मोक्ष देता है। यह सब कारण बताते हैं कि जनांकिकी अपने आप में एक महत्वपूर्ण विधा है जिसका अध्ययन जनसंख्या विषय में किया जाता है।

सिद्धांतवेत्ताओं ने जनसंख्या और जनांकिकी पर बड़े-बड़े अध्ययन किये हैं। इन अध्ययनकर्ताओं में आशीष बोस का नाम अग्रणी है। आधुनिक सिद्धांतों के अतिरिक्त पिछले समय में माल्थस ने इन सिद्धांत के जनक के रूप में काम किया है। उनका तो कहना था कि जिस अनुपात में जनसंख्या में वृद्धि होती है, उसी अनुपात में भोजन-सामग्री में वृद्धि नहीं होती। अत: जनसंख्या वृद्धि हमें अधिक से अधिक विपन्नता की ओर घसीट ले जाती है। बाद के सिद्धांतवेत्ताओं ने भी इसी तथ्य पर जोर दिया कि किसी भी देश या राष्ट्र के विकास के लिए जनसंख्या पर नियंत्रण आवश्यक हैं। यूरोप में तो जनसंख्या को उपलब्ध संसाधनों के साथ जोड़ दिया गया है। कई देशों में तो जनसंख्या वृद्धि की दर शून्य है। चीन जैसे बहुत बड़ी जनसंख्या वाले देश ने समुचित विकास के लिए जनसंख्या वृद्धि पर रोक लगा दी है। वहाँ एक दंपति के लिए एक बच्चे का जन्म अपेक्षित है। हमारे यहाँ भी परिवार में दो बच्चों की अपेक्षा की गई है। पंचायत राज जैसी संस्थाओं में दो से अधिक बच्चे होना निर्योग्यता समझी जाती है। यह सब तथ्य इस बात को बताते हैं कि जनसंख्या और जनांकिकी एक दूसरे से जुड़े हुए हैं।

हमारे देश में जनसंख्या नियोजन के लिए एक नीति बनाई है। इसी नीति के अनुरूप सबसे पहली बार 1951 में हमने राष्ट्रीय परिवार नियोजन कार्यक्रम को प्रारंभ किया। इस योजना के परिणामस्वरूप बढ़ती हुई जनसंख्या को हमने थोड़ा बहुत थाम लिया। कठिनाई यह है कि इस तरह की योजनाओं के पीछे देश की सांस्कृतिक विभिन्नता बहुत आड़े आती है। देश में कुछ ऐसे धार्मिक कट्टरवादी समूह हैं जिनका आग्रह है कि जनसंख्या को रोकना धर्म के विरूद्ध कार्य है। अनैतिकता है। इसका परिणाम यह हुआ कि इन कट्टरवादी समूहों में जनसंख्या वृद्धि निर्बाध रूप से हुई और दूसरी ओर उदार विचार वाले समूहों में जनसंख्या वृद्धि कम हो गई। उदाहरण के लिए परिवार नियोजन की योजना को गाँव की अपेक्षा शहरी लोगों ने अधिक अपनाया, अनपढ़ लोगों की तुलना में पढ़े लिखे लोगों ने इसे अधिक महत्व दिया। सांस्कृतिक विभिन्नता के कारण देश के विभिन्न समूहों में

परिवार नियोजन के परिणाम स्वरूप आर्थिक और सामाजिक असंतुलन पैदा हो गया। इस असंतुलन ने जहाँ एक ओर आर्थिक पिछड़ापन दिया वहाँ दूसरी ओर कई समूहों को शिक्षा तथा विकास से मुक्त कर दिया। राजनीति ने भी इस स्थिति का लाभ उठाया। कट्टरवादी समूहों ने और इसी तरह ग्रामीण समूहों ने मतदाता को एक राजनीतिक मोहरा बना दिया।

बढ़ती हुई जनसंख्या से पैदा होने वाली समस्याओं के प्रति हमारा देश अभी ही आक्रांत हुआ हो ऐसा नहीं है। सन् 1935 में गाँधी जी ने इस समस्या के प्रति अपने सुझाव दिये थे। उन्होंने कहा कि जनसंख्या को सीमित करने के लिए देश में दो काम होने चाहिए। पहला तो यह कि स्त्रियों को अधिक से अधिक शक्ति यानी "पावर" देनी चाहिए। इसका अर्थ हुआ कि संतान उत्पत्ति के मामले में स्त्री का पूरा अधिकार होना चाहिए। इसका परिणाम यह होगा कि स्त्रियों की इच्छा पर ही संतान पैदा होगी। यह भी बहुत स्पष्ट है कि संतान प्रजनन का कार्य किसी भी स्त्री के लिए सबसे अधिक कष्टदायी होता है। यह एक प्रकार का दूसरा जन्म होता है। गाँधी जी ने दूसरी बात यह कही कि बच्चों के लिए शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिए। उनकी दृष्टि से बढ़ती हुई जनसंख्या को रोकने में बुनियादी शिक्षा सबसे अधिक कारगर होती है। बुनियादी शिक्षा जहाँ एक ओर सामाजिक शिक्षा का कार्य करती है वहीं बच्चों को नये उद्योग धंधों के लिए तालीम भी देती है।

नोबेल पुरस्कार विजेता अमर्त्य सेन ने भारत की जनसंख्या पर अपने विचार रखे हैं। उनका कथन है कि भारत को आर्थिक विकास की ओर तेजी से बढ़ना चाहिए और ऐसा करने के लिए चीन की तरह उसे जनसंख्या वृद्धि को रोकना होगा। लेकिन ऐसा करने के लिए उनका यह भी कहना है कि हमें आँख मूंद कर चीन का अनुकरण नहीं करना चाहिए। चीन ने जनसंख्या नियंत्रण के लिए जिन विधियों को अपनाया है, उनमें जनता पर बड़ा दबाब पड़ा है। सरकार का अंकुश लोगों की स्वाभाविक स्वायत्तता पर रोक लगाता है। इसलिए भारत को ऐसी विधि अपनानी चाहिए जो लोगों की समझ को प्रखर करे और लोग अधिक वे अधिक गर्भ-निरोधक विधियों को अपनाएँ। इसके लिए जहाँ प्रारंभिक शिक्षा आवश्यक है वहीं सामाजिक शिक्षा भी आवश्यक है।

अमर्त्य सेन ने जनसंख्या नियंत्रण में केरल की भूमिका को महत्व दिया है। केरल की जो भी उपलब्धियाँ हैं वे कोई पाँच-दस वर्षों में नहीं आई हैं। हाल के आँकड़ों के अनुसार केरल को जनसंख्या नियंत्रण में कोई चालीस वर्ष लगे हैं। 1951-61 में केरल की प्रतिवर्ष जनसंख्या वृद्धि का प्रतिशत 2.2 था। चालीस वर्ष बाद यानी 1991-2001 में यह प्रतिशत घटकर 1 हो गया । इस उपलब्धि के लिए केरल ने तीन बातों पर जोर दिया : (1) शिक्षा, (2) स्त्री शक्ति में वृद्धि, (3) स्वास्थ्य सुविधा। इन कारणों से केरल में तीव्रतम जनांकिकी संक्रमण हुआ और इस संक्रमण से कई नये आयाम लोगों के सामने आए। जहाँ एक ओर जनसंख्या की वृद्धि पर बहुत बड़ी रोक आई वहीं दूसरी ओर लोगों के आर्थिक विकास के झरोखे खुल गये। आज केरल के लोग विभिन्न राज्यों और खाड़ी देशों में काम करते दिखाई देते हैं।

दूसरी ओर हम उन राज्यों को लें जहाँ जनांकिकी संक्रमण नहीं हो पाया है। आर्थिक विकास बहुत थोड़ा हुआ है। इन राज्यों में स्थानांतरण नाममात्र को है। और रुचिकर बात यह है कि जहाँ केरल में केवल एक प्रतिशत वार्षिक जनसंख्या वृद्धि है वहाँ इन पिछड़े हुए राज्यों की जनसंख्या वृद्धि बहुत अधिक है। उदाहरण के लिए उत्तर प्रदेश में 1991 में जनसंख्या का वार्षिक वृद्धि प्रतिशत 2.24 हैं, इसी प्रकार मध्य प्रदेश में यह दर 2.37 रहा है और बिहार में 2.11। अंतर बहुत बड़ा है जहाँ 1991 की जनगणना में केरल की वार्षिक जनसंख्या वृद्धि एक प्रतिशत है वहाँ पिछड़े हुए राज्यों का वृद्धि प्रतिशत हर स्थिति में 10 से आगे है। शिक्षा का प्रसार क्या कर सकता है इसे यह आँकड़े बहुत स्पष्ट रूप से बताते हैं।

जनसंख्या नियंत्रण के लिए सरकार ने कई कार्यक्रम चलाये हैं। सन् 1980 के बाद परिवार नियोजन कार्यक्रम के अंतर्गत सरकार ने प्रजनन वृद्धि की दर को कम करने का प्रयास किया है। परिवार के आकार को छोटा करने के लिए स्त्रियों ने नसबंदी के कार्यक्रम को आगे बढ़ाया है। अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सरकार ने वार्षिक लक्ष्य भी निश्चित किये हैं। इसके अतिरिक्त स्त्रियों को स्वास्थ्य की सुविधाएँ प्रदान की गई हैं। इन सब प्रयत्नों के बाद भी जनसंख्या वृद्धि में कोई उल्लेखनीय कमी नहीं हुई है। तथ्यों को देखकर हमें यह लगता है कि केवल जनसंख्या वृद्धि के नियंत्रण की विधियाँ पर्याप्त नहीं हैं। यह विधियाँ तो होनी चाहिए लेकिन इसके साथ प्रारंभिक शिक्षा और स्त्रियों का सबलीकरण होना भी आवश्यक है।

स्वास्थ्य

स्वतंत्रता के ठीक बाद हमारे देश की स्वास्थ्य की दशाएँ बहुत खराब थीं। सन् 1946 में भोटे कमेटी ने कुछ महत्वपूर्ण तथ्य प्रस्तुत किये थे। इसके अनुसार देश में सामान्य मृत्यु दर प्रति हजार पर 22.4 थी और दूसरी ओर मनुष्य का औसत जीवन 26.9 वर्ष था। इस कमेटी ने कहा कि देश में जो भी मौतें होती थीं उनमें आधी मौत बच्चों की होती थीं। यद्यपि टीकाकरण की पद्धति अंग्रेजी राज ने लागू कर दी थी फिर भी बहुत अधिक संख्या में लोग चेचक के शिकार हो जाते थे। हमारी मृत्यु दर की वृद्धि के कई कारण मलेरिया, प्लेग, कोढ़, नारू और चेचक आदि ऐसे रोग थे जो जान लेवा थे। कोई भी देश ऐसी स्वास्थ्य स्थिति में उन्नति नहीं कर सकता। हमने राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति का निर्माण किया। लोकसभा ने इस नीति के अनुसार यह निर्धारित किया कि हमें चिकित्सा शिक्षा अनुसंधान और स्वास्थ्य सेवाओं को इस भाँति एकीकृत करना चाहिए कि लोग अधिक से अधिक विकास और विशेषकर सामाजिक-आर्थिक विकास कर सकें। राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति के कुछ मुख्य लक्ष्य इस तरह हैं:

1. अब हमें बीमारियों के निदान की अपेक्षा बचाव पर अधिक जोर देना चाहिए। यदि निदान पर धन खर्च किया तो परिणामस्वरूप स्वास्थ्य सेवाओं का विस्तार अधिक नहीं करना पड़ेगा।
2. स्वास्थ्य नीति का यह भी लक्ष्य है कि चिकित्सा सुविधाएँ गाँव-गाँव तक पहुँचाई जायें। इसके लिए प्रत्येक गाँव में प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र की स्थापना की जाए।

3. कोढ़ जैसी बीमारी के नियंत्रण के लिए इस तरह के प्रबंध किये जायें कि इस बीमारी का सम्पूर्ण उन्मूलन हो जाये। इसके लिए एक राष्ट्रीय समिति का निर्माण भी किया गया।
4. मलेरिया एक घातक रोग है, इस बीमारी का उन्मूलन आवश्यक है। इसके लिए एक नियोजित कार्यक्रम अपनाया गया।
5. क्षय रोग के उन्मूलन के लिए भी कारगर कदम उठाए गये। हाल में पोलियो की बीमारी के सम्पूर्ण उन्मूलन के लिए पोलियो पल्स योजना को लागू किया जा रहा है।
6. राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति का एक बहुत बड़ा घटक स्त्री और नवजात शिशुओं के लिए अंकित है। स्वास्थ्य नीति का यह मानना है कि स्त्री रोग के लिए और विशेषकर प्रसव तथा प्रसव पूर्व और उपरांत होने वाले कुपोषण को रोका जाए। यह माना जाता है कि जब तक स्त्रियों और नवजात शिशुओं को रोग से बचने की सुविधाएँ नहीं दी गईं तो सम्पूर्ण स्वास्थ्य संरचना चरमरा जाएगी। इस राष्ट्रीय नीति का बहुत बड़ा सैद्धांतिक आधार अल्मा आय घोषणा है जिसे 1978 में घोषित किया गया था। यह घोषण एक बहुत बड़ा दस्तावेज है जिसके अनुसार सन् 2000 तक सभी लोगों को स्वास्थ्य सेवाएं उपलब्ध कराई जायेंगी। हमारा देश इस घोषणा में भागीदार है।

स्वास्थ्य के क्षेत्र में कई सुधार हुए हैं। यद्यपि मलेरिया की बीमारी पूरी तरह से समाप्त नहीं हुई है, जिसका हमने वादा किया था फिर भी यह बीमारी नियंत्रण में है। चेचक रोग लगभग पूर्णतया नियंत्रित है। कई छोटी बड़ी बीमारियाँ भी कम हो गई हैं। यह सब होते हुए भी आज कैंसर, मधुमेह, और हृदय रोग ऐसे हैं जिन्हें जानलेवा बीमारियों में गिना जाता है। एक नई बीमारी एड्स की है। अनुमानित आँकड़ों के अनुसार आज देश में करीब 30 लाख लोग इस बीमारी से पीड़ित हैं। यह रोग ऐसा है जिसका कोई निदान नहीं है। यदि कुछ है तो केवल बचाव ही है।

स्वास्थ्य के क्षेत्र में कुछ ऐसे आँकड़े हैं जो हमारे लिए कष्टदायक हैं। उदाहरण के लिए कुछ पिछड़े हुए राज्यों में मृत्युदर बहुत अधिक है। यह सही है कि आम आदमी की औसत आयु 62.3 वर्ष है। यदि हम सब औसत आयु को विभिन्न राज्यों में देखते हैं तो बड़ा अंतर दिखाई देता है। यदि हम इन आँकड़ों को स्त्रियों की दृष्टि से देखें तो ज्ञात होता है कि पुरुषों की तुलना में स्त्रियों की औसत आयु कम है।

औसत आयु के आँकड़े चौंकाने वाले हैं। यह इसलिए कि जहाँ शिक्षा की दर कम है वहाँ औसत आयु की दर भी कम है। बहुत स्पष्ट है कि स्वस्थ्य जीवन के लिए शिक्षा का होना आवश्यक है। इसका यह कारण है कि स्वास्थ्य को हम मोटे रूप में दो स्तरों पर देखते हैं : 1. व्यक्तिगत स्वास्थ्य और 2. सार्वजनिक स्वास्थ्य। व्यक्तिगत स्वास्थ्य में हम खान-पान और शरीर का रख-रखाव सम्मिलित करते हैं। नियमित दाँत साफ करना, नाखून काटना, रगड़-रगड़ कर नहाना, और संतुलित भोजन करना व्यक्तिगत स्वास्थ्य के अंतर्गत आते हैं। सार्वजनिक स्वास्थ्य,· वस्तुत : सम्पूर्ण समुदाय की सफाई है। प्रदूषण को नहीं होने देना, कूड़े करकट को व्यवस्थित स्थान पर रखना, पीने योग्य पानी का वितरण, आदि सार्वजनिक स्वास्थ्य के अंग हैं। स्वास्थ्य के

यह दोनों स्तर एक दूसरे के पूरक हैं। एक के बिना दूसरा अधूरा है। स्वास्थ्य के इन दोनों स्तरों पर शिक्षा का बड़ा प्रभाव पड़ता है। यदि लोगों में सामान्य शिक्षा है तो वे अपने व्यक्तिगत एवम् सभी के स्वास्थ्य को बनाये रखेंगे। हम चाहें जितनी स्वास्थ्य सुविधायें प्रदान कर दें, लेकिन जब तक स्वास्थ्य के रख-रखाव के लिए आम लोगों में चेतना और जागृति नहीं है, सभी सुविधायें बेमतलब हो जाती हैं। अत: यहाँ भी हम देखते हैं कि जनसंख्या नियंत्रण की तरह स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिए शिक्षा आवश्यक है। और दूसरी ओर यदि व्यक्ति शरीर तथा मस्तिष्क से स्वस्थ है तो वह समुचित पर्यावरण का निर्माण कर सकेगा, शिक्षा प्राप्त कर सकेगा।

स्वास्थ्य की स्थिति को देखने की एक और विधि भी है। इसे हम सामान्य मृत्यु-दर, शिशु मृत्यु-दर, और मातृ मृत्यु-दर की दृष्टि से भी देख सकते हैं। 1991 जनगणना के अनुसार सामान्य मृत्यु-दर एक राज्य से दूसरे राज्य में भिन्न पाई गई है। इस भिन्नता के कई कारण हैं : व्यक्तिगत स्वास्थ्य, सार्वजनिक स्वास्थ्य, प्रदूषण, पर्यावरण, पोषण, इत्यादि। लेकिन मोटे रूप में यह देखा गया है कि जहाँ आम लोग सामाजिक शिक्षा से परिचित हैं उनमें यह दर घट गयी है उदाहरण के लिए केरल में हजार व्यक्तियों के पीछे 6.3 व्यक्ति मृत्यु-दर है, इसी राज्य में शिशु मृत्यु-दर 17 है, जबकि शिक्षा से पिछड़े हुए अन्य राज्यों में बाल मृत्यु-दर ऊँचा है। उदाहरण के लिए राजस्थान में प्रति हजार व्यक्तियों के पीछे सामान्य मृत्यु दर 10.5 है, बाल मृत्यु-दर 90 और मातृ मृत्यु दर 1.7 प्रतिशत है। बिहार में सामान्य मृत्यु दर 73 है और मातृ मृत्यु 0.9 है। यह आँकड़े इस बात को बताते हैं कि जिन राज्यों में शिक्षा का प्रतिशत कम है वहाँ मृत्यु दर अधिक है। ऐसा लगता है कि सम्पूर्ण स्वास्थ्य के लिए अन्य कारकों के अतिरिक्त शिक्षा का कारक अधिक महत्वपूर्ण है। यह आम लोगों की धारणा है कि शिक्षा केवल रोजगार के लिए होती है और अधिक हुआ तो ज्ञान वृद्धि के लिए। इस तरह की मान्यता पढ़े-लिखे लोगों और बौद्धिक लोगों की भी है। वास्तविकता जैसा कि हमने ऊपर देखा है कुछ दूसरी है। शिक्षा वह कुंजी है जो जीवन के कई क्षेत्रों को प्रभावित करती है। इस तरह का हमारा तर्क यह नहीं बताता कि शिक्षा स्वयं भी कई अन्य कारकों से प्रभावित होती है। जहाँ जनसंख्या वृद्धि थोड़ी होगी जैसे केरल में है वहाँ शिक्षा सुविधाएं अधिक होंगी, स्वास्थ्य सेवायें अपेक्षित आकार में होंगी। स्वास्थ्य के साथ में पीने योग्य पानी की उपलब्धता भी जुड़ी हुई है। इस क्षेत्र में हमारी स्थिति बहुत खराब है। हमारी जनसंख्या को जितना पानी चाहिए उसकी तुलना में हमारे पास बहुत कम पानी है। जनसंख्या वृद्धि की वर्तमान गति को कम नहीं किया गया तो यह स्थिति आएगी कि हम पीने योग्य पानी नहीं उपलब्ध कर पाएंगे। यदि आँकड़ों की गहराई में जायें तो पीने योग्य पानी का संकट बहुत भयानक है। उदाहरण के लिए, राजस्थान, महाराष्ट्र और मध्य प्रदेश में भूमिगत पानी का स्तर बहुत नीचा हो गया है। जो कुछ पानी उपलब्ध है वह बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए पर्याप्त नहीं है। पानी का यह संकट गाँवों में अधिक गहरा है। वहाँ स्त्रियों और बच्चों को पानी लाने के लिए दिन में कई घंटे लगाने पड़ते हैं।

जनसंख्या वृद्धि के साथ खाद्य-आपूर्ति की समस्या भी बहुत विकट है। ई. 1967 में हरित क्रांति हुई। इस क्रांति के परिणामस्वरूप खाद्य उत्पादन हालांकि कुछ हद तक बढ़ गया है लेकिन अन्य परेशानियां अभी भी हैं जैसे सिंचाई के क्षेत्रों में पानी भर जाता है। मिट्टी पर खारापन जम जाता है और भूमि की उर्वरता कम हो जाती है। खेत दलदल में बदल जाते हैं और इन सबके परिणामस्वरूप उत्पादन वृद्धि के पहिये थम जाते हैं। यदि जनसंख्या जैसा इसका दर आज है, बढ़ती रहती है तो इसके अनुपात में खाद्य-सामग्री का अभाव भी बढ़ जायेगा। मतलब यह हुआ कि बढ़ती हुई जनसंख्या को रोकने के लिए भी शिक्षा ही एक कारगर साधन है। स्पष्ट है कि जनसंख्या जहाँ शिक्षा से प्रभावित होती है। वहीं जनसंख्या शिक्षा और स्वास्थ्य को भी प्रभावित करती है।

समाज के तीनों क्षेत्र, पृथक-पृथक हो कर भी परस्पर संबद्ध हैं। विश्लेषण के लिए इन्हें पृथकता में देखा जा सकता है लेकिन सामाजिक विकास के लिए हमें इन्हें इनके समग्र रूप में ही देखना होगा। व्यावहारिक जीवन में भी हमें इन्हें एक साथ लागू करना होगा।

पिछले पाँच दशकों में शिक्षा के क्षेत्र में देश ने बहुत प्रगति की है। व्यावसायिक, तकनीकी और वैज्ञानिक शिक्षा के क्षेत्र में हमने बहुत कुछ किया है। हमारे वैज्ञानिक प्रगतिशील देशों में कारगर रूप से काम करते हैं। उनका बड़ा नाम है। इधर तीसरी दुनिया के देशों में भी, दक्षिण अफ्रीका, लेटिन अमेरिका और हमारे आस-पास के छोटे देशों में भारतीय वैज्ञानिक बहुत बड़ी संख्या में काम करते हैं। ऐसा कहा जाता है कि विज्ञान के कई क्षेत्रों में भारतीय वैज्ञानिकों का नाम है। भारतीय चिकित्सक भी इन विकसित देशों में बहुत बड़ी संख्या में काम करते हैं। इधर हमारे देश में ही विश्वविद्यालयों की संख्या बहुत बढ़ गई है । व्यावसायिक विश्वविद्यालय भी बहुत बड़ी संख्या में हैं। कॉलेजों की संख्या हजारों में है ऐसा लगता है कि उच्च शिक्षा के क्षेत्र में देशों ने कई नये आयामों को स्थापित किया है। उच्च शिक्षा की यह सब उपलब्धियाँ उल्लेखनीय हैं।

माध्यमिक और उच्च माध्यमिक शिक्षा क्षेत्र में भी वृद्धि हुई है। कस्बों में ऐसे उच्च माध्यमिक विद्यालय पर्याप्त संख्या में हैं। इस तरह की प्रगति में ऐसा लगता है देश की शिक्षा प्राप्ति में महत्वपूर्ण बढ़ोतरी हुई है। स्त्रियों ने भी पुरुषों के साथ उच्च शिक्षा में बराबर प्रगति की है। प्रयोगशाला में स्त्रियाँ रात और दिन काम करती दिखाई देती हैं। ये भी चिकित्सक हैं, इंजिनियर हैं, तकनीशियन हैं, और बारीक से बारीक काम करने में कुशलता रखती हैं। दूर संचार व्यवस्था में भी पुरुषों की तरह स्त्रियों की भागीदारी हैं।

हाल में उच्च शिक्षा की इस प्रगति को विवादास्पद रूप से भी देखा जाता है। यह कहा जाता है कि, अधिकांशत: उच्च शिक्षा में उच्च जातियों, उच्च वर्गों और मध्यम जातियों का प्रवेश है। दूसरे शब्दों में उच्च शिक्षा का मतलब ऊंची जातियों और वर्गों के साथ जोड़ा जाता है। शहर और गाँव में रहने वाले निम्न जातियों और वर्गों की स्त्रियाँ इस शिक्षा से वंचित हैं। उनकी आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं है कि वे महाविद्यालय और विश्वविद्यालय में प्रवेश कर सकें। इसका परिणाम यह होता है कि उच्च और माध्यमिक शिक्षा के होते

हुए भी आम नागरिक या, गली-कूचे के लोग इससे वंचित हैं। उनके वंचित होने से जनसंख्या का सैलाब बढ़ता ही जा रहा है, स्वास्थ्य का स्तर गिरता जा रहा है और हरित क्रांति के होते हुए भी खेतों की पैदावार सिमटती जा रही है। यह स्थिति भयावह है। इस पर हमें चिन्तन करना होगा।

यह सही है कि आजादी के बाद में आम शिक्षा की दर में वृद्धि हुई है। 1991 की जनगणना के अनुसार हमारी शिक्षा का औसत प्रतिशत 52.11 था। इस पूर्ण प्रतिशत में पुरुषों की शिक्षा का प्रतिशत 63.86 था जबकि स्त्रियों का 39.42 प्रतिशत। पढ़े-लिखे पुरुषों की तुलना में आधे से थोड़ी कम स्त्रियाँ पढ़ी-लिखी हैं। मतलब हुआ अभी पढ़ी लिखी स्त्रियों का प्रतिशत पुरुषों की तुलना में बहुम कम है। सम्पूर्ण शिक्षा के प्रतिशत को देखकर थोड़ा बहुत संतोष किया भी जा सकता है लेकिन जब हम इस प्रतिशत को राज्यों के स्तर पर देखते हैं तब बड़ी निराशा होती है।

केरल एक ऐसा राज्य है जहाँ शिक्षा का औसत प्रतिशत 2001 की जनगणना के अनुसार 90.92 है और इस सामान्य प्रतिशत में स्त्री शिक्षा का प्रतिशत 87.86 है और पुरुष शिक्षा का 94.20 प्रतिशत। औसत शिक्षा का यह प्रतिशत बहुत स्पष्ट रूप से बताता है कि शिक्षण स्तर का बहुत बड़ा प्रभाव जनसंख्या, जनसंख्या संक्रमण, व्यवसाय और संपूर्ण आर्थिक प्रगति पर पड़ता है।

दूसरी ओर वे राज्य जहाँ औसत शिक्षा का प्रतिशत थोड़ा है वहाँ पिछड़ापन अधिक है। उदाहरण के लिए राजस्थान राज्य में शिक्षा का प्रतिशत 61.03 है, वहाँ पुरुष और स्त्रियों में यह प्रतिशत क्रमशः 70.85 और 44.34 है। कुछ इसी तरह बिहार में शिक्षा का औसत प्रतिशत 47.53 और पुरुष और स्त्री में यह प्रतिशत क्रमशः 60.32 और 33.57 है। उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में भी स्थापित कुछ ऐसी ही है। इन सभी पिछड़े राज्यों में स्त्री शिक्षा का प्रतिशत 34 से 40 प्रतिशत के बीच है। आँकड़े बहुत साफ तरह से बताते हैं कि इन राज्यों में स्त्री शिक्षा का अभाव बहुत ज्यादा है। और इसी कारण यह राज्य औद्योगिक तथा कृषि संबंधी क्षेत्रों में अपेक्षित रूप से पिछड़े हुए हैं। स्वास्थ्य का स्तर भी नीचा है।

वास्तव में उच्च शिक्षा पर पिछले दशकों में जो कुछ खर्च पिछले दशकों में हुआ है उसके पीछे हमारी शिक्षा नीति है। हमने देश में शिक्षा के प्रसार के लिए कई योजनाओं को क्रियान्वित किया है। सामान्यतः हम शिक्षा को अपनी राष्ट्रीय नीति के अनुसार दो भागों में बाँटते हैं। एक शिक्षा वह है जो औपचारिक है और जिसे कक्षा में किसी न किसी पाठ्यक्रम के माध्यम से पढ़ाया जाता है। यह शिक्षा विद्यालय से लेकर विश्वविद्यालय तक होती है। इसी शिक्षा कार्यक्रम के अनुसार हम विश्वविद्यालय में अनुसंधान भी करते हैं। शिक्षा का दूसरा प्रकार अनौपचारिक है। अनौपचारिक शिक्षा कई कार्यक्रमों में बांटी गई है। इसे हम प्रौढ़ शिक्षा, निरंतर शिक्षा आदि के नाम से जानते हैं। समाज में वे लोग जो किसी कारण विद्यालयों में प्रवेश नहीं कर पाये या विश्वविद्यालय तक नहीं पहुँच पाए, उन्हें प्रौढ़ शिक्षा और सतत् शिक्षा के माध्यम में पढ़ाया जाता है। हाल में कुछ ऐसे विश्वविद्यालय भी स्थापित किये गये हैं जो दूरस्थ शिक्षा यानि (Distance Education) के नाम से जाने जाते हैं। इन विश्वविद्यालयों का उद्देश्य पत्राचार द्वारा उच्च शिक्षा देना होता है।

हमारी राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 एवं 1992 को कई आयोगों और विद्वानों की सिफारिशों के आधार पर निर्मित किया गया। शिक्षा नीति पर समय-समय पर कई विवाद भी हुए हैं। उच्च शिक्षा पर बहसें भी हुई हैं। इन बहसों का परिणाम यह बताता है कि हमने शिक्षा के क्षेत्र में उन्नति लाने के कुछ और प्रयास किये गए हैं। यह भी निश्चित है कि पिछली पंचवर्षीय योजनाओं में शिक्षा पर खर्च भी बहुत हुआ है। लेकिन अब ऐसा समझा जाने लगा है कि शिक्षा पर किया जाने वाला खर्च हमें किसी मंजिल पर नहीं पहुँचा पाया। हुआ यह है कि शिक्षा के यह प्रयास उच्च वर्गों और जातियों तक जाकर सीमित हो गये। जो कुछ प्रयास हमने महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों तक किया है वह कस्बों और शहरों तक बंधा रह गया है। गाँव में रहने वाले अधिकांश लोग इससे लाभ नहीं पा सके। हमने अपनी योजनाओं का प्रचार और प्रसार गाँव में किया लेकिन शिक्षा के अभाव में गाँव के लोग हमारी बात को समझ नहीं पाये। हमने दूर-दूर के गाँव में दीवारों पर यह तो लिख दिया कि "छोटा परिवार सुखी परिवार" लेकिन लोग इसे पढ़ नहीं पाये, समझ नहीं पाये। "पैदावार बढ़ाओ", "जंगल विकसित करो" इस तरह के विकास के संदेश लिख तो दिये लेकिन लोगों तक पहुँचे नहीं। सामान्य और सामाजिक शिक्षा के अभाव में संप्रेषण की जटिलता में हम आगे नहीं बढ़ पाये। इस शिक्षा के अभाव में योजना विभाग और जनता के बीच में संवाद नहीं हो पाया। सामान्य लोग मौन संस्कृति में उपेक्षित रहे और समाज के उच्च वर्ग के लोग आगे बढ़ते चले गये। ऐसा लगता है कि उच्च शिक्षा और इससे प्राप्त होने वाले लाभों ने सम्पूर्ण भारतीय समाज को दो भागों में बाँट दिया। जो लाभान्वित भाग था यानि समाज के पढ़े लिखे लोग, उच्च जातियाँ और उच्च वर्ग अपने परिवार को छोटा बना पाए, स्वास्थ्य को सुधार पाये और बड़े-बड़े रोजगारों में लग पाये। समाज का दूसरा भाग उपेक्षित रहा। इस भाग में अनुसूचित जनजातियाँ, अनुसूचित जातियाँ, स्त्रियों और ग्रामीण लोगों में जनसंख्या बढ़ती गई। इसकी वृद्धि में कोई बहुत बड़ा परिवर्तन नहीं आया।

यदि आज शिक्षा की दृष्टि से भारतीय समाज को देखा जाए तो ज्ञात होगा कि हमने उच्च शिक्षा पर बहुत अधिक खर्च किया है। और इस खर्च का लाभ बहुत थोड़े लोगों को मिला है। यह बहुत थोड़े लोग अधिकतर शहरों में रहने वाले हैं। बहुत थोड़े कस्बों के हैं और गिनती पर बहुत कम लोग गाँव के हैं। दूसरी ओर यह सब लोग जो बहुत थोड़े हैं ऊँची जातियों, और ऊँचे वर्गों के हैं। हमारी वार्षिक आय का बहुत थोड़ा खर्च प्राथमिक शिक्षा पर हुआ है। इसके परिणामस्वरूप जहाँ एक ओर बड़े वर्गों में और उच्च जातियों में बेरोजगारी बढ़ी है वहीं दूसरी ओर गाँव के लोग हाशिये पर आ गये हैं। स्त्रियों ने शिक्षा को इसलिए अपनाया कि उन्हें रोजगार मिल जायेगा। और इसमें उनका भी कोई दोष नहीं है। हमने शिक्षा नीति को कुछ इस तरह से प्रस्तुत किया कि आम लोगों को लगा कि उच्च शिक्षा प्राप्त करने से रोजगार मिल जाता है। हमने शिक्षा को रोजगार के साथ जोड़ दिया, शिक्षा को विकास के साथ नहीं जोड़ा और परिणामस्वरूप शहर और गाँव में शिक्षा के प्रति लोगों के सम्मान को बड़ा धक्का लगा है।

पिछले कुछ वर्षों में राष्ट्रीय नेताओं और विद्वानों ने यह कहना शुरू किया है कि हमें हमारी शिक्षा नीति में परिवर्तन करना होगा। यदि देश के पिछले अनुभव को देखें तो गांधी जी ने बुनियादी शिक्षा पर बराबर जोर दिया था। इस शिक्षा में जहाँ एक ओर बुनियादी धंधों के विकास की संभावना थी वहीं स्त्रियों को अधिक शक्ति देने की बात भी थी, जनसंख्या नियंत्रण की भी पूरी संभावना थी। अमर्त्य सेन ने तो भारतीय ही नहीं तीसरी दुनिया के सभी देशों के लिए प्राथमिक शिक्षा, और उच्च शिक्षा के स्तर पर बराबर जोर दिया है। वे तो कहते हैं कि भारत जैसे देश के विकास के लिए, संकट से उबरने के लिए प्राथमिक शिक्षा, स्त्रियों का सबलीकरण और स्वास्थ्य सुविधा को सबसे ऊँची वरीयता पर रखना चाहिए। यह सुझाव भी है कि हमारे संविधान को स्कूली शिक्षा को मौलिक अधिकारों की श्रेणी में रखना चाहिए। ऐसा समझा जाता है कि स्कूली शिक्षा के विकास के परिणामस्वरूप जनसंख्या वृद्धि और स्वस्थ जीवन के लिए ऐसे प्रयास उपयोगी होंगें।

सामाजिक आन्दोलन का समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य 13

सामाजिक आन्दोलन सामूहिक व्यवहार का एक स्वरूप है। जब कई लोग समाज में इच्छित परिवर्तन लाने हेतु या आ रहे परिवर्तन का विरोध करने के आशय से सामूहिक प्रयास करते हैं तो उसे सामाजिक आन्दोलन कहते हैं। लोगों के ऐसे सामूहिक प्रयास भीड़ तथा भगदड़ आदि से ज्यादा समय तक चलते और संगठित होते हैं हालांकि सामाजिक आन्दोलन एक संस्था, क्लब या समिति जितने संगठित नहीं होते हैं। चूँकि सामाजिक आन्दोलन के कारण वर्तमान समाज-व्यवस्था प्रत्यक्ष या परोक्ष ढंग से प्रभावित होती है, अत: सामाजिक आन्दोलन का अध्ययन सामाजिक परिवर्तन के कारण और परिणाम रूपी स्वरूपों में महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

इस संदर्भ में सामाजिक आन्दोलन के आवश्यक तत्व क्या हैं? समाज-व्यवस्था में इसका स्रोत क्या है? आन्दोलनों के प्रकार और इसकी जीवन रेखा (कैरियर) क्या है? समाज में सामाजिक आन्दोलन का क्या महत्व है? आदि कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो सामाजिक आन्दोलन के समाजशास्त्रीय अध्ययन में केन्द्रिय स्थान रखते हैं। इस अध्याय में इनं प्रश्नों को समझाते हुए परंपरागत भारत में हुए, कुछ प्रमुख सामाजिक आन्दोलनों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है।

सामाजिक आन्दोलन के तत्व

वर्तमान परिस्थिति से असंतुष्ट होकर लोग जब उसमें परिवर्तन लाने की सोचते हैं तो सामाजिक आन्दोलन की पूर्व भूमिका तैयार होती हैं। परन्तु केवल असंतोष मात्र से आन्दोलन जन्म नहीं ले लेता। इसके अलावा भी निम्नलिखित कुछ अन्य महत्वपूर्ण तत्व एक आन्दोलन को निश्चित आकार तथा गति देते हैं।

सामाजिक आन्दोलन में विचारधारा प्रेरक बल का कार्य करती है। विचारधारा के जरिये वास्तविक परिस्थिति को एक निश्चित अर्थ दिया जाता है। इसके आधार पर आंदोलन के उद्देश्य और उन्हें सिद्ध करने के साधनों का औचित्य परिभाषित किया जाता है। एक ही विचारधारा में विश्वास के कारण आन्दोलन के नेताओं तथा अनुयाइयों में पारस्परिकता के भाव और आन्दोलन के उद्देश्यों के प्रति निष्ठा का जन्म होता है।

सामाजिक आन्दोलन का दूसरा आवश्यक तत्व उसका संगठन होता है। जो व्यक्ति आन्दोलन

के उद्देश्यों से प्रेरित होकर लोगों को संगठित करते हैं अक्सर वे ही इस संगठन के केन्द्र स्थान में होते हैं। इसी तरह उन्हीं के जरिए संगठन आंदोलन के उद्देश्यों को सिद्ध करने की जिम्मेवारी लेता है। इसी तरह संगठन के माध्यम से ही आन्दोलन के उद्देश्य, कार्यक्रम, व्यूह रचना आदि के बारे में निर्णय लिये जाते हैं तथा सम्पूर्ण आन्दोलन का संचालन होता है।

नेता और संगठन के अभाव में एक सामाजिक आंदोलन निर्बल और दिशाहीन रहता है।

सामाजिक ढाँचे की जिन परिस्थितियों में परिवर्तन लाने का प्रयास किया जाता है उन्हीं परिस्थितियों में कई लोगों के स्वार्थ निहित होते हैं। अत: वे आंदोलन का विरोध करते हैं। इसके अलावा राज्य की सत्ता, समाज के अन्धविश्वास, धार्मिक कट्टरता इत्यादि के कारण भी आन्दोलन का विरोध होता है। अत: किसी भी आंदोलन को सक्षमरूप से आगे बढ़ाने के लिये उसके उद्देश्यों के प्रति समर्पित और कटिबद्ध अनुयाइयों की आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता की पूर्ती संगठन के द्वारा आंदोलन में योग्य व्यक्तियों की भर्ती के द्वारा की जाती है। हालाँकि आंदोलन के अनुयाइयों में कई लोगों के इसके उद्देश्यों तथा विचारधारा आदि के प्रति निष्ठा के भाव केवल श्रद्धा तक ही सीमित होते हैं। जबकि अन्य कई अनुयाइयों में ये भाव कट्टरता का स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं।

सामाजिक आन्दोलन का एक अन्य आवश्यक तत्व कार्यक्रमों की व्यूहरचना होती है। इस क्षेत्र में आन्दोलन के नेतृत्व तथा समर्पित अनुयाइयों का विशेष महत्व होता है। आंदोलन की माँगें क्या हों, अपनी माँगों को कैसे रखना है, विरोध का सामना कैसे करना है, आंदोलन को आगे कैसे बढ़ाना है, आंदोलन के उद्देश्यों तथा दिशा आदि में परिवर्तन लाना हैं, प्रभुत्व प्राप्त तत्वों अथवा सरकार से आंदोलन के मुद्दों पर बात करके समाधान करना वगैरह अनेक विषयों पर आंदोलन की व्यूहरचना आधारभूत स्थान रखती है।

जहाँ आन्दोलन को चमत्कारिक नेतृत्व उपलब्ध होता है, वहाँ आन्दोलन की व्यूहरचना को सफल बनाने में लोगों का साथ सरलता से मिल जाता है। परंपरागत सामाजिक-सांस्कृतिक प्रतीक, भाषा, धर्म तथा राष्ट्रीयता आदि के आधार पर अनुयाइयों में एक भिन्न अस्मिता को उभारने का प्रयास भी सामाजिक आन्दोलन की व्यूहरचना का एक भाग होता है।

इस तरह उपरोक्त प्रमुख तत्वों के आधार पर एक सामाजिक आन्दोलन को व्यवस्थित आकार मिलता है। ये तत्व एक-दूसरे को प्रस्थापित कर समूचे आन्दोलन की कार्यवाही को गतिशीलता तथा प्रभावपूर्णता देते हैं। हालांकि आंदोलन की सफलता या असफलता भविष्य की बात होती है।

सामाजिक आन्दोलन का स्रोत

सामान्यत: सामाजिक आन्दोलन सामाजिक ढाँचे की वर्तमान परिस्थियों के प्रति असंतोष और विरोध के भाव से जन्म लेता है। इसके जरिये स्थापित संस्थाओं तथा परंरागत परिपाटियों को चुनौती देकर उन्हें हटाने का प्रयास होता है। क्योंकि समाज के कई महत्वपूर्ण लोगों को वर्तमान परिस्थितियाँ अन्यायपूर्ण और हानिकारक लगती

हैं। इन्हें नये सांस्कृतिक प्रतिमानों के आधार पर उक्त परिस्थितियों का बहिष्कार करना उचित लगता है। साथ ही यह विश्वास भी होता है कि वर्तमान परिस्थितियों को बदला जा सकता है।

सामाजिक आन्दोलन के प्रकार

सामाजिक आन्दोलनों के उद्देश्य, व्यूहरचना, न्याय तथा कार्यक्षेत्र आदि के संयोजन से उसे एक आकार प्राप्त होता है। सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में समाजशास्त्रीय साहित्य में प्राय: सामाजिक आन्दोलनों को निम्नलिखित तीन श्रेणियों में विभाजित किया जाता है।

1. सुधारवादी आंदोलन (रिफोर्मेटिव मूवमेन्ट)

इस प्रकार के आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य सामाजिक ढाँचे को वर्तमान परिस्थिति में परिवर्तन लाना होता है। इनकी व्यूहरचना में शांति से वैधानिक साधनों द्वारा परिवर्तन लाने पर विशेष रूप से जोर दिया जाता है। इसलिए इन आंदोलनों में शिक्षा, प्रचार, अनुरोध, नवचेतना आदि पर ज्यादा ध्यान दिया जाता है। साथ ही हिंसा तथा बल के प्रयोग को टाला जाता है।

तदुपरांत इस प्रकार के आंदोलन सामाजिक ढाँचे की परिधि में रहते हुए एक सीमित दायरे में परिवर्तन लाने के प्रयत्न करते हैं। अक्सर इन आन्दोलनों के माध्यम से सामाजिक विषमता, अन्याय तथा शोषण आदि के विरूद्ध आवाज उठाई जाती है और लोगों को संगठित करके वर्तमान परिस्थितियों को बदलने का प्रयास किया जाता है। परंपरागत भारतीय समाज की कुप्रथाओं तथा बुराइयों के सामने खड़े हुए सुधारवादी आंदोलन जैसे कि ब्रह्म समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन तथा सत्यशोधक समाज आदि की गणना इस प्रकार के आन्दोलनों में होती है।

2. क्रान्तिकारी आन्दोलन (रिवोल्यूशनरी मूवमेन्ट)

सामाजिक ढाँचे में जब समाज के प्रभुत्व प्राप्त तत्वों द्वारा प्रस्थापित मानदण्डों की आड़ में शोषण व अन्याय की परिस्थितियों को न्यायिक साबित करने का प्रयास होता है, तब उग्रवादी अथवा क्रांतिकारी आंदोलन जन्म लेते हैं। ये आन्दोलन वर्तमान समाज-व्यवस्था के मूल्यों तथा वर्तमान मानदण्डों का बहिष्कार करते हैं, और सामाजिक ढाँचे को नये मूल्यों और मानदण्डों पर खड़ा करने का प्रयास करते हैं।

इस प्रकार के आन्दोलन के अनुयाइयों में आन्दोलन की विचारधारा के प्रति तीव्र प्रतिबद्धता होती है। निर्धारित उद्देश्यों को सिद्ध करने हेतु साधनों के औचित्य की जगह उसकी प्रभावशीलता पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इनकी व्यूहरचना भूगर्भ में छुपे ढंग से तथा काफी सतर्कता से तैयार और कार्यान्वित की जाती है। ये आन्दोलन हिंसात्मक मार्ग अपनाने से भी कतराते नहीं हैं।

3. विरोधवादी आन्दोलन (प्रोटेस्ट मूवमेन्ट)

इस प्रकार के आन्दोलन प्राय: स्थानिक, प्रादेशिक अथवा राष्ट्रीय स्तर तक मर्यादित रहते हैं। किसी व्यवस्था, नीति या कार्यक्रम के विरोध में उठाया गया ऐसा आन्दोलन एक तरह से प्रैशर ग्रुप का काम करता है। ये आन्दोलन कालान्तर में वैचारिक आधार और प्रभावशाली नेतृत्व मिल जाने पर

दीर्घकालीन एवं गम्भीर स्वरूप के आन्दोलन में भी रूपान्तरित हो जाते हैं।

दलित आन्दोलन, कृषक आन्दोलन, पिछड़े वर्गों का आन्दोलन आदि इस श्रेणी में आते हैं। परंपरागत भारत में विभिन्न प्रदेशों में ब्राह्मणवाद के विरूद्ध छिड़े सामाजिक आन्दोलनों की गणना भी इस प्रकार के आन्दोलनों में की जा सकती है।

उपरोक्त प्रकार के सामाजिक आन्दोलनों के अलावा वैयक्तिक स्तर पर बुरी आदतों से पीड़ित व्यक्ति के उद्धार और कल्याण के लिये उसे व्यसन तथा बुरी आदतों से छुटकारा दिलाने के आन्दोलन भी आजकल प्रसिद्ध हो रहे हैं। इसी तरह पर्यावरण की सुरक्षा तथा मानवाधिकार को स्थापित करने के विचार से प्रेरित हो वैश्विक स्तर पर कई आन्दोलनों ने जन्म लिया है।

सामाजिक आन्दोलन की जीवन रेखा

सामाजिक परिवर्तन के एक प्रेरक बल के रूप में सामाजिक आन्दोलन की जीवन रेखा एक प्रक्रिया का स्वरूप लेती है। एक निश्चित विचार अथवा उद्देश्य से शुरू हुआ आन्दोलन अपनी जीवन यात्रा में कई उतार-चढ़ाव से गुजरता है। हालाँकि किसी भी आन्दोलन की शुरूआत के बाद उसकी नियति आन्दोलनकारियों के निष्ठाभाव तथा व्यापक समाज के प्रति उसके भाव पर निर्भर होती है।

इसी तरह आंदोलन के नेतृत्व तथा संगठन के प्रति कटिबद्धता भी एक अत्यन्त महत्व का स्थान रखती है। जब तक आन्दोलनकारियों के मूल्यों और उद्देश्यों पर आन्दोलन की पकड़ रहती है, तब तक आन्दोलन का भविष्य भी सुरक्षित रहता है। साथ ही व्यापक समाज का सकारात्मक प्रतिभाव मिलने से भी सामाजिक आन्दोलन का अस्तित्व और प्रभाव सुरक्षित रहते हैं।

सामाजिक आन्दोलन की जीवन रेखा राज्य या सत्तामंडल के रुख से भी प्रभावित होती है। आन्दोलन के उद्देश्यों तथा औचित्य को मान लिया जाता है। तब शनैः शनैः सामाजिक आन्दोलन का विलय हो जाता है। इसके विपरीत जब सरकारी माध्यमों से आन्दोलन का विरोध होता है, या उसे कुचल देने का प्रयास होता है तो आन्दोलनकारियों पर उसका उलटा प्रभाव पड़ता है। वे उग्रवादी स्वरूप धारण कर हिंसात्मक मार्ग भी अपना लेते हैं। उनमें प्रतिशोध की भावना भड़क उठती है। कभी-कभी सरकार के दमनकारी कदमों के कारण आन्दोलन भूगर्भ में चला जाता है।

अक्सर ऐसा भी होता है कि आन्दोलन की शुरूआत के बाद अगले चरणों में उसका कायाकल्प हो जाता है। समय के साथ आन्दोलन के नये नेता आते हैं, उद्देश्यों तथा व्यूहरचना में बदलाव आता है, पुराने उद्देश्यों के साथ नये उद्देश्य सम्मिलित होते जाते हैं। स्थानिक स्तर पर शुरू हुआ आन्दोलन प्रादेशिक अथवा राष्ट्रीय आयाम धारण कर लेता है। इस प्रवाह में जो आन्दोलन व्यापक समाज के उत्कर्ष में सफल होते हैं वे इतिहास में अमर हो जाते हैं। अन्य कुछ सामाजिक आन्दोलन अपने जीवन काल के विविध चरणों से गुज़रते हुए इच्छित उद्देश्य सिद्ध होने के साथ ही एक स्थापित संस्था का रूप धारण कर लेते हैं।

सामाजिक सुधारवादी आन्दोलन

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक भारतीय समाज में सामाजिक कुरीतियाँ तथा भेदभाव समाज के अंग हो गये थे। धर्म ग्रन्थों के विकृत अर्थ द्वारा इन्हें समर्थन दिया जाता था। जाति और लिंग के आधार पर सामाजिक विषमताएँ चरम सीमा पर पहुँच गई थीं। दलितों के प्रति छुआछूत का बोलबाला था। नारी का सामाजिक स्थान दया के पात्र के रूप में हो गया था। पर्दा प्रथा और सती प्रथा बिना रोके बढ़ती जा रही थी। धर्म पर ब्राह्मणों का प्रभुत्व था। जीवन के हर पहलू में अंधविश्वासों और कर्मकांडों की मजबूत पकड़ थी। राजकीय क्षेत्र में अंग्रेजों की गुलामी के कारण सारे देश का आर्थिक और सामाजिक शोषण हो रहा था। समस्त समाज जड़ता और पतन के गर्त में जा रहा था।

भारत की इन सामाजिक-धार्मिक बुराइयों और राजकीय गुलामी की परिस्थितियों के विरूद्ध 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में एक नई सामाजिक चेतना आई। इसे प्रज्वलित करने में अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त प्रबुद्ध वर्ग का विशेष योगदान था। यह एक ऐसा नया सामाजिक वर्ग था जिसे स्वतंत्रता, समानता और सामाजिक न्याय के मूल्यों पर आधारित पाश्चात्य दर्शन और समाज व्यवस्था का ज्ञान था। इसी वर्ग में से इस नवजागृति को ऐसे लोगों का नेतृत्व मिला जो भारतीय संस्कृति के गौरवपूर्ण अतीत को पुनर्प्रतिष्ठित करना चाहते थे। धीरे-धीरे इस नवजागृति में से सामाजिक धार्मिक सुधार के आन्दोलनों का जन्म हुआ। साथ ही साथ लोगों में राष्ट्रीय चेतना भी आने लगी। जो आगे चलकर स्वाधीनता संग्राम के रूप में प्रकट हुई। इसी पृष्ठभूमि में अब कुछ प्रमुख सामाजिक सुधार आन्दोलनों का संक्षिप्त परिचय दिया जाएगा।

ब्रह्म समाज

20 अगस्त 1828 को राजा राममोहन राय ने ब्रह्म समाज की स्थापना की थी। राजा राममोहन राय राजनीतिज्ञों और सामाज सुधारकों में ऐसे पहले व्यक्ति हैं जो पश्चिमी ज्ञान और तकनीकी के पक्ष में थे। उनके दर्शन में रंग, धर्म, संप्रदाय, और जाति का कोई स्थान नहीं था। इन्हीं तत्वों को उन्होंने ब्रह्म समाज का वैचारिक आधार बनाया। वे अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से भारत में राष्ट्रीय एकता स्थापित करने के प्रयास में लगे रहे। वे सामाजिक सुधारक के साथ-साथ प्रचुर राष्ट्रवादी भी थे। इसी कारण उन्हें भारतीय राजनीति के पैगंबर की तरह भी जाना जाता है।

वे ईश्वर में विश्वास रखते थे, फिर भी ब्रह्म समाज के जरिये उन्होंने मूर्ति पूजा और कर्मकाण्डों का कट्टर विरोध किया। वे वेदांतों, उपनिषदों और भगवद् गीता के सिद्धांतों के अनुरूप एकेश्वरवाद का समर्थन करते थे।

सामाजिक सुधार के क्षेत्र में उन्होंने ब्रह्म समाज के कार्यक्रमों में जाति-व्यवस्था की बुराइयों के नाश और नारी के उद्धार को प्राथमिकता दी थी। जाति-व्यवस्था के भेदभाव को तोड़ने वाले वे प्रथम व्यक्ति थे। उन्हीं के प्रयासों के फलस्वरूप सन् 1829 में सती प्रथा को कानूनन जुर्म घोषित किया गया। उन्होंने बाल विवाह का विरोध तथा विधवा पुनर्विवाह का समर्थन किया। इसी तरह उन्होंने बहु-विवाह प्रथा का विरोध किया। संपत्ती

में नारी के अधिकार की वैधता का भी राजा राम मोहन राय ने जोरदार समर्थन किया। वे नारी को शिक्षा का अधिकर दिलाने के भी प्रबल समर्थक थे। राजनैतिक सुधार की दिशा में वे राज्य और सरकार की तुलना में व्यक्ति की स्वतंत्रता और सामाजिक- न्याय की भूमिका के हिमायती थे। इसी कारण ब्रह्म समाज को राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम की पूर्वभूमिका माना जाता है। हालांकि राजाराम मोहन राय अंग्रेजी शासन और पश्चिमी संस्कृति की अच्छी बातों को ग्रहण करने के आग्रही थे।

ब्रह्म समाज की स्थापना के साथ ही सामाजिक सुधार की गतिविधियों को ज़ोर मिला। परन्तु इसकी स्थापना के पाँच वर्ष में ही सन् 1833 में इंग्लैंड में राजा राम मोहन राय का निधन हो गया जिससे इसकी गतिविधियाँ क्षीण होने लगीं। परन्तु सन् 1843 में देवेन्द्रनाथ टैगोर ने ब्रह्म समाज की बागडोर संभाली। उन्होंने "तत्व बोधिनी पत्रिका" प्रकाशित करना शुरू किया। इनका विश्वास था कि समस्त धर्मों का मूल उद्भव स्रोत वेद-ग्रंथों से ही आरंभ होता है। अत: उन्होंने इस पत्रिका तथा अपने भाषणों के माध्यम से वैदिक-ग्रंथों में आस्था स्थापित करने का प्रयास किया। बाद में ईश्वरचंद्र विद्यासागार और अक्षय कुमार दत्त भी ब्रह्म समाज के साथ जुड़े। इन्होंने ब्रह्म समाज के अन्य कार्यक्रमों के साथ-साथ नारी-उत्थान के क्षेत्र में ब्रहम समाज की गतिविधियों को विशेष रूप से आगे बढ़ाया।

सन् 1857 में केशवचन्द्र सेन को ब्रह्म समाज का आचार्य बनाया गया। उनके नेतृत्व में कुछ ही वर्षों में देश के विभिन्न भागों में ब्रह्म समाज की 54 शाखाएँ स्थापित हो गईं। इसी बीच केशवचन्द्र सेन और देवेन्द्रनाथ टैगोर के बीच मतभेद हो गया। सन् 1855 में उनके पास से ब्रह्म समाज के आचार्य की उपाधी छीन ली गई। इससे व्यथित होकर उन्होंने आदि ब्रह्म समाज के नाम से एक अलग संस्था का गठन किया। इस संगठन के ज़रिये वे भारत में आध्यात्मिक और राष्ट्रीय एकता स्थापित करना चाहते थे।

सामाजिक सुधार की दिशा में केशवचन्द्र सेन के क्रान्तिकारी विचार थे। वे जाति-प्रथा का नाश करके समाज में आमूल चूल परिवर्तन करना चाहते थे। परन्तु उन्होंने स्वयं "आदि ब्रह्म समाज" के सिद्धांतों तथा सन् 1872 के "नेटिव मेरिज एक्ट" की शर्तों का उल्लंघन करके अपनी 13 वर्ष की बेटी का विवाह कूच बिहार के राजकुमार के साथ किया। इससे आदि ब्रह्म समाज में फूट पड़ गई और "साधारण" ब्रहम् समाज के नाम से एक और नई शाखा अस्तित्व में आई।

इस तरह लगभग 30 वर्ष के सक्रिय कार्यकाल के बाद ब्रह्म समाज कमजोर होता गया व इसका कार्य क्षेत्र भी सीमित हो गया। आज ब्रह्म समाज का अस्तित्व एक आन्दोलन से हटकर संस्था के रूप में हो गया है।

प्रार्थना समाज

राजा राम मोहन राय की विचारधारा से प्रभावित होकर सन् 1857 में मुम्बई में प्रार्थना समाज की स्थापना हुई। इसके पीछे केशवचन्द्र सेन के नेतृत्व का महत्वपूर्ण योगदान था। जातिप्रथा का विरोध, विधवा विवाह का समर्थन, नारी शिक्षा का प्रचार तथा बाल-विवाह का विरोध प्रार्थना समाज के सामाजिक सुधार के कार्यक्रमों में शामिल थे।

महाराष्ट्र में प्रार्थना समाज के प्रचार में महादेव गोविन्द रानाडे की विशेष भूमिका रही है। राजा राम मोहन राय की तरह ही वे भी पाश्चात्य शिक्षा एवं नवजागृति के माध्यम से हिन्दू कट्टरता तथा सामाजिक बुराइयों को दूर करना चाहते थे। परन्तु उन्हें हिन्दू मानसिकता के पोषणकर्ताओं के घोर विरोध का सामना करना पड़ा था। उनके ऐसे विरोधियों में बालगंगाधर तिलक का नाम उल्लेखनीय है। उन्हें रानाडे के सुधारवादी तरीके पसन्द नहीं आये थे।

ब्रह्म समाज और प्रार्थना समाज में तात्विक भेद यह था कि प्रार्थना समाज में मूर्तिपूजा एवं परंपरागत अनुष्ठानों पर ब्रह्म समाज की तरह जोर नहीं दिया गया था तथा प्रार्थना समाज जनसाधारण के अधिक समीप था। जबकि ब्रह्म समाज में धनी तथा बौद्धिक वर्ग के लोगों की ही प्रधानता रही है। माहराष्ट्र में रानाडे ने भक्ति आंदोलन के प्रवर्तक ज्ञानदेव, एकनाथ, तुकाराम, रामदास और जनार्दन पंत के उदार विचारों से प्रभावित होकर प्रार्थना समाज को सर्वजन ग्राह्य बनाने का प्रयत्न किया था

आर्य समाज

आर्य समाज की स्थापना स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 10 अप्रैल 1875 को मुम्बई में की थी। वे प्रतिभाशाली निर्भिक तथा तर्कशील दृष्टि के व्यक्ति थे। उनका मंत्र वाक्य ''वेदों की ओर लौट चलो'' था। स्वामी दयानन्द सरस्वती रचित ग्रन्थ ''सत्यार्थ प्रकाश'' वेद ग्रन्थों की व्याख्या है।

आर्य समाज के सामाजिक आदर्श निम्न सिद्धांतों पर टिके हैं :

(1) ईश्वर पिता तुल्य है। मानव-मानव के बीच बन्धुत्व के भाव हों,

(2) स्त्री-पुरुष के बीच समानता हो,

(3) मानव-मानव के बीच सामाजिक न्याय की स्थापना हो। प्रत्येक व्यक्ति को उसके गुण और कर्म के अनुसार योग्य अवसर प्राप्त हों तथा

(4) सभी के प्रति प्रेम और स्नेह के भाव हों। बहूवेदवाद, मूर्तिपूजा, बाल-विवाह तथा जाति-प्रथा का घोर विरोध इसके कार्यक्रमों में अति महत्वपूर्ण स्थान पर रहे हैं। अन्तर्जातीय विवाह और विधवा विवाह के पक्ष में आज भी आर्य समाज की गतिविधियाँ सक्रिय योगदान कर रही हैं। स्त्रियों में शिक्षा के प्रचार के कार्यक्रम भी आर्य समाज में अग्रस्थान पर रहे हैं। आज समस्त राष्ट्र में आर्य समाज के तत्वावधान में दयानन्द एंगलो वैदिक कॉलेज (डी.ए.वी.) का जाल फैला हुआ है। इसी तरह से कई स्थानों पर अनाथाश्रम और विधवा गृह भी खोले गए हैं।

धर्म परिवर्तन कर लेने वाले हिन्दुओं को पुन: हिन्दू धर्म में लाने के लिए आर्य समाज के द्वारा स्वामी दयानन्द सरस्वती ने "शुद्धि आन्दोलन" भी आरंभ किया था। इनके पीछे स्वामी दयानन्द सरस्वती का आशय सही अर्थ में भारत को सामाजिक, धार्मिक एवं राष्ट्रीय एकता स्थापित करने का था। आर्य समाज के इस प्रयास में सामाजिक सुधार के अन्य आंदोलन की तरह राष्ट्रीयता के भाव प्रकट होते हैं।

रामकृष्ण मिशन

स्वामी विवेकानन्द ने सन् 1897 में अपने गुरु रामकृष्ण परमहंस की स्मृति में बंगाल के बेलुर में रामकृष्ण मिशन की स्थापना की थी। रामकृष्ण मिशन के दर्शन तथा गतिविधियों में पूर्वी और पश्चिमी संस्कृति का समन्वय मिलता है। स्वामी रामकृष्ण ने आध्यात्मिक मूल्यों को जीवन व्यतीत करने का मार्ग बताया था।

वे मानते थे कि सबका स्वामी एक ही ईश्वर है। सभी धर्म उसे प्राप्त करने के केवल अलग-अलग मार्ग हैं। उनका कहना था कि सच्ची निष्ठा और भक्ति से ईश्वर की आराधना करने से व्यक्ति को भगवान का साक्षात्कार असंभव नहीं है। वे स्वयं काली माता के भक्त थे साथ ही रामकृष्ण परमहंस शिव और राम की पूजा भी करते थे।

स्वामी विवेकानन्द पर रामकृष्ण परमहंस के आध्यात्मिक विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा था। वे अपनी 39 वर्ष की अल्प आयु में वेदान्त के प्रचार के लिए कई बार विदेश भी गये थे। वे भारत के राष्ट्रीय प्रश्नों का हल ढूँढने के लिए वेदान्त का व्यावहारिक उपयोग करने के आग्रही थे। वे अपने भाषणों से वेदान्त के पाँच प्रमुख तत्व (1) सार्वजनिकता (2) अव्यक्तित्व (3) बौद्धिकता (4) हृदय की विशालता और (5) आशावाद पर विशेष ज़ोर देते थे।

रामकृष्ण परमहंस की तरह विवेकानन्द भी परंपरागत वर्ण व्यवस्था से प्रभावित हुए थे परन्तु वे जाति प्रथा के विरोधी थे। उन्होंने ब्राह्मणों के अधिकारवाद का भी विरोध किया था। मानवतावादी विचारों के आधार पर उन्होंने जनकल्याण के कई रचनात्मक कार्य शुरू किए थे।

वे कहते थे कि सभी को धार्मिक तथा आध्यात्मिक साहित्य स्वयं पढ़कर समझने का अधिकार है। वे छुआछूत के कट्टर विरोधी थे। जन सामान्य के जीवन में यूरोप या अमेरिका के अन्धे अनुकरण को स्वामी विवेकानन्द मृत्यु समान मानते थे।

रामकृष्ण मिशन "बहुजन हिताय: व बहुजन सुखाय :" के आदर्श से प्रेरित हो एक धार्मिक संस्था के रूप में देश भर में मानव-सेवा के कार्य में रत हैं। इसी तरह स्वामी रामकृष्ण परमहंस के जीवन से बोध लेकर वेदान्त के तत्व ज्ञान के प्रसार में लगे साधुओं के लिये रामकृष्ण मिशन के आश्रय में "मठ" साधु सन्तों के पोषण हेतु आज भी कार्यरत हैं। ये दोनों संस्थाएँ रामकृष्ण परमहंस मिशन की दो अंगभूत संस्थाएँ हैं। आध्यात्म और वेदान्त के तत्व ज्ञान के क्षेत्र में आज भी रामकृष्ण मिशन का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है।

उपरोक्त कुछ प्रमुख आंदोलनों के अतिरिक्त थियोसोफिकल सोसायटी भारत सेवक समाज, सत्य शोधक समाज और दक्षिण भारत में केरल राज्य में श्री नारायण धर्म परिपालन योगम (एस.एन. डी.पी.) आदि का भी सामाजिक सुधार के क्षेत्र में अद्वितीय योगदान रहा है। थियोसोफिकल सोसायटी के माध्यम से श्रीमती एनी बीसेन्ट ने हिन्दू-धर्म को नव जागरण धर्म-निरपेक्षता तथा राष्ट्रीयता के भाव सुदृढ़ करने का अथक प्रयास किया। साथ ही उनके ये प्रयास विश्वबन्धुत्व के भाव को चरितार्थ करने में जुटे रहे।

इसी तरह देश की निस्वार्थ सेवा के प्रयासों के एक भाग के रूप में सन् 1905 में गोपाल कृष्ण गोखले ने "भारत सेवक समाज" की स्थापना की। वे चाहते थे कि सार्वजनिक जीवन आध्यात्मिक रंग से रंगा होना चाहिए। उन्होंने भारत सेवक समाज के आश्रय में गरीबों और निरक्षर लोगों के हितार्थ स्त्री-पाठशालाएँ, स्कूल, वाचनालय, पुस्तकालय तथा कानूनी सहायता केन्द्र आदि जगह-जगह खोले।

सन् 1873 में महात्मा ज्योतिबा फूले ने सत्य शोधक समाज की स्थापना की। उन्होंने महिलाओं की मुक्ति और शिक्षा पर विशेष ज़ोर दिया क्योंकि वे मानते थे कि पुरुष प्रधान समाज में पुरुषों ने अपनी सर्वोपरिता बनाए रखने के लिए युक्ति पूर्वक महिलाओं को निरक्षरता और अन्ध विश्वासों में घेरे रखा है। उन्होंने ब्राह्मणवाद का भी जम कर विरोध किया। अपने विचारों के प्रसारण हेतु ज्योति बा फूले ने ब्राह्मणों के प्रतीक "राम" के स्थान पर "राजा बाली" के प्रतीक का उपयोग किया। इसी तरह केरल राज्य में प्रारंभ में इड़वा जाति के लोगों के उद्धार के लिए "एक ईश्वर, एक धर्म और एक जाति" के मंत्र को केन्द्र में रखकर "श्री नारायण धर्म परिपालन योगम" की स्थापना की। इस आन्दोलन (एस.एन.डी.पी.) के तत्वावधान में दलितों के उद्धार और विकास के कई रचनात्मक कार्यक्रम हुए। इनमें से पब्लिक स्कूलों में दलितों के प्रवेश, मन्दिर में प्रवेश, सड़कों और मार्गों पर बिना रोक टोक आने-जाने के अधिकार तथा राजकीय आरक्षण के लिए किए गए प्रयत्न खास उल्लेखनीय हैं।

मुस्लिम समाज सुधार आंदोलन

अंग्रेज शासन काल में हिन्दू समाज के अलावा अन्य धर्मों के अनुयाइयों में भी सामाजिक सुधार की ओर थोड़ा बहुत ध्यान गया था। हालांकि इस दिशा में हिन्दू धर्म की तुलना में अन्य धर्मों के अनुयाइयों की प्रतिक्रिया हेतु चार प्रमुख आंदोलनों का यहाँ उल्लेख किया जा सकता है। ये हैं-

(1) अहमदिया आन्दोलन (2) अलीगढ़ आंदोलन (3) सर महमूद इकबाल द्वारा शुरू किया गया आंदोलन और (4) शेख अब्दुल हामिल शारर का आंदोलन

इन आन्दोलनों ने विश्व बन्धुत्व की भावना पर खास जोर दिया। साथ ही मुसलमानों में आधुनिक शिक्षा के प्रचार पर भी जोर दिया। सैयद अहमदखान के नेतृत्व में अलीगढ़ आन्दोलन चला और सन् 1890 में अलीगढ़ मुस्लिम युनिवर्सिटी की स्थापना हुई। इसके अलावा अखिल भारतीय मुस्लिम एज्यूकेशनल कॉन्फ्रेन्स का गठन भी हुआ था।

पारसी और सिक्ख समाज में सुधार आन्दोलन

पारसी धर्म के अनुयायिओं की संख्या अन्य धर्मों के अनुयायियों की तुलना में काफी कम है। इनकी संख्या और भी कम होती जा रही है। इस धर्म के कई लोगों का राष्ट्र निर्माण में अत्यन्त महत्व का स्थान रहा है। भारत में औद्योगीकरण के भीष्म पितामह जमशेद जी टाटा इसी धर्म के अनुयायी थे। अंग्रेजों के समय से ही "पारसी पंचायत" के आश्रय में महिलाओं तथा गरीब पारसियों के लिये शिक्षा तथा सहायता के अनेक कार्यक्रम अलग-अलग

जगह होते आए हैं। इसी तरह स्वास्थ्य तथा रहने के मकानों संबंधी कार्यक्रम भी सुचारू रूप से चलाये जा रहे हैं। पारसी पंचायत के द्वारा जटिल सामाजिक रिवाजों में सुधार लाने के प्रयत्न भी होते रहे हैं।

भारत के सामाजिक धार्मिक और राजकीय जीवन में सिक्ख धर्म का भी अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। हिन्दू धर्म के सामाजिक सुधार के आंदोलन का प्रभाव परोक्ष रूप से इस धर्म के अनुयायिओं पर भी पड़ता रहा है। इसके अतिरिक्त सिक्खों ने गुरुद्वारों के माध्यम से सामाजिक धार्मिक सुधार के अनेक काम किए हैं। सिक्खों में शिक्षा के प्रसार हेतु भी विशेष प्रयत्न हुए हैं। अमृतसर में खालसा कॉलेज की स्थापना भी इसी आशय से हुई थी।

इस प्रकार भारत में निश्चित विचारधारा को आधार बनाकर ब्रिटिश शासन काल में ही सामाजिक सुधार के अनेक आंदोलन शुरू हुए थे। इन आंदोलनों के फलस्वरूप तत्कालीन भारत में पड़े प्रभाव को कई दिशाओं में मुखरित होते हुए देखा जा सकता है।

राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन

भारत की राष्ट्रीय स्वतंत्रता का आन्दोलन सामाजिक परिवर्तन के वाहक के रूप में विश्व के महान आन्दोलनों में से एक है। सत्य घटनाओं पर आधारित इसका रोमांचक इतिहास है। वैचारिक आधार, सामाज के विविध आयामों से संलग्न उद्देश्य, नेतृत्व, संगठन, व्यूह रचना तथा परिणाम आदि से सशक्त यह आन्दोलन राष्ट्रीय इतिहास का एक अभिन्न अंग हो गया है।

17वीं तथा 18वीं शताब्दी में यूरोप के व्यापारियों ने भारत में अपना पूरा प्रभुत्व फैलाया था। सन् 1818 तक समूचे भारत में अंग्रेजों का साम्राज्य स्थापित हो गया था। अपने साम्राज्य की जड़ें मज़बूत करने के लिए अंग्रेजों ने "बाँटो और राज करो" की नीति अपनाई थी। मुसलमानों के विरूद्ध हिन्दुओं को तथा ज़ागीरदारों के विरूद्ध व्यापारिक वर्ग को उकसाया। अंग्रेजी शिक्षा और सरकारी नौकरियों के कारण भारत में पैदा हुए नये मध्यम वर्ग में से भी कई परिवारों ने अंग्रेजों को अपना साम्राज्य मज़बूत करने में मदद की थी। परन्तु कालान्तर में भारत के लोगों का पाश्चात्य संस्कृति से संपर्क बढ़ने लगा। इससे यहाँ पाश्चात्य मूल्यों और समाज व्यवस्था का प्रभाव बढ़ने लगा। अंग्रेजी शिक्षा के कारण पाश्चात्य साहित्य एवं उदारवादी विचारधारा से संपर्क हुआ। आर्थिक क्षेत्र में औद्योगिक विकास के परिणाम आने लगे। इन सभी घटनाओं के कारण भारतीय प्रजा में परंपरागत सामाजिक धार्मिक संकुचितता और राजकीय गुलामी के विरूद्ध नवजागृति आई। इसी नवजागृति से आगे चलकर सामाजिक सुधार के आन्दोलन तथा स्वाधीनता आन्दोलन का जन्म हुआ।

सन् 1828 में ब्राह्मण समाज की स्थापना के साथ ही भारत में राष्ट्रवाद की भावना का विकास होना प्रारंभ हो गया था। बाद में "ब्रिटिश इंडिया व सोसाइटी" तथा "ब्रिटिश इंडियन एसोशिएसन" की स्थापना से भी राष्ट्रवाद की भावना में गति आई। सन् 1857 के विद्रोह ने अंग्रजों

को इस बात का विश्वास दिला दिया कि ईस्ट इंडिया कंपनी पर केवल कुछ नियंत्रण लगा देना पर्याप्त नहीं होगा। अत: सन् 1858 में ब्रिटिश सरकार ने भारत की सत्ता अपने हाथ में ले ली। परन्तु राष्ट्र भावना की ज्योति एक बार प्रकट होने के बाद उत्तरोत्तर तीव्र रूप धारण करती गई।

भारतीय राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन की सबसे बड़ी महत्वपूर्ण घटना सन् 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना थी। इसके जन्मदाता सर ए. ओ. ह्यूम थे। वे इसे सामाजिक सुधारक की संस्था का रूप देना चाहते थे। परन्तु कांग्रेस ने राष्ट्रीय स्वतंत्रता का रूख किया, जो कि शांत और सकारात्मक था। अपने प्रारंभिक चरण में कांग्रेस का मुख्य प्रयास जनसामान्य में राष्ट्रीय एकता जागृत करने में लगा रहा। धीरे-धीरे राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम ज़ोर पकड़ता गया। साथ ही समय के बहाव के साथ स्वाधीनता संग्राम में कांग्रेस की भूमिका के बारे में इसके नेताओं में मतभेद होने लगे। इतना ही नहीं बल्कि कांग्रेस में नरम दल और गरम दल के रूप में दो गुट हो गए। नरम दल में दादा भाई नोरौजी, गोखले और सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी थे। ये ब्रिटिश राज्य के प्रति उदार तथा सहिष्णु विचार रखते थे। साथ ही संवैधानिक मार्गों से अपनी माँगें पूरी करवाने का आग्रह रखते थे। गरम दल का नेतृत्व बाल गंगाधर तिलक, बिपिनचन्द्र पाल और लाला लाजपत राय के हाथ में था। इन्हें ब्रिटिश सरकार के इरादों में विश्वास नहीं था। वे बहिष्कार, कानून भंग, प्रतिरोध तथा संघर्षवादी मार्ग के पक्ष में थे। तिलक ने तो कहा कि "राजकीय अधिकार तो लड़कर ही लिये जा सकते हैं।" अत: उन्होंने जनसामान्य को नारा दिया कि "स्वराज्य मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है और मैं उसे प्राप्त करके रहूँगा।"

इस तरह राष्ट्रीय कांग्रेस के नेताओं में वैचारिक मतभेदों के कारण स्वाधीनता आन्दोलन की व्यूह रचना में परिवर्तन आया। उदारवादी मार्ग के साथ-साथ उग्रवादी मार्ग भी अपनाया जाने लगा। दूसरी ओर सरकार का रूख भी ज्यादा सख्त हुआ। स्वतंत्रता सेनानियों को गिरफ्तार कर "काले पानी" की सजा भी दी जाने लगी। कांग्रेस में गरम और नरम दल के रूप में जो फूट पड़ी थी उसका ब्रिटिश सरकार ने पूरा-पूरा लाभ उठाया। हिन्दू-मुस्लिम के भेद को भी उकसाया। परन्तु सन् 1916 में कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन के वक्त दोनों दल एक हो गये। इससे स्वाधीनता आंदोलन के प्रवाह को प्रबल वेग मिला। ब्रिटिश सरकार के विरूद्ध राष्ट्रव्यापी हड़तालें तथा प्रदर्शन होने लगे। सरकार प्रजा के जोश और गुस्से को दबा देने के लिये हिंसा तथा दमन का सहारा लेने लगी। 23 अप्रैल 1919 को जनरल डायर के नेतृत्व में "जलियाँवाला बाग काण्ड" हुआ। इसमें कई निर्दोष लोग मारे गये।

सन् 1920 के पश्चात् राष्ट्रीय आंदोलन की बागडोर महात्मा गाँधी के हाथ में आ गई। अब कांग्रेस की राजनीतिक याचना की नीति का स्थान अहिंसात्मक संघर्ष ने लिया। गाँधी जी के नेतृत्व में राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन सत्य और अहिंसा के मार्ग पर आगे बढ़ने लगा। हिन्दू और मुस्लिम दोनों कंधे से कंधा मिलाकर अंग्रेजों के सामने बगावत में जुट गये। गाँधी जी ने ब्रिटिश

राज्य के विरूद्ध "असहयोग आंदोलन" छेड़ने का आदेश दिया। इसका लोगों पर भारी प्रभाव पड़ा। ब्रिटिश सरकार ने इसके प्रतिरोध में और भी दमनकारी कदम उठाये। चितरंजनदास, मोतीलाल नेहरू, लाला लाजपत राय, मौलाना आजाद आदि चोटी के नेताओं को बन्दी बना लिया गया। सरकार के हिंसात्मक व अत्याचारी कदमों से आन्दोलनकारी भड़के और उन्होंने भी हिंसात्मक कार्यवाही शुरू कर दी। गोरखुपर के पास चौरीचोरा नामक स्थल पर एक थानेदार तथा 29 पुलिस सिपाहियों को क्रुद्ध भीड़ ने जला डाला। यह देख गाँधीजी ने असयोग आन्दोलन समाप्त करने की घोषणा की। इससे आंदोलनकारियों में गाँधीजी के प्रति रोष पैदा हो गया। सरकार ने इसका लाभ लेकर गाँधीजी को बंदी बना लिया।

सन् 1924 में गाँधीजी जेल से बाहर आये तो कांग्रेस का वातावरण काफी बदल चुका था। चितरंजदास ने कांग्रेस से अलग होकर "स्वराज दल" की स्थापना की थी। इससे गाँधी जी को काफी आघात लगा। यहीं से उनके कार्यक्रमों ने नई दिशा ली। अब वे सामाजिक सुधार और रचनात्मक प्रवृत्तियों पर विशेष ध्यान देने लगे । विशेष तौर से दलितों, किसानों और महिलाओं की समस्याओं की ओर ध्यान देने लगे। सन् 1933 में दलितों के उद्धार के लिये लगभग दस माह तक गाँधी ने सारे देश का दौरा किया वे अस्पृश्यता को हिन्दू धर्म का कलंक मानते थे। सामाजिक सुधार के कार्यक्रमों को गाँधीजी ने तीन प्रमुख क्षेत्रों में बाँट दिया था- (1) हिन्दू-मुस्लिम एकता, (2) अस्पृश्यता निवारण, तथा (3) ग्रामोद्योग। इसके अतिरिक्त मद्य निषेध, बुनियादी शिक्षा, मातृभाषा एवं राष्ट्र भाषा का प्रचार प्रसार आदि को भी गाँधी जी ने रचनात्मक कार्यक्रम में महत्वपूर्ण स्थान दिया। गाँधीजी को समाज सुधार के इन कार्यक्रमों में अनेक राष्ट्रीय नेताओं का साथ मिला। बाबा साहेब अम्बेडकर, विनोबा भावे, पंडित जवाहरलाल नेहरू, आचार्य कृपलानी, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, सरदार बल्लभ भाई पटेल, सरोजनी नायडू, विजय लक्ष्मी पंडित तथा अन्य कई राष्ट्रीय नेताओं के योगदान ने इन रचनात्मक कार्यक्रमों को गति दी। गाँधीजी की तरह बाबा साहब अम्बेडकर का भी मानना था कि जब तक राष्ट्र स्वाधीन नहीं होगा तब तक दलितों की दशा सुधारना कठिन है। हालाँकि आगे चलकर गाँधीजी और बाबा साहब अम्बेडकर के बीच दलितों के उद्धार के रचनात्मक मार्ग के प्रश्न को लेकर तीव्र मतभेद भी खड़े हुए। फिर भी इन सभी विभूतियों को मूल हेतु राष्ट्रीय स्वाधीनता की बुनियाद को मजबूत करना पड़ा।

सन् 1933 से 1939 तक गाँधी जी जन-कल्याण के काम में पूरी तरह जुटे रहे। इसी बीच सन् 1935 में भारतीय शासन अधिनियम पारित हुआ। इसके फलस्वरूप सन् 1937 में भारतीय प्रांतीय धारा सभाओं के चुनाव हुए। इसमें कांग्रेस ने भी भाग लिया। ग्यारह प्रान्तों में से सात प्रान्तों में कांग्रेस की विजय हुई। परन्तु सन् 1939 में द्वितीय विश्व युद्ध के शुरू होने के साथ ही अंग्रेजों ने भारतीयों को बिना परामर्श किये इस युद्ध में शामिल कर लिया। इसके विरोध में प्रान्तीय सरकारों ने त्यागपत्र दे दिया इतना ही

नहीं बल्कि ब्रिटिश सरकार की असहयोगी नीतियों तथा चालों, को देखकर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने गाँधी जी को पुन: सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारंभ करने का अधिकार दे दिया। क्योंकि अब तक राष्ट्रीय नेताओं की निश्चित रूप से लगने लग गया था कि अंग्रेजों की नीयत में कोई फर्क नहीं आया है। अत: सन् 1940 में गाधीजी ने कांग्रेस का नेतृत्व करते हुए "व्यक्तिगत सत्याग्रह" शुरू कर दिया। इसे दबाने के लिये सरकार ने उग्र कदम उठाये। पर अब सरकार को लगने लगा था कि भारतीयों को संपूर्ण स्वराज के सिवाय कुछ भी कबूल नहीं था। मार्च 1942 में क्रिप्स भारत आये। उनके प्रस्तावों से भी कांग्रेस को कोई भरोसा नहीं हुआ। आखिर में 8 अगस्त, 1942 को गाँधीजी ने "भारत छोड़ो आन्दोलन" तथा "करेंगें या मरेंगे" की लड़ाई का आदेश दिया। दूसरे दिन गाँधी जी और अनेक नेताओं को गिरफ्तार किया गया। कांग्रेस को भी गैर कानूनी संस्था घोषित किया गया। इससे आन्दोलनकारियों में हिंसात्मक घटनायें भड़क उठीं। सरकार ने भी खुल कर दमन का दौर शुरू कर दिया। सन् 1944 में गाँधीजी को जेल से मुक्त किया गया। दूसरे नेता भी मुक्त हुए। आन्दोलनकारियों की बढ़ती हुई प्रवत्तियों की गंभीरता से परेशान हो 18 फरवरी 1945 को हुए नौका दल के बलवे के तुरन्त बाद ब्रिटेन ने "केबिनेट मिशन" भारत भेजा गया। भारत को स्वाधीनता देने की इसकी योजना कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग दोनों को पसंद आई। 2 सितम्बर 1945 को पंडित नेहरू के नेतृत्व में अंतरिम सरकार की स्थापना हुई। ब्रिटिश प्रधानमंत्री एटली ने घोषणा की कि सन् 1948 तक शासन की बागडोर भारत को सौंप दी जाएगी। इसी के साथ लार्ड बैवल के स्थान पर लार्ड माउन्टबेटन को भारत के गवर्नर जनरल के पद पर नियुक्त किया गया। यहाँ आने के बाद उन्हें लगा कि मुस्लिम लीग किसी भी तरह से अखण्ड भारत की व्यवस्था को स्वीकार करने को तैयार नहीं है। भारत का विभाजन ही एकमात्र उपाय लगा। अत: उन्होंने भारत के विभाजन की एक योजना बनाई। इस योजना के बारे में मुहम्मद अली जिन्हा तथा महात्मा गाँधी जी से बात की। साथ ही साथ 15 अगस्त 1947 को अंग्रेजों ने भारत छोड़ जाने की घोषणा भी कर दी। इस तरह वर्षों की गुलामी के बाद भारत के राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन को आजादी दिलाने में सफल हुए।

आदिवासी आन्दोलन

भारत में अनुसूचित जनजाति की जनसंख्या सन् 1991 की जनगणना के अनुसार 67,758,380 है जो कुल आबादी का 8.08 प्रतिशत भाग है। इन्हें गिरिजन, बनवासी, जनजाति, आदिम जाति आदि के नाम से भी जाना जाता था। स्वतंत्रता के बाद भारतीय संविधान की धारा 242 के अनुसार इनको अनुसूचित जनजाति की सूची में समाविष्ट किया गया है। इसके अनुसार संविधान की पाँचवीं सूची में कुल 427 आदिवासी जातियों को इस श्रेणी में रखा गया है। ये भारत के अलग-अलग प्रदेशों में पाये जाते हैं। उत्तर-पूर्व के अरुणाचल, असम, मेघालय, मणीपुर, मिजोरम, त्रिपुरा तथा नागालैन्ड के प्रदेशों में लगभग 11 प्रतिशत तथा मध्य के मैदानी और दक्षिण भारत के पठारी प्रदेशों में 89 प्रतिशत अनुसूचित जनजाति के लोग रहते हैं।

समय के प्रवाह के साथ अनुसूचित जनजातियों के लोग भी आर्थिक विकास और सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं से प्रभावित होते रहे हैं। इसके फलस्वरूप कई ऐसी परिस्थितियाँ भी उत्पन्न हुई हैं जो आदिवासी लोगों को रुचिकर न लगने के कारण उनके विरोध का कारण भी बनी है। विरोध की यह प्रक्रिया आदिवासी आन्दोलन के रूप में अलग-अलग प्रदेशों में पुराने समय से ही चली आ रही है।

प्रसिद्ध मानव शास्त्री के. एस. सिहं ने आदिवासी आन्दोलन के समग्र प्रवाह को तीन भागों में विभक्त किया है। एक सन् 1795 से सन् 1860 तक का भाग जो भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना का काल है। दूसरा भाग सन् 1860 से 1920 तक का है। इस समय में भारत में उपनिवेशवाद की जड़ें काफी मजबूत हो गई थी। व्यापारिक स्वार्थों से बनाई गई ब्रिटिश नीतियाँ आदिवासियों के भूमि और जंगल के साथ वर्षों से चले आ रहे संबंधों पर विपरीत प्रभाव डालने लगी थी। तीसरा भाग सन् 1920 से लेकर स्वतंत्रता के उदय तक का है। इस युग में आदिवासी एक तरफ आन्दोलन के माध्यम से अपना अलग राज्य स्थापित करने की माँग करने लगे और दूसरी तरफ राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम तथा कृषक आन्दोलनों में भी सम्मिलित होने लगे।

इन्हें **"मसिहाई आन्दोलन मेसीयाटिक मुवमेन्ट"** भी कहा जाता है। प्रायः यह देखा गया है कि आदिवासी आन्दोलन मसिहाई आन्दोलन के रूप में प्रारम्भ होते हैं। इनके कुछ मुख्य लक्षण निम्नांकित हैं :

मसिहाई आन्दोलन के केन्द्र में कोई ऐसा व्यक्ति स्त्री या पुरुष होता है जिसके प्रति ईश्वरीय दूत होने के भाव होते हैं।

उसके आदेशों को ईश्वरीय आदेश समझा जाता है अपने समाज के उद्धार के लिये उसे "मसीहा" मान उसके आदेशों के अनुसार समाज के भव्य भूतकाल का चित्र खड़ा किया जाता है। साथ ही शोषणखोर तथा प्रभुत्व प्राप्त तत्वों की सामाजिक सांस्कृतिक व्यवस्था का तिरस्कार कर एक भिन्न समानान्तर व्यवस्था खड़ी की जाती है,

इस प्रकार के आन्दोलन कारियों में सुदृढ़ सामुदायिक एकता के भाव होते हैं।

पश्चिम भारत में गुजरात के नायक आदिवासियों में रूपानायक तथा भील आदिवासियों में किशोर सिंह के नेतृत्व में सन् 1856-1860 में ऐसे आन्दोलन हुए थे। राजस्थान के भील आदिवासियों में भावजीगुरु ने इस तरह का आन्दोलन शुरू किया था।

इसी तरह बिहार के बिरसा आन्दोलन का एक 'मेसियाटिक मूवमेन्ट के रूप में यहाँ उल्लेख करना उचित होगा। इस आन्दोलन के प्रवर्तक बिरसा मुण्डा ने सन् 1895 में मुण्डा जनजाति के लोगों का आहवान करते हुए कहा कि सिंग बोंगा देवी ने उसे सपने में मुण्डा जनजाति की मुक्ति का संदेश दिया है और कहा है कि (अ) अब मुण्डा एक ही देव की पूजा करेंगें, (ब) पवित्र आचार-विचार का पालन करेंगे, (स) शराब और मांसाहार से दूर रहेंगे, तथा (द) हमेशा "जनेऊ" धारण करेंगे। इसके अलावा आगे चलकर नये-धर्म के माध्यम से हिन्दू तथा ईसाई धर्म का प्रचंड विरोध

किया। इतना ही नहीं, अपितु शोषणखोर जमींदारों, जागीरदारों, तथा ठेकेदारों के विरूद्ध शस्त्र उठाने का मार्ग भी बताया।

समय के साथ मैसियाटिक आन्दोलन सुधारवादी अथवा राजनीतिक विरोधवादी आन्दोलन का रूप ले लेते हैं। ये आन्दोलन आदिवासियों में राजनीतिक स्वतंत्रता और अपना अलग-अलग राज्य स्थापित करने की माँग से प्रेरित होकर चलाये जाते हैं। उत्तर-पूर्व के प्रदेशों में तथा बिहार के कुछ आदिवासियों में इस आशय से काफी समय से ऐसे आन्दोलन चलते आ रहे हैं। इन्हीं आंदोलनों के कारण झारखंड आज एक अलग राज्य का दर्जा पा सका है।

कुछ वर्षों पूर्व दक्षिण गुजरात के आदिवासियों में "स्वायत्त राज" की माँग को लेकर उठे आन्दोलन का उल्लेख भी यहाँ किया जा सकता है।

स्वतंत्रता के पूर्व भारत के कुछ आदिवासियों में परंपरागत सामाजिक बुराइयों तथा कुप्रथाओं को दूर करने के उद्देश्य से भी कुछ आन्दोलन हुए। विशेषत: उच्च जातियों के सम्पर्क के कारण उनके रीति-रिवाजों और मान्यताओं के अनुकरण के लिये इस प्रकार के आन्दोलन अस्तित्व में आते रहे हैं। उदाहरणार्थ बिहार, गुजरात, राजस्थान और मध्य प्रदेश में भगत आन्दोलन आदिवासियों द्वारा उच्च जातियों के सामाजिक-सांस्कृतिक रिवाजों के अनुकरण करने के प्रोत्साहन से जुड़ा था।

आदिवासियों के इस प्रकार के आन्दोलन जमीन और जंगल के प्रश्नों को लेकर उठाये जाते हैं। ये आन्दोलन अपने उद्देश्य तथा व्यूहरचना में कृषक आन्दोलन का ही एक रूप हो सकते हैं। ब्रिटिश शासनकाल की जमीन की नीतियों के कारण बिहार, बंगाल, मध्यप्रदेश, उड़ीसा, आन्ध्रप्रदेश, गुजरात और महाराष्ट्र में कई आदिवासी समूहों के जमीन और जंगल के परम्परागत अधिकार छीन लिये गये थे। यहाँ तक कि कई आदिवासी भूमिहीन मजदूरों की श्रेणी में आ गये थे। इस परिस्थिति के विरोध में आदिवासी जमीन से जुड़े परम्परागत अधिकार पुन: प्राप्त करने के प्रयास में लड़ते रहे।

कोल, ओरॉव, संथाल, मुण्डा तथा भील आदिवासियों में इस प्रकार के आन्दोलन होते आये हैं। अन्य कई प्रदेशों में भी आदिवासियों के इस प्रकार के आन्दोलन होते रहे हैं।

कृषक आन्दोलन

भारत एक कृषि प्रधान देश है। यहाँ की कुल आबादी के लगभग 70 प्रतिशत लोग कृषि तथा उससे संबंधित व्यवसायों पर निर्भर हैं। प्रसिद्ध समाज-शास्त्री थोरनर ने भारत के किसानों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है। एक, मालिक जो जमीन पर अपने स्वामित्व के कारण ही अपनी आय प्राप्त करते हैं। दो, किसान जो खेतों में स्वयं भी काम करते हैं। इनकी अपनी स्वयं की जमीन होती है। इनमें भी छोटे-बड़े किसान होते हैं। तीन, भूमिहीन मज़दूर जो दूसरों की ज़मीन पर मज़दूरी करके जीवन निर्वाह करते हैं।

वैसे परंपरागत भारतीय ग्राम जीवन में जाति-व्यवस्था और ज़जमानी प्रथा की ज़ोरदार पकड़ के कारण यहाँ का कृषक सीधा-सादा व भोला माना जाता रहा है। फिर भी भारत का कृषक अपने शोषण के विरूद्ध आवाज़ उठाता रहा है। केथलिन गफ (Kathleen Gaugh) का तो कहना है कि गत् दो शताब्दियों में 150 से भी अधिक कृषक विद्रोह प्रकट हुए हैं।

कृषक आन्दोलन के पीछे व्यापक राष्ट्रीय नव-जागृति से लेकर बाज़ार में कृषि उत्पादों के उचित दाम प्राप्त करने के उद्देश्य देखें जा सकते हैं। इसके अलावा राजनैतिक-आर्थिक विचारधारा क भी कृषक आन्दोलन के कुछ प्रमुख कारण इस प्रकार है : ...

जमींदारों द्वारा होते शोषण से मुक्ति प्राप्त करना। लगान के बढ़ते बोझ का विरोध करना। ज़मीन के स्वामित्व को बनाए रखने के प्रश्न को लेकर आन्दोलन करना। व्यापारी, ठेकेदार या इसी तरह के अन्य समान हितों वाले समूहों द्वारा कृषकों के शोषण व दमन का विरोध करना। राज्य से कृषि-विषयक विशेष सुविधाएँ प्राप्त करना तथा कृषि उत्पादों के उचित मूल्य प्राप्त करना।

कभी-कभी उपरोक्त कारणों में से एक से अधिक कारण लेकर भी कृषक आन्दोलन का जन्म हो सकता है। इसके अलावा जब कभी कृषकों की आर्थिक दशा में व्यापक स्तर पर गिरावट आती है, तब भी कृषक आन्दोलन की सबल पूर्व-भूमिका तैयार हो जाती है।

अब यहाँ आज़ादी के पहले के समय में हुए कुछ प्रमुख कृषक आन्दोलनों का संक्षिप्त परिचय करेंगे।

मोपला विद्रोह

यह कृषक विद्रोह दक्षिण भारत के पश्चिमी भाग के मालाबार प्रदेश में सन् 1635 से शुरू हुआ था। पुराने समय से ही इस प्रदेश में अरब व्यापारी व्यावसायिक उद्देश्य से आकर बसे थे। समयान्तर में इन विदेशी पुरुषों ने स्थानीय नायर तथा तियार जाति की स्त्रियों से विवाह करना शुरू किया। इस प्रकार के युगल की संतान को मोपला कहा जाने लगा। वे इस्लाम धर्म के अनुयायी होते थे। इनमें से ज्यादातर लोग गाँवों में कृषक के रूप में खेती से जुड़े थे।

परन्तु स्थानीय जमींदारों, व्यापारियों, ब्रिटिश शासक एवम् पुलिस के बीच सांठगांठ के ज़रिए मोपला कृषकों का शोषण होने लगा। वे अनेक तरह से इन तत्वों द्वारा अत्याचार के शिकार भी बनने लगे। समय के साथ मोपला लोगों में इसके विरूद्ध जागृती आई। इस्लामिक धार्मिक अस्मिता के आधार पर मोपला लोगों में एकता के भाव सुदृढ़ हुए। ब्रिटिश शासकों की भूमि लगान की नीतियों में परिवर्तन आता रहा, उसका भार भी किराये की जमीन पर खेती करने वाले तथा भूमिहीन मोपला मज़दूरों पर भी पड़ता था। उनमें लगभग 60 प्रतिशत से भी ज्यादा लोग कृषि पर आधारित थे, अतः सबसे ज्यादा भार उन्हें सहन करना पड़ा था।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद मोपला विद्रोह का साथ तत्कालीन व्याप्त खिलाफ़त आन्दोलन से जुड़ा। इससे मोपला विद्रोह ने धीरे-धीरे राजनैतिक रंग भी पकड़ा। अक्सर पुलिस और मोपला विद्रोहियों के बीच हिंसात्मक झड़प होती रहती थी। सन् 1929 में हुई ऐसी एक झड़प में लगभग 600 मोपला विद्रोही गोलियों के शिकार हुए। बाद में मोपला विद्रोहियों ने गोरिल्ला युद्ध के नुस्खे भी आजमाए। किन्तु दुर्भाग्य से मोपला विद्रोह ने साम्प्रदायिक रूप ले लिया। वास्तव में सन् 1930 के आस-पास मोपला-विद्रोह ने मुस्लिम लीग की तरफ हाथ बढ़ाना शुरू किया। इस प्रकार मोपला-विद्रोह की सम्पूर्ण काया बदल गई और

कृषक आन्दोलन के रूप में इसकी शायद ही कोई महत्वपूर्ण भूमिका बची रही।

किसान सभा

सन् 1933 से भारत के कुछ प्रान्तों में किसान सभाओं की स्थापना हुई। देश की आज़ादी की लड़ाई के साथ-साथ किसानों में भी राजनैतिक चेतना आई, और उन्हें अपनी सामूहिक शक्ति का एहसास होने लगा था। हालांकि प्रारंभ में ये किसान सभाऐं काफी असंगठित एवं ढीली-ढाली थी। सन् 1936 में अखिल भारतीय किसान सभा की स्थापना के साथ इसे राष्ट्रीय स्तर पर संगठित स्वरूप प्राप्त हुआ। 11 अप्रैल 1936 को "अखिल भारतीय किसान सभा का राष्ट्रीय अधिवेशन लखनऊ में हुआ। इस अधिवेशन में उसमें राष्ट्रवाद के सुर भी निहित थे।

लखनऊ अधिवेशन में पारित घोषणा-पत्र में किसान सभा के कई उद्देश्यों को अग्रस्थान दिया गया था। किसान सभा के ये उद्देश्य दीर्घकालीन थे। उदाहरण के लिए:-

(1) कृषकों और मजदूरों को आर्थिक शोषण से पूर्णतः मुक्ति दिलाना।
(2) आर्थिक व राजनैतिक सत्ता की डोर-कृषकों और मजदूरों के हाथ में देना।
(3) जमींदारी तालुकादारी, माल गुजारी और कृषि-विषयक अन्य कुप्रथाओं को संपूर्ण रूप से समाप्त करना।
(4) रैयतवाड़ी (**Raiyatbari**) व्यवस्था में भूमि के लगान की प्रथा को समाप्त करके क्रमशः भूमि कर की प्रथा लागू करना।

इसके अतिरिक्त कृषकों को तत्कालीन प्रभाव से आर्थिक लाभ हो सके इस आशय से कर्ज, लगान तथा कर आदि से छुटकारा दिलवाना भी किसान सभा के प्रमुख उद्देश्य रहे हैं। इसके अलावा खेती की पैदावार के उचित मूल्य दिलवाना तथा सिंचाई व अन्य सुविधाओं में वृद्धि करवाना भी किसान सभा के कार्यों में शामिल किया गया।

प्रारंभ से ही किसान सभा को बौद्धिक तथा राजनीतिक दृष्टि से सम्पन्न व्यक्तियों का नेतृत्व मिलता रहा है। पंडित मदन मोहन मालवीय, सहजानन्द सरस्वती, प्रोफेसर एन,जी, रंगा, नरेन्द्र देव इन्दूलाल याज्ञीक, बंकिम मुखर्जी, मुजफ्फर अहमद, कार्यानिन्द शर्मा तथा एम.ए. रसूल आदि किसान सभा के राष्ट्रीय स्तर के प्रमुख नेता रहे हैं।

किसान सभा के संगठन पर मार्क्सवादी विचारधारा का विशेष प्रभाव रहा है। इसी कारण भिन्न दर्शन और राजनीतिक विचारधारा पर राजनीतिक दलों के साथ किसान सभा की टक्कर होती रही है।

श्रमिक आन्दोलन

19वीं सदी के मध्य भाग में आधुनिक उद्योगों की स्थापना के बाद भारत में श्रमिक आन्दोलन का भी श्री गणेश हुआ। औद्योगिक पूँजीवाद के पनपने के साथ-साथ श्रमिकों के शोषण और काम की दशा के कारण उनकी हालत उत्तरोत्तर बिगड़ने लगी थी। तत्कालीन समाज सुधारकों का ध्यान भी श्रमिकों की दयनीय अवस्था की ओर जाने लगा था। वास्तव में आधुनिक औद्योगिक पूँजीवाद

की बुराईयों से मुक्ति प्राप्त करके अपने स्वार्थों की सुरक्षा करने हेतु श्रमिकों में भी धीरे-धीरे चेतना आने लगी थी। इस में वैचारिक स्तर पर फैली मार्क्सवादी तथा गाँधीवादी विचारधारा का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

भारत में श्रमिक आंदोलन की शुरूआत सन् 1877 में नागपुर की एक्सप्रेस मिल में हुई श्रमिकों की हड़ताल से मानी जाती है। बाद में यह प्रवृत्ति मुम्बई तथा चैन्नई में फैली जहाँ सन् 1982 से सन् 1990 तक के वर्षों में कुल 25 हड़तालें हुई। सन् 1890 में मुम्बई में मेद्याजी लोखण्डे ने 'बम्बई श्रमिक मंडल' की स्थापना की। उन्होंने श्रमिकों में वर्ग-चेतना लाने के लिये "दीनबन्धू" नाम की एक पत्रिका प्रकाशित करना शुरू किया। प्रारंभ में श्रमिक आंदोलन के तहत छोटे-बड़े स्थानीय प्रश्नों को लेकर ही ज्यादातर विरोध भड़क उठता था जो समस्या हल हो जाने के साथ ही शान्त हो जाता था।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद अन्य देशों की तरह भारत में भी श्रमिक आंदोलन ने गति पकड़ी। इस पर सन् 1917 की रूस की क्रान्ति और मार्क्सवादी विचारधारा का भी प्रभाव पड़ा। इन्ही वर्षों में "अंतरराष्ट्रीय श्रम संस्था" (आई. एल. ओ.) की स्थापना हुई। इन घटनाओं ने श्रमिक आंदोलन को वैचारिक तथा संगठित स्वरूप धारण करने में महत्वपूर्ण योगदान किया। अहमदाबाद में गाँधी जी ने "मजूर महाज़न" की स्थापना की तथा श्रीमती अनुसूया बहन ने कपड़ा उद्योग के श्रमिकों को संगठित किया। इस तरह सन् 1914 से 1925 तक के वर्षों में श्रमिक आंदोलन उत्तरोतर संगठित होता गया। श्रमिकों में राजनीतिक चेतना भी आने लगी। राष्ट्रीय स्तर पर "आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस" (AITUC) की स्थापना हुई। सरकार ने श्रमिक संगठनों की प्रवृत्तियों पर साम्यबादियों के बढ़ते हुए प्रभाव को देख कर कड़े कदम उठाने शुरू कर दिये। साम्यवादी श्रमिक नेताओं पर मुकदमें भी होने लगे। "मेरठ ट्रायल" के नाम से प्रसिद्ध ऐसा ही एक मुकदमा लगभग चार वर्ष तक चला था। श्रमिक आंदोलन के बढ़ते हुए रूख को देखकर सरकार ने सन् 1925 में "रॉयल कमीशन ओन लेबर" की स्थापना की।

सन् 1929 में नागपुर में "आईटुक" के अधिवेशन में श्रमिक नेताओं में मतभेद खड़ा हुआ जिसके फलस्वरूप अलग "इंन्डियन नेशल ट्रेड यूनियन कांग्रेस" (INTUC) की स्थापना हुई सन् 1929-30 की विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी के बाद श्रमिक आंदोलन को कुचल डालने के भी कई प्रयास हुए। परन्तु सन् 1935 में प्रान्तीय सरकारों के गठन के बाद श्रमिक संगठनों की प्रतियों को वैधानिक ठहराया जाने लगा। दूसरे विश्व युद्ध के बाद श्रमिकों के वेतन और सुविधाओं की ओर ध्यान दिया जाने लगा। औद्योगिक झगड़ों को निपटाने के लिए "समाधान समिति", "ट्रीब्यूनल", जाँच-अदालत आदि की स्थापना की जाने लगी। इसी तरह "सामूहिक सौदा पद्धति" और "मध्यस्थी" की व्यवस्था खड़ी की गई। सरकार श्रमिकों के वार्षिक अधिवेशन को भी महत्व देने लगी। अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक परिषद् में भारत के श्रमिकों को प्रतिनिधित्व करने का अवसर मिलने लगा। इस तरह भारत की आजादी के समय तक श्रमिक आंदोलन कई उतार-चढ़ाव के बावजूद एक व्यवस्थित स्वरूप प्राप्त करने में सफल हुआ। ज्यादा से

ज्यादा श्रमिक संगठित यूनियनों की सभाओं में भाग लेने लगे। महिला श्रमिक भी यूनियनों की तरफ आकर्षित होने लगी। छोटे-छोटे श्रमिक संगठन आपस के मनमुटाव भूलकर वृहद संगठन के तले आने लगे। इन सभी प्रवाहों के कारण श्रमिक आंदोलन मजबूत होता गया, और इसकी शक्ति की अवहेलना करना असंभव हो गया। हालांकि सामाजिक परिवर्तन के एक सबल स्रोत के रूप में श्रमिक आंदोलन को ठोस उपायों द्वारा वैचारिक और रचनात्मक दिशा देने की आज भी नितांत आवश्यकता है।

अन्त में सामाजिक आन्दोलन का अर्थ तथा इसके विभिन्न आयामों का विस्तार से वर्णन करने के बाद यहाँ संक्षेप में कहा जा सकता है कि सामाजिक परिवर्तन के कारक और परिणाम के रूप में यह एक सशक्त सामाजिक माध्यम है। इनके फलस्वरूप समाज के विभिन्न पहलूओं में क्रमिक परिवर्तन से लेकर आमूल परिवर्तन की संभावनाएँ परिपक्व होती हैं। कभी-कभी एक आन्दोलन का भी नई-नई परिस्थितियों के संदर्भ में रूपान्तर हो जाता है।

परंपरागत भारत में सामाजिक सुधार व राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन के अतिरिक्त आदिवासी, कृषक तथा श्रमिक वर्ग के आंदोलनों ने भारतीय समाज के ढाँचे में आधारभूत परिवर्तन लाने में योगदान दिया है। इनके फलस्वरूप जन सामान्य में केवल बौद्धिक चेतना आई पर वास्तविक सामाजिक परिस्थितियों में भी स्वतंत्रता हुई। इन्हीं नये सामाजिक-सांस्कृतिक मानदण्डों के आधार पर आज़ादी के बाद राष्ट्र के नवनिर्माण के संवैधानिक मार्ग को अपनाया गया है।

परिवार, विवाह और नातेदारी 14

हम सब किसी न किसी परिवार के सदस्य अवश्य हैं। परिवार में हमारे भाई-बहिन हैं, माता-पिता हैं और शायद दादा-दादी भी हैं। परिवार में जहाँ हमारे भाई हैं, वहीं भाभी और चाची भी है। ये सब हमारे नातेदार हैं। सच्चाई यह है कि परिवार एक नातेदारी समूह है। उधर हमारी भाभी और चाची किसी अन्य परिवार से आयी है। उनके परिवार में उनके भाई-बहिन और उनके माता-पिता हैं। इनको हम विवाह संबंधी नातेदार कहते हैं। देखा जाए तो समाज के सदस्यों के व्यवहार मुख्य रूप से इन नातेदारों के इर्द-गिर्द घूमते हैं। ये नातेदार हमेशा मिल-जुलकर रहते हो ऐसा नहीं हैं, ऐसे अवसर भी आते हैं जब इनके बीच में वैमनस्य पैदा हो जाता है। कभी-कभी परिवार की सम्पत्ति को लेकर संघर्ष भी हो जाता है, कोर्ट-कचहरी भी हो जाते हैं। यह सब होते हुए भी सहयोग की भावना इतनी तीव्र होती है कि हम इन नाते-रिश्तों के संघर्ष के समय दुःखी हो जाते हैं और इनके सुख में प्रसन्न हो जाते हैं। चाची बीमार हो जाती है, तो परिवार के सभी लोग घर और दवाखाने के बीच में दौड़ते रहते हैं। दादा की रात भर चलने वाली खाँसी परिवार के सदस्यों के लिये परेशानी पैदा कर देती है। देखा, आपने कि परिवार कई प्रकार के नातेदारों से बना है ये हैं: रक्त संबंधी नातेदार और विवाह संबंधी नातेदार।

यदि हम अपने परिवारों को थोड़ा विश्लेषण की दृष्टि से देखें तो ज्ञात होगा कि इसमें कुछ नातेदार ऐसे हैं जो हमारे रक्त संबंधी हैं। इनके साथ हमारा वंश संबंध है। हम सपिण्ड हैं। हम सगौत्र हैं। हमारे दादा-दादी, भाई-बहिन ऐसे ही नातेदार हैं। लेकिन हमारी भाभी और चाची के नातेदार हमारे विवाह संबंधी नातेदार हैं। इन नातेदारों के साथ हमारा विवाह संबंध है। रक्त संबंधी व विवाह संबंधी नातेदार विविध सामाजिक संबंधों का एक जाल बनाते हैं।

संबंधों का यह जाल जैविकीय है लेकिन समाज में इनका महत्व सामाजिक संबंधों को लेकर हैं। देखा जाये तो परिवार, विवाह, और नातेदारी अपने मूल में जैविकीय हैं। लेकिन समाज में इनका महत्व सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से है। जब परिवार या रिश्तेदारों में किसी बच्चे का जन्म होता है तो सामाजिक मानकों का निर्वाह करते हुए हमें कुछ उपहारों का आदान-प्रदान

करना पड़ता है। ऐसा करना समाज की परम्परा के अनुसार हमारा कर्तव्य है। इस दृष्टि से कौन नातेदार या रिश्तेदार हमारे कितना निकट है, इसका निर्धारण सामाजिक संबंधों के आधार पर होता है। कुछ नातेदारों के साथ हमारे संबंध अधिक प्रगाढ़ होते हैं, दूसरों के साथ दूर के।

ऊपरी दृष्टि से देखें तो हमें नातेदारी व्यवस्था बड़ी सामान्य दिखायी देती है। वास्तविकता यह नहीं है। ईरावती कर्वे ने भारत में नातेदारी संगठन पर बहुत अच्छा और अधिकृत अनुसंधान कार्य किया है। उन्होंने भारत की नातेदारी व्यवस्था के नियम, आचार और इसकी शब्दावली को तैयार किया है। कर्वे रक्त संबंधी और विवाह संबंधी नातेदारी के आधार पर देश को चार क्षेत्रों में बाँटते हैं: 1. उत्तरी 2. मध्य 3. दक्षिणी, और 4 पूर्वी। मुख्य रूप से नातेदारी की दृष्टि से उत्तरी और दक्षिणी क्षेत्र बहुत महत्वपूर्ण है। इन दोनों क्षेत्रों में कुछ समानताएँ हैं। सभी जगह अधिमान्य विवाह को स्वीकार किया जाता है। इसका मतलब है कुछ नातेदारों के साथ विवाह करना पसंद किया जाता है। दोनों ही क्षेत्रों में भाई-बहिन के साथ विवाह निषेध है। इन समानताओं के होते हुए भी उत्तर और दक्षिण के नातेदारों के क्षेत्रों में बहुत बड़ा अन्तर है। उदाहरण के लिये उत्तरी क्षेत्र में परिवार पितृवंशीय व पतिस्थानिक होते हैं जबकि पितृवंशीय परिवारों की प्रधानता होते हुए भी दक्षिण क्षेत्र में कुछ समुदायों में मातृवंशीय व पत्निस्थानिक परिवारों का प्रभुत्व होता है। यहाँ संयुक्त परिवार थारवाड़ कहे जाते हैं। उत्तरी क्षेत्र में सपिण्ड विवाह निषेध है जबकि दक्षिण में मामा-भानजी विवाह को अधिमान्य यानी पसंदगी का विवाह समझा जाता है। उत्तर में कन्या विनिमय विवाह मान्यता नहीं रखता। दक्षिण में इस तरह के विवाह का सामान्य प्रचलन है। देखा जाय तो जहाँ उत्तरी भारत में रक्त संबंधियों और विवाह संबंधियों के लिए पृथक्-पृथक् शब्द हैं वहाँ दक्षिण में दोनों प्रकार के संबंधियों के लिए एक ही शब्द है। उत्तर दक्षिण की नातेदारी व्यवस्था में कुछ बुनियादी अन्तर के होते हुए भी यह कहा जाना चाहिये कि दोनों क्षेत्रों में पितृवंशीय नातेदारों की प्रधानता है।

हमारा यह आग्रह है कि देश में नातेदारी व्यवस्था बड़ी जटिल है। उत्तर व दक्षिण की नातेदारी व्यवस्थाओं में तो अन्तर है ही लेकिन देश में कई ऐसे सांस्कृतिक समूह हैं जिनकी नातेदारी व्यवस्था दूसरों से भिन्न है। हमारे यहाँ बहुल संस्कृतियाँ हैं। मुसलमानों की नातेदारी व्यवस्था हिन्दुओं से भिन्न है। पारसियों में इस व्यवस्था का अलग स्वरूप देखने को मिलता है। अनुसूचित जनजातियों में इस व्यवस्था का प्रारूप उनकी संस्कृति के अनुकूल है। यद्यपि इन समूहों में बहुपत्नी व्यवस्था कमजोर हो रही है, फिर भी इसका प्रचलन है। ये सब तथ्य इस बात को बताते हैं कि सम्पूर्ण देश की नातेदारी व्यवस्था में बड़ी विविधता है। यहाँ हम नातेदारी की मुख्य धारा को ही देखने का प्रयास करेंगें।

नातेदारी व्यवस्था इतनी विशाल है कि इसके विन्यास में परिवार और विवाह दोनों आ जाते हैं। यहाँ हम सिलसिले से परिवार, विवाह और नातेदारी पर विशद चर्चा करेंगें। यद्यपि ये सभी संस्थाएँ परस्पर एक-दूसरे से बंधी हुई हैं फिर भी इन्हें पृथक करके देखने का प्रयास किया जा सकता है।

परिवार, विवाह और नातेदारी का ताना-बाना भारत के शहरी और देहाती सामाजिक जीवन में बहुत महत्वपूर्ण है। आदमी की पहचान ही उसके परिवार, नातेदारी और जाति पर निर्भर है। प्रत्येक समाज की अपनी एक संरचना होती है। समाज के सदस्यों के व्यवहार को संचालित करने के लिये, समाज के कुछ नियम-उपनियम, रीति-रिवाज और प्रतिमान होते हैं। सदस्यों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे समाज द्वारा मान्यता प्राप्त व्यवहारों को काम में लायें। यह समाज ही निश्चित करता है कि हमें वृद्धजनों के साथ आदर और सम्मान का व्यवहार करना चाहिये, अपने से छोटों के साथ स्नेह पूर्ण व्यवहार रखना चाहिए और दूसरे लोगों के साथ सहयोग की भावना रखनी चाहिए। लेकिन कोई भी समाज अपने आकार-प्रकार और व्यवहार में स्थिर नहीं होता। उसमें गतिशीलता बराबर बनी रहती है। इस दृष्टि से शीघ्रता से बदलने वाले समाज में मानव व्यवहार को संचालित करने के लिये परिवार, विवाह और नातेदारी का अध्ययन महत्वपूर्ण है।

इस तरह के अध्ययन के महत्व का एक और कारण भी है। किसी भी समाज की संस्कृति और सांस्कृतिक धरोहर को पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे ठेलने के लिये परिवार का योगदान महत्वपूर्ण होता है। समाज के तौर-तरीकों को सीखने की प्रक्रिया परिवार से ही प्रारंभ होती है। और परिवार नातेदारी के आधार पर बना हुआ एक समूह है जिसमें बच्चों को समाज मान्यता प्राप्त व्यवहार को अपनाने के लिये शिक्षा दी जाती है। परिवार, विवाह और नातेदारी का यह एक और महत्वपूर्ण आयाम है जिसका आधार समाजीकरण है। इस आयाम का भी अध्ययन होना चाहिए।

हिंसा, अपराध, धूम्रपान आदि कुछ ऐसे व्यवहार हैं जो समाज के विकास में बाधक होते हैं। कोई भी समाज इन व्यवहारों को आदर और सम्मान की दृष्टि से नहीं देखता। इन पर अंकुश लगाना आवश्यक होता है। यह सामाजिक नियंत्रण की एक प्रक्रिया है। दिन-प्रतिदिन के व्यवहार पर नियंत्रण रखने का उत्तरदायित्व परिवार का होता है। आगे चलकर उपेक्षित व्यवहारों पर नातेदार और रिश्तेदार भी अपना अंकुश रखते हैं। अत: किसी भी सामाजिक विश्लेशण में परिवार, विवाह और नातेदारी का अध्ययन बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

अब परिवार की संस्था पर थोड़ा विस्तार से देखेंगे।

परिवार

परिवार समाज की प्राथमिक इकाई है। प्राथमिक इसलिये कि मनुष्य परिवार में ही जन्म लेता है। इसी समूह में वह भाषा, व्यवहार तथा सामाजिक प्रतिमानों को सीखता है। इस अर्थ में परिवार एक सार्वभौम समूह है। यह समूह जनजातियों, ग्रामीण और नगरीय समुदायों में, सभी धर्मों के मानने वालों तथा सभी संस्कृतियों में जाया जाता है। भारत में परिवार समूह का विश्लेषण कई समाज शास्त्रियों और मानव शास्त्रियों ने किया है। हमारे यहाँ इसे परिभाषित करना इतना सरल नहीं है। जितना हम समझते हैं। देखा जाये तो यहाँ इसकी परिभाषा विवादास्पद हो गई है। ऐसा होने के कई कारण हैं। कुछ विद्वानों ने परिवार की व्याख्या प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर की है। यहाँ शास्त्रीय, साहित्यिक परम्पराओं का अभाव नहीं है। इस

कारण कुछ समाजशास्त्रियों ने भारतीय सामाजिक संस्थाओं के वैचारिक और विधिक आधारों की व्याख्या के लियें प्राचीन शास्त्रों का सहारा लिया है। ऐसे व्याख्याकारों में गोविन्द सदाशिव धुर्ये, इरावती कर्वे, पंढारीनाथ प्रभु, क्षितीश प्रसाद चट्टोपाध्याय तथा के.एम. कापड़िया सम्मिलित हैं। ये विचारक समाजशास्त्री होने के अतिरिक्त संस्कृत भाषा और साहित्य के विद्वान भी थे। घुर्ये और दरावती कर्वे ने परिवार की व्यवस्था पर भी, ट्राटमैन जैसे विद्वानों ने द्रविड़ भाषा के आधार पर बहुत कुछ लिखा है। इन विद्वानों में पंढारीनाथ प्रभु भी संस्कृत भाषा के शास्त्रों के बहुत अच्छे व्याख्याकार थे। उन्होंने विवाह, परिवार, हिन्दू महिला की प्रस्थिति आदि पर वेदों, महाकाव्यों और धर्म शास्त्रों के आधार पर प्रमाणित सामग्री को जुटाया है। के. एम. कापड़िया की एक और विशेषता रही है। उन्होंने भारत में परिवार और नातेदारी का अध्ययन जहाँ संस्कृत साहित्य के आधार पर किया है, वहीं उन्होंने आनुभविक अध्ययन का पर्याप्त प्रयोग किया है।

परिवार की व्याख्या के विवादास्पद होने का एक और कारण भी है। कुछ विद्वान ऐसे हैं जो मूल में सामाजिक मानवशास्त्री हैं और उन्होंने इसी नजरिए से परिवार का विश्लेषण किया है। इन मानव शास्त्रियों ने परिवार को वंशक्रम तथा विवाह संबंधों के आधार पर देखा है। इनका दृष्टिकोण सांस्कृतिक हैं। और ऐसे व्याख्याकारों में इरावती कर्वे, बी. आर. अग्रवाल, आई.पी. देसाई आदि का नाम सम्मिलित किया जाता है। परिवार की किसी भी व्याख्या में यह निर्धारित करना आवश्यक है कि हम इसे किस नजरिये या संदर्श से देखते हैं। आई.पी. देसाई इस तरह के विवाद से बचते हैं। और केवल यह कहते हैं कि भारत में परिवार का मतलब अनिवार्य रूप से परिवार ही है। और वह आगे कहते हैं कि यह परिवार अनिवार्य रूप से संयुक्त परिवार ही हैं। अत: उनकी दृष्टि से भारत में परिवार का मतलब संयुक्त परिवार से ही है। 'संयुक्त' पद का प्रयोग पाश्चात्य समाजशास्त्रियों ने किया है। भारतीय समाज में तो हमेशा परिवार की व्याख्या संयुक्त परिवार के अर्थ में ही की गयी हैं इसकी परिभाषा से जुड़े हुए विवाद को हम थोड़े खुलासे से देखेंगे।

परिभाषा

इरावती कर्वे (1953) ने परिवार की व्याख्या बड़े स्पष्ट और व्यवस्थित रूप में की है। उन्होंने संस्कृत भाषा के अपने ज्ञान के आधार पर प्राचीन शास्त्रों जैन धर्मग्रन्थों, न्याय पुस्तकों, और महाकाव्यों यानी रामायण और महाभारत के आधार पर परिवार की व्याख्या की है। कहना चाहिये कि परिवार की उनकी यह व्याख्या सब से अधिक सटीक और शास्त्रीय है। वे कहती हैं "संयुक्त परिवार लोगों का वह समूह है जिसके सदस्य एक छत के नीचे रहते हैं, एक चूल्हे से पके खाने को खाते हैं, जिनकी सम्मिलित सम्पत्ति होती है। और जो परिवार की सामान्य पूजा में भागीदार होते हैं। ये सब सदस्य आपस में सपिण्ड होते हैं।

इरावती कर्वे की संयुक्त परिवार की परिभाषा बहुत संक्षिप्त होते हुए भी बहुत विशद है। इसकी गहनता को हम थोड़े विस्तार से देखें।

(1) संयुक्त परिवार के सदस्य सामान्यतया एक ही छत के नीचे रहते हैं :

सन् 1921 की जनगणना के अनुसार बंगाल में कुछ ऐसे संयुक्त परिवार थे जिनके सदस्यों की संख्या 500 से भी अधिक थी। संयुक्त परिवार बहुत बड़े होने पर छोटी इकाइयों में बंट जाते थे। ऐसा होने पर भी ये इकाइयाँ पूजा - उपासना में सम्मिलित होती थी। सभी का चूल्हा एक ही होता था और भोजन भी एक ही कक्ष में होता था। बाद में चलकर कर्वे कहती हैं कि ये विशाल संयुक्त परिवार, छोटे-छोटे संयुक्त परिवार की इकाईयों में बदल गये। कभी-कभी दूर रहकर भी ये छोटे संयुक्त परिवार अपने मूल परिवार के संबंध जोड़े रखते थे। इस मूल परिवार को वे घराना या घर कहते थे। कर्वे के अनुसार संयुक्त परिवार की बहुत बड़ी विशेषता इसके सदस्यों का एक ही छत के नीचे रहना है।

(2) संयुक्त परिवार के सदस्य एक ही चूल्हे का पका हुआ खाना खाते हैं :

संयुक्त परिवार के मुखिया की पत्नी, परिवार की अन्य स्त्रियों के साथ में सामान्य चूल्हे के भोजन की देख-रेख रखती हैं। परिवार के पुरुष और स्त्री एक साथ बैठकर भोजन नहीं करते। ऐसे परिवारों की परम्परा तो यह रही है कि स्त्रियाँ पहले पुरुषों को भोजन परोसती हैं और बाद में वे स्वयं खाती हैं।

(3) संयुक्त परिवार के सदस्यों की सम्मिलित सम्पत्ति होती है :

जिसे हम परम्परागत संयुक्त परिवार कहते हैं, उसमें परिवार के सदस्य स्वयं ही उत्पादन करते थे और स्वयं ही उपभोग। इन परिवारों में जो भी सम्पत्ति होती थी उस पर सभी का समान हिस्सा था। बाद में चलकर सम्पत्ति के बंटवारे को लेकर कई कानून बने लेकिन जब तक बंटवारा नहीं हो जाता सिद्धांत रूप से सम्पत्ति में सभी सदस्यों की हिस्सेदारी थी। सम्पत्ति के हिस्सेदारी के परम्परागत नियमों में मिताक्षरा और दायभाग महत्वपूर्ण हैं। इनका उल्लेख हम आगे चलकर करेंगे।

(4) परिवार के सदस्य सामान्य पूजा-पाठ में भागीदार होते हैं :

हिन्दुओं की मान्यता के अनुसार संसार के कर्ता के कई स्वरूप हैं। इस दृष्टि से प्रत्येक परिवार के अपने निश्चित इष्ट देव होते हैं, कुलदेव होते हैं। परिवार के इन देवी-देवताओं की उपासना कुछ विशिष्ट अवसरों पर अवश्य की जाती है। ये अवसर मुख्यतया जन्म, विवाह और मृत्यु से जुड़े होते हैं। परिवार के सदस्य रोज न सही किन्हीं विशिष्ट अवसरों पर परिवार के देवी-देवताओं की पूजा अवश्य करते हैं।

(5) परिवार के सदस्य एक दूसरे के सपिण्ड होते हैं :

जब परिवार को गोत्र और पिण्ड की दृष्टि से देखते हैं तो हमारे सामने कई कठिनाइयाँ आ जाती हैं, वास्तव में हमारे देश में परिवार का जिस भाँति उद्विकास हुआ है, इसके अनुसार यहाँ परिवार की दो परम्पराएँ हैं, एक पितृवंश परम्परीय (Patrilineal) है और दूसरी मातृवंश परम्परीय (Metrilineal) दक्षिण भारत के कतिपय राज्यों में मातृवंशीय परम्परा है जबकि उत्तर भारत के राज्यों में पितृवंशीय परम्परा। परिवार की इन दो परम्पराओं

में व्यवहार के प्रतिमान बदल जाते हैं। जहाँ पितृवंशीय परिवार होते हैं, वहाँ पिता के वंश क्रम से व्यक्ति की सदस्यता स्वीकार की जाती है। जबकि मातृवंशीय परिवार में वंश का निर्धारण माँ के वंश के आधार पर किया जाता है। यह महत्वपूर्ण बात है कि पितृवंशीय परम्परा की श्रेणियों में केवल पुरुष संतान (पुत्र) ही नहीं वरन् महिला संतान (पुत्री) भी शामिल है। इस तरह पुत्र और पुत्री दोनों ही पिता की पितृवंशीय परम्परा के सदस्य होते हैं। इन परिवारों में केवल पुरुष संतान के माध्यम से पिता का वंश आगे चलता है। मातृवंशीय परम्परा में माँ की पहली संतान के माध्यम से पिता का वंश आगे चलता है। मातृवंशीय परम्परा में माँ की महिला संतान (पुत्री) एवं पुरुष संतान (पुत्र) दोनों शामिल हैं, किन्तु केवल पुत्री ही अपनी महिला संतान के माध्यम से माँ का वंश आगे चलाती है।

मातृवंशीय परम्परा में विवाह के नियम भिन्न होते हैं। इन परिवारों में मामा तथा ममेरी - फुफेरी संतानों में विवाह की परम्परा है। ऐसे विवाह में पति-पत्नी के संबंध अधिक प्रगाढ़ होते हैं और जब एक लड़की अपने नातेदार के साथ विवाह करती है तब उसे ससुराल में रहना विचित्र नहीं लगता। विवाह के बाद वास्तव में वह अपने चाचा या मामा के घर पर रहती है और यहाँ उसे कुछ भी नया नहीं लगता। इस तरह की मातृवंशीय परम्परा के विपरीत पितृवंशीय परिवार में नातेदारों के संबंध दूसरी तरह के हो जाते हैं। यहाँ बहु के लिए ससुराल में सभी लोग अपरिचित होते हैं। वह तो एक अन्य सपिण्ड परम्परा की होकर अपने पति के सपिण्ड व्यवस्था की सदस्य बन जाती है। अत: कर्वे के अनुसार हिन्दू संयुक्त परिवार वस्तुत: एक ही सगोत्र और सपिण्ड सदस्यों का समूह है।

इरावती कर्वे ने संयुक्त परिवार की व्याख्या बहुत ही स्पष्ट और संक्षेप में की है। लेकिन संयुक्त परिवार के अध्ययन की यह एक प्रारंभिक कड़ी है। बाद में कई समाजशास्त्रियों ने इस समूह की अपने-अपने ढंग से व्याख्या की है। उदाहरण के लिये के. एम. कापड़िया (1963) ने संयुक्त परिवार की व्याख्या शास्त्रीय और ऐतिहासिक संदर्भ में करते हुए इसके कतिपय लक्षणों पर जोर दिया है। उनका कहना है कि हिन्दू परिवार का समूचा इतिहास इस तथ्य को बताता है कि इसमें दो या दो से अधिक पीढ़ियाँ पाई जाती हैं। परिवार के इस स्वरूप में सम्पत्ति पर आधिपत्य भी संयुक्त होता है। ऐसा परिवार जहाँ तक संभव हो एक ही छत के नीचे निवास करता है। कापड़िया का कहना है कि परम्परागत हिन्दू संयुक्त परिवार में कई परिवर्तन आये हैं ; उत्तराधिकारी के नियम बदले हैं, दायभाग की परम्परा में परिवर्तन आया है और फिर भी हिन्दू भावनाएँ आज भी संयुक्त परिवार के पक्ष में हैं। संयुक्त परिवार की परिभाषा में महत्वपूर्ण योगदान आई.पी.देसाई का है। देसाई ने सोराष्ट्र के महुआ कस्बे का गहन अध्ययन किया है। उन्होंने अपने अध्ययन के निष्कर्षों को **सम आस्पेक्ट् ऑफ फेमिली इन महुआ** (1964) में प्रस्तुत किया है। संयुक्त परिवार के अध्ययन और उसकी व्याख्या में देसाई का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह इसलिये कि वे संयुक्त परिवार की व्याख्या परम्परा से हटकर करते हैं। उनका

कहना है कि संयुक्त परिवार न तो सम्मिलित निवास पर निर्भर करता है और न ही आकार पर। ब्रिटिश काल में जब सम्पत्ति के विवाद जो परिवार से जुड़े होते थे, अदालत में आने लगे, तब परिवार को सम्पत्ति के आधार पर देखा जाने लगा। देसाई विशुद्ध समाजशास्त्रीय दृष्टि से परिवार की व्याख्या करते हैं। उनका कहना है कि परिवार संयुक्त इस अर्थ में हैं कि इसके सदस्य जन्म, विवाह और मृत्यु पर अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों का पारस्परिक रूप से पालन करते हैं। उदाहरण के लिये संयुक्त परिवार के सदस्यों के व्यवहार परिवार, वंश परम्परा और गोत्र के घेरे में घूमते हैं। इस अर्थ में, देसाई के अनुसार परिवार एक ऐसा समूह है जो नातेदारों की अन्त:क्रियाओं का सम्मिलित स्वरूप है। ये अंत:क्रियाएँ सहयोग, प्रतियोगिता और संघर्ष की होती है। अत: संयुक्त परिवार केन्द्रीय परिवार से भिन्न इसलिये है कि इसमें सदस्यों के व्यवहार परिवार से भी बाहर के लोगों के साथ जुड़े होते हैं। देसाई परिवार के निर्धारक तत्वों में सम्पत्ति को आधार नहीं बनाते। इरावती कर्वे की तरह वे संयुक्त चूल्हा और सम्पत्ति को भी आधार नहीं मानते। उनका संयुक्त परिवार का आधार पारस्परिक संबंध है। अत: वे संयुक्त परिवार को संयुक्तता (Jointness) के आधार पर देखते हैं। महत्वपूर्ण बात यह है कि संयुक्त परिवार के सदस्यों के संबंध यदि पति-पत्नी और उनके बच्चों से भी आगे बढ़ते हैं, तो वे लोग संयुक्त परिवार के सदस्य हैं।

संयुक्त परिवार की परिभाषा में आई.पी. देसाई के महुआ के अध्ययन को बड़ी गम्भीरता से लिया जाता है। परिवार संयुक्त है या केन्द्रीय इसका वे एक ही पैमाना निर्धारित करते हैं। और यह पैमाना क्रियाओं के अभिस्थापन (Orientation of actions) का है। परिवार के सदस्य जिन लोगों के साथ अपना संबंध रखते हैं वे सभी लोग संयुक्त परिवार को बनाते हैं। इसके लिए देसाई ने एक उदाहरण दिया है। परिवार के मुखिया की विवाहित बहिन मुंबई में रहती है। उसकी आर्थिक स्थिति खराब है। मुखिया अपनी बहिन को आर्थिक सहायता देता है। इसी भाँति मुखिया अपनी भाभी की बीमारी में जो पृथक निवास करती है सहायता करता है न तो विवाहित बहिन और न ही भाभी मुखिया के साथ एक ही छत के नीचे रहते हैं, न ही एक ही चूल्हे से खाते हैं, न ही परिवार की सम्पत्ति में उनकी कोई भागीदारी है फिर भी वे मुखिया के परिवार को संयुक्त परिवार बनाती है। सामाजिक संबंध और सदस्यों की क्रियाओं के अभिस्थापन संयुक्त परिवार के निर्णायक तत्व हैं।

अरविन्द शाह (1973) संयुक्त परिवार की व्याख्या बड़े उदार अर्थों में करते हैं। परिवार और घर (Household) के अन्तर को स्पष्ट करते हैं। उनका कहना है कि सन् 1951 की जनगणना ने सबसे पहली बार घर और परिवार को एक ही अर्थ में लिया। इसी कारण कई बार घर को परिवार समझा जाने लगा। अरविन्द शाह ही नहीं आई. पी. देसाई ने भी जनगणना के उपागम को अस्वीकार किया। इन दोनों विद्वानों का कहना है कि घर परिवार से एकदम पृथक है। घर तो केवल चार दिवारी है, जिसमें कई किरायेदार या व्यक्ति एक छत के नीचे रह सकते हैं। लेकिन वे परिवार नहीं बनाते। परिवार तो वह है जिसमें रक्त संबंध या विवाह संबंध हो। परिवार के सदस्यों में कर्त्तव्य

और अधिकारों की एक लम्बी शृंखला होती है और यह शृंखला ही परिवार को बनाती है।

परिवार की उपरोक्त सभी व्याख्याओं से अलग हटकर अक्षय देसाई (ए.आर. देसाई 1986) की व्याख्या है। देसाई समाजशास्त्र के साहित्य में मार्क्सवादी व्याख्याकार के रूप में जाने जाते हैं। उनका कहना है कि परिवार वस्तुत: उत्पादन की एक ईकाई है और इसलिये इसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी उपागम की दृष्टि से देखा जाना चाहिए। उनके अनुसार, परिवार की कोई भी व्याख्या इतिहास निरपेक्ष नहीं हो सकती। देसाई ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विधि द्वारा परिवार की व्याख्या ऐतिहासिक आधार पर की है।

संयुक्त परिवार की विशेषताएँ

बुनियादी संस्था होते हुए भी परिवार का जो स्वरूप आज देश में हमें देखने को मिलता है, वह एक समान हो, ऐसा नही है। पितृवंशीय परिवारों में भी सजातीयता नहीं है। और यही बात मातृवंशीय परिवारों पर भी लागू होती है। इससे और आगे परिवारों की व्याख्या करने में विद्वानों ने विभिन्न संदर्शों को अपनाया है। यह सब होते हुए भी भारतीय परिवार चाहे वह पितृवंशीय हो या मातृवंशीय, कुछ विशेषताएँ रखता है। इन विशेषताओं का सार रूप में निष्कर्ष इस भाँति है :-

(1) एक से अधिक पीढ़ियों का पारस्परिक संबंध;
(2) सामान्य पूर्वज;
(3) सामान्य निवास;
(4) सामान्य सम्पत्ति;
(5) सदस्यों की यथा संभव एक रसोई;
(6) परिवार का एक पारम्परिक मुख्य व्यवसाय, और
(7) सामाजिक संबंधों, कर्त्तव्यों और अधिकारों का पारस्परिक आदान-प्रदान अर्थात् संबंध पर आधारित संयुक्तता।

परिवार के प्रकार

सामान्य रूप में यह कहना ठीक होगा कि भारत में संयुक्त परिवार, परिवार की एक आम पद्धति रही है। परम्परा में हमारे यहाँ परिवार को लोग संयुक्त परिवार के अर्थ में ही लेते हैं। इसी कारण आई.पी. देसाई और कापड़िया यह आग्रहपूर्वक कहते हैं कि भारतीय समाज का रूझान संयुक्त परिवार की ओर अब भी है। भारत में रहने वाले ग़ैर हिन्दू समाजों में भी संयुक्त परिवार का चलन है। यह सब होते हुए भी समाजशास्त्रियों और सामाजिक मानवशास्त्रियों ने परिवार के कई अन्य प्रकारों को भी देश में पाया है। परिवार के प्रकार कुछ प्रभावपूर्ण कारकों के आधार पर निश्चित किये जाते हैं। इन निर्णायक कारकों में परिवार का आकार भी एक है। आकार के अनुसार हम एकाकी या केन्द्रीय तथा संयुक्त परिवार पाते हैं। परिवार का दूसरा कारक वंश निवास तथा सत्ता अधिकार का है। इसके दृष्टान्त पितृ सत्तात्मक और मातृ सत्तात्मक परिवार हैं। तीसरे प्रकार का आधार विवाह है। इस दृष्टि से परिवार एक विवाही और बहुविवाही होते हैं।

परिवार के इन तीन प्रकारों को जो भारतीय समाज में पाये जाते है, हम यहाँ परिचयात्मक रूप से देखेंगे :

आकार : एकाकी और संयुक्त परिवार

एकाकी परिवार को केन्द्रीय परिवार भी कहते हैं। इस परिवार में पति-पत्नी तथा इनके अविवाहित बच्चे एक ही छत के नीचे रहते हैं। आधुनिक औद्योगिक नगरीय व्यवस्था ने इस तरह के परिवार को प्रोत्साहित किया है। वैयक्तिक विचारधारा, आर्थिक और निवास संबंधी बाध्यताएँ, सम्पत्ति संबंधी कानून तथा प्रेम पर आधारित विवाह प्रणाली ने एकाकी परिवार की धारणा को बल दिया है।

सरकार की परिवार कल्याण व नियोजन की नीति ने भी एकाकी परिवार को प्रोत्साहित किया है। ऐसा लगता है कि विदेशों की तरह हमारे यहाँ भी एकाकी परिवार एक आदर्श परिवार की तरह अपनाए जाने लगे हैं। इस तरह के परिवार देश के सभी भागों और संस्कृति समूहों में पाये जाते हैं।

संयुक्त परिवार आकार के आधार का दूसरा प्रकार है। इस तरह के परिवार परम्परागत हिन्दू समुदाय में प्रचलित है। इन परिवारों का आकार बड़ा होता है। इनमें एक से अधिक एकाकी परिवार होते हैं, कई पीढ़ियों के लोग एक साथ रहते हैं। इस संरचना को बरकरार रखने में कृषि पर आधारित अर्थ व्यवस्था, ग्राम्य समुदायों पर आधारित सामाजिक संगठन और धर्म का प्रमुख हाथ है। संयुक्त परिवार प्रणाली, इसकी परिभाषा, लक्षण और इससे जुड़े हुए विवादों पर हमने पिछले पृष्ठों में विस्तार से लिखा है।

वंश, निवास तथा सत्ता

परिवार के प्रकारों को वंश के आधार पर भी बांटा गया है। सामान्यतया हमारे देश में वंशक्रम को पिता या माता के आधार पर गिना जाता है। पितृवंशीय परिवारों में पूर्वज पुरुष होते हैं और मातृवंशीय परिवारों में पूर्वज स्त्रियाँ होती हैं। भारत के उत्तरी भागों में सामान्यतया पितृवंशीय परिवार पाये जाते हैं। दक्षिण भारत तथा उत्तर-पूर्व के कतिपय समुदायों में जो खासी और गारो आदिम जातियों के हैं, मातृवंशीय परिवार पाये जाते हैं। इन परिवारों में वंशक्रम तथा उत्तराधिकार के अधिकार माता पर निर्भर होते हैं।

इसी कारक के अन्तर्गत निवास के आधार पर भी परिवार के प्रकार निर्धारित होते हैं। निवास की दृष्टि से परिवार को पितृ-निवासी और मातृ-निवासी श्रेणियों में विभाजित किया जाता है। पितृ-निवासी परिवार वे हैं जिनमें विवाह के बाद पत्नी अपने पति के घर जाकर रहती है। सामान्यतया सम्पूर्ण यूरोप व अमेरिका तथा विकासशील देशों में पितृ-निवासी परिवार पाये जाते हैं। मातृ-निवासी परिवारों के अन्तर्गत पति अपनी पत्नी के माता-पिता के परिवार के साथ जाकर रहता है। हमारे देश में परिवार का यह प्रकार मेघालय राज्य के खासी, जयंतिया और गारो जनजातियों में प्रचलित है। इसी प्रकार मातृवंशीय परिवार भारत के दक्षिण-पश्चिमी हिस्सों में बसे केरल तथा लक्षद्वीप हिस्सों में मिलते हैं। निवास स्थान के आधार पर नव स्थानीय परिवार भी होते हैं, जहाँ पति-पत्नी विवाह के पश्चात् नया घर बसा कर रहते हैं।

परिवारों का एक आधार सत्ता आधारित इन परिवारों को पितृ सत्तात्मक और मातृ सत्तात्मक प्रकारों में बाँटा जाता है। पितृ सत्तात्मक परिवार में मुखिया पिता होता है। और परिवार संबंधी सत्ता और अधिकार उसी में निहित होते हैं। मातृ सत्तात्मक परिवार में

परिवार संबंधी अधिकार माता के पास होते हैं। सामान्यतया जो पितृ वंशीय और मातृ वंशीय परिवार होते हैं, वही पितृ-सत्तात्मक और मातृ-सत्तात्मक परिवार की श्रेणी में आते हैं।

विवाह

परिवार के व्याख्याकारों ने विवाह के आधार पर भी परिवार के प्रकारों की चर्चा की है। ऐतिहासिक दृष्टि से प्राचीन तथा मध्ययुगीन समाजों में एक विवाह के स्थान पर बहुविवाह पर जोर था। बहुविवाह प्रणाली को भी प्राय: दो श्रेणियों– बहु पत्नी प्रणाली परिवार तथा बहुपति प्रणाली परिवार में विभाजित किया जाता है। पहली प्रणाली परिवार में एक पति कई पत्नियों से विवाह कर सकता है, जबकि दूसरी प्रणाली में एक पत्नी कई पतियों से वैवाहिक संबंध रख सकती है।

बहुपति विवाह के उदाहरण उत्तर प्रदेश के जौनसर बावर इलाके की खस जनजाति में मिलते हैं। बहुपत्नी विवाह सामान्यतया जनजातियों और मुसलमानों में मिलते हैं। इन समूहों में भी परिवार का यह प्रकार धीरे-धीरे लेकिन निश्चित रूप से लुप्त हो रहा है।

परिवार को प्रभावित करने वाले समसामयिक कारक

परिवार को हाल में कई कारकों ने प्रभावित किया है। इसे प्रभावित करने वाले कारक कोई नये नहीं हैं। इस संस्था का संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर किया गया जो विवेचन हमें प्राप्त हैं, उससे स्पष्ट है कि परिवार.का उद्विकास क्रमिक रूप से बराबर होता रहा है। ब्रिटिश काल में औद्योगीकरण और उपनिवेशवादी शासन पद्धति ने परिवार की संस्था को प्रभावित किया। हाल में यातायात और संचार के साधनों ने और इसी भाँति व्यक्तिवादी जीवन दर्शन तथा स्थानान्तरण ने इस व्यवस्था को झकझोरा है। परिणामस्वरूप परिवार व्यवस्था में व्यापक परिवर्तन आये हैं। देखा जाय तो परिवार समूहों में बहुत बड़ा लचीलापन है। इस गतिशीलता के होते हुए भी आई. पी. देसाई और के. एम. कापड़िया की यह मान्यता है कि अब भी भारतीय समाज का रुझान संयुक्त परिवार की ओर है। इसी कारण जब कभी हम भारत में परिवार की चर्चा करते हैं तब हमारा तात्पर्य संयुक्त परिवार से ही होता है। परिवार के जो विभिन्न प्रकार चाहे आवास के आधार और वंशक्रम की परम्परा पर हों, मूल में उनका संदर्भ संयुक्त परिवार से ही होता है।

दुनिया भर के समाजों में वंश क्रम पर आधारित परिवारों पर अंगुली उठाई जाती है। आज जब स्त्रियों में महिलावादी आन्दोलन के अन्तर्गत जेण्डर समस्या को उठाया जाता है। तब कहा जाने लगा है कि वंशक्रम में महिलाओं का नाम भी जोड़ा जाये। तर्क यह दिया जाता है कि प्रजनन व्यवस्था में पुरुष के साथ पत्नी का योगदान भी होता है। इस अर्थ में वंश परम्परा का निर्वाह माता और पिता दोनों के संयुक्त प्रयास का परिणाम है। ऐसी अवस्था में यदि पितृवंशीय परिवारों का महत्व है तो मातृवंशीय परिवारों का महत्व भी समान रूप से है। यह एक तर्क है जो जेण्डर समस्या के साथ जुड़ा हुआ है।

भारत में बहु संस्कृति विन्यास में हिन्दू संस्कृति के अतिरिक्त आदिवासी, ईसाइ, मुस्लिम, पारसी और बौद्ध संस्कृतियाँ भी हैं। इन सभी

संस्कृति समूहों में थोड़े बहुत अन्तर के साथ परिवार के वे ही प्रकार उपलब्ध हैं जो अपने स्वरूप में एकाकी या संयुक्त हैं। देखा यह गया है कि संयुक्त परिवार का जो प्रकार हिन्दुओं में प्रचलित है वही थोड़े बहुत अन्तर के साथ अन्य संस्कृति समूहों में भी प्रचलित है। यह अवश्य है कि सामान्य रूप से परिवार का एकाकी प्रकार जो मूल रूप से एक विवाही है तथा पितृस्थानीय है, देश के सभी संस्कृति समूहों में पाया जाता है।

विवाह किसे कहते हैं?

दुनिया भर में विवाह की कोई न कोई पद्धति अवश्य पायी जाती है। इस संबंध में वेस्टरमार्क का नाम आदर के साथ लिया जाता है। उन्होंने मानव विवाह का – संसार के स्तर पर एक अधिकृत लेखा-जोखा दिया है। उनके अनुसार "विवाह एक या अधिक पुरुषों का एक या अधिक स्त्रियों के साथ होने वाला वह संबंध है जिसे प्रथा या कानून स्वीकार करता है। और जिसमें इस संगठन में आने वाले दोनों पक्षों और उनसे उत्पन्न बच्चों के अधिकार एवं कर्त्तव्यों का समावेश होता है।" भारतीय संदर्भ में विवाह व्यवस्था को परिभाषित करते हुए मजूमदार एवं मदन लिखते हैं : "विवाह में कानूनी या धार्मिक आयोजन के रूप में उन सामाजिक स्वीकृतियों का समावेश होता है जो विषम - लिंगियों की यौन क्रिया और उससे संबंधित सामाजिक-आर्थिक संबंधों में सम्मिलित होने का अधिकार प्रदान करती है।"

विवाह की व्याख्या के लिये कतिपय और परिभाषाओं का अवलोकन किया जा सकता है। इन सबके सार में यही कहना पर्याप्त होगा कि विवाह (1) समाज द्वारा मान्यता प्राप्त यौन संबंध हैं। (2) पति और पत्नी एक ही परिवार में रहते हैं तथा इनके यौन संबंधों के परिणामस्वरूप (3) जो संतान उत्पन्न होती है, उसे समाज की मान्यता होती है। अन्त में, (4) विवाह एक प्रकार के आर्थिक संबंधों का ताना-बाना है।

विवाह के उद्देश्यों को प्रत्येक समाज अपने-अपने नजरिये से वरीयता देता है। भारत में हिन्दू विवाह का उद्देश्य धर्म, प्रजा (संतान) तथा रति (आनन्द) समझे जाते हैं। इन उद्देश्यों की व्याख्या करते हुए के. एम. कपाड़िया का कहना है, "यह स्पष्ट है कि जब हिन्दू विचारकों ने धर्म को विवाह का प्रथम तथा सर्वोच्च उद्देश्य तथा संतानोत्पादन को इसका दूसरा श्रेष्ठ उद्देश्य माना तो स्वाभाविक रूप से विवाह पर धर्म का आधिपत्य हो गया। विवाह की इच्छा रति या संतानोत्पत्ति के लिये इतनी अधिक नहीं की जाती थी जितनी अपने धार्मिक कर्त्तव्यों के पालनार्थ एक साथी प्राप्त करने के लिये।'' धर्म के बाद विवाह का उद्देश्य संतान प्राप्ति इसलिये होता है कि पुत्र पिता के मरने के बाद पिण्डदान एवं तर्पण करके पितरों को नरक से बचाता है।

हिन्दू विवाह वस्तुतः एक संस्कार है। मुस्लिम या ईसाई विवाह की तरह यह एक सामाजिक समझौता नहीं है। हिन्दुओं की ऐसी मान्यता है कि विवाह पति-पत्नी का जन्म-जन्मान्तर का पवित्र एवं अटूट बंधन है। हिन्दुओं की ऐसी समझ है कि जो इस जन्म में पति-पत्नी हैं वे अगले जन्म में भी फिर पति-पत्नी बनेंगे। इस विवाह में कम से कम धर्मशास्त्रों के अनुसार विवाह - विच्छेद को कोई स्थान नहीं है। हिन्दू विवाह के एक धार्मिक

संस्कार होने का दूसरा कारण है कि इसके माध्यम से व्यक्ति अपने तीन ऋणों को चुका देता है। ये ऋण हैं : (1) देव ऋण (2) पितृ ऋण एवं (3) ऋषि ऋण। व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि पुरुषार्थों की पूर्ति भी विवाह द्वारा कर सकता है। हिन्दू विवाह में पत्नी को पतिव्रता का आदर्श दिया गया है वह अपने पति को ही सब कुछ समझे यही धर्मशास्त्रों द्वारा दिया गया आदेश है। हाल में जोर पकड़ते हुए महिलावादी आन्दोलन ने स्त्रियों की ऐसी गौण स्थिति को चुनौती दी है। यदि हम हिन्दू विवाह की सम्पूर्ण प्रक्रिया को देखें तो ज्ञात हो जायेगा कि विवाह हर तरह से एक धार्मिक क्रिया है। कन्या का पिता धार्मिक एवं पवित्र भावना से अपनी कन्या का दान वर को करता है। यह दान विवाह मण्डप में प्रज्वलित अग्नि के समक्ष किया जाता है। पाणिग्रहण का अर्थ होता है, वधू के हाथ को ग्रहण करना। और इस हाथ को जीवन पर्यन्त थामे रखना। विवाह इस तरह के कई छोटे-बड़े संस्कारों के माध्यम से पूर्ण होता है।

हिन्दू विवाह बुनियादी रूप से अविभाज्य है यद्यपि कुछ दशाओं में और हाल में पारित हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 के अनुसार विवाह विच्छेद हो सकता है। विवाह की अविभाज्य प्रकृति के कारण सती, तथा विधवा जैसी स्थितियाँ हिन्दू समाज में प्रचलित हो गयी हैं। पति के करने के बाद पत्नी का सती होना आज कानूनन अपराध है। यदि विधवा चाहे तो पुनर्विवाह कर सकती है लेकिन ऐसा प्रचलन आज लोकप्रिय नहीं हुआ है। गाँवों में तो आज भी बाल विधवाएँ अपनी स्थिति के साथ समझौता करके वैधव्य का जीवन बिता लेती हैं।

हिन्दू विवाह के नियम

विवाह के नियमों को यदि हम विस्तारपूर्वक देखें तो ज्ञात होगा कि पितृ सत्तात्मक तथा मातृ सत्तात्मक-परिवार के दोनों प्रकारों में अधिमान्य (Preferential) सकारात्मक (Positive) तथा नकारात्मक (Negative)नियम देखने को मिलते हैं। अधिमान्य विवाह के नियम इस बात को बताते हैं कि कुछ रिश्तेदारों के साथ विवाह करना पसंद किया जाता है। ये अधिमान्य नियम दक्षिण भारत में भी पाये जाते हैं। यह संभव है कि किसी जाति या उपजाति में कोई नियम अधिक प्रचलित हो और किसी अन्य क्षेत्र या जाति में दूसरा नियम। सामान्यतया अधिमान्य विवाह के तीन नियम दक्षिण भारत की हिन्दू जातियों में प्रचलित हैं। पहले नियम के अनुसार, मातृ सत्तात्मक परिवार में मामा के बेटे से या पुरुष की बुआ की बेटी से विवाह अधिमान्य समझा जाता है। दूसरा अधिमान्य विवाह बड़ी बहिन की कन्या से स्थापित करना माना जाता है। यहाँ की पितृ वंशीय परम्परा मानने वाली कई जातियों में बड़ी बहिन की कन्या से ही विवाह संबंध स्थापित करने की प्रथा है। अधिमान्य विवाह का तीसरा नियम मामा की बेटी से विवाह करना है। तमिलनाडु की कल्लर, कर्नाटक की हविक ब्राह्मण, आन्ध्रप्रदेश की कुछ रेड्डी जातियों में इस प्रकार के विवाह का नियम ही अधिमान्य है।

उत्तर भारत के पितृ सत्तात्मक परिवारों में अनुलोम विवाह (Hsypergamy) को अधिमान्य समझा जाता है। इस तरह के विवाह का आधार वर्ण व्यवस्था है। जब हिन्दुओं में वर्ण - व्यवस्था

प्रचलित थी तब ऐसा समझा जाता था कि जहाँ तक संभव हो उच्च वर्ण के पुरुष को निम्न वर्ण की कन्या से विवाह करना चाहिये। अब वर्ण तो रहे नहीं, जातियाँ-उपजातियाँ हैं। ऐसी अवस्था में व्यक्ति जहाँ तक संभव हो अपनी सामाजिक स्थिति के बराबर वाले परिवार से ही कन्या को लाता है। यह स्थिति अधिमान्य है।

विवाह का एक और नियम सकारात्मक है। इस नियम को अन्तर्विवाह (Endogamy) का नियम कहते हैं। इसके अनुसार व्यक्ति के लिये यह आवश्यक है कि वह अपनी जाति में ही विवाह करें। उनके विचार में इस तरह के विवाह से रक्त की शुद्धता बनी रहती है। ऐसे विवाह में व्यावसायिक ज्ञान की सुरक्षा भी निहित होती है। विवाह का यह नियम जाति व्यवस्था को निरन्तरता देता है। आज भी उत्तर भारत में गाँव से बारह-तेरह किलोमीटर की परिधि वाले गाँवों में अपनी जाति में शादी-ब्याह तय होते हैं। अब तो संचार माध्यमों की वृद्धि होने के कारण अन्तर्विवाह का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है। यह सब होते हुए भी प्रयास यह किया जाता है कि विवाह अपनी जाति में ही हों। हाल में कुछ ऐसे विवाह होने लगे हैं जो जाति और उपजाति के बाहर होते हैं। इन्हें अन्तर्जातीय विवाह कहते हैं।

विवाह के कुछ नियम नकारात्मक हैं। ये नियम पितृवंशीय परिवारों पर लागू होते हैं। इनके अनुसार कोई भी व्यक्ति अपने गोत्र में विवाह नहीं कर सकता। गोत्र का अर्थ है गायों को रखने का स्थान और एक स्थान पर रहने वाले एक वंश के लोगों के लिये इसका प्रयोग किए जाने की परम्परा कुछ जातियों में है। जिन जातियों में गोत्र के प्रति चैतन्यता है, उनमें सगोत्र विवाह वर्जित है। इस निषेधात्मक नियम का उद्देश्य उप जाति की सीमा में विवाहों की गति का संचालन करना है। इस नियम के अनुसार, किसी भी व्यक्ति को अपने पिता के गोत्र, अपनी माँ के गोत्र, अपनी दादी के गोत्र, अपनी नानी के गोत्र में विवाह करना वर्जित है। इरावती कर्वे के अनुसार "इस नियम का साधारण भाषा में यह अर्थ हुआ कि उत्तरी भारत में मोटे रूप से मोसेरे, चचेरे, फुफेरे एवं ममेरे भाई-बहिनों में विवाह संबंध संभव नहीं है।

विवाह का एक और निषेधात्मक नियम है। इसके अनुसार किसी भी व्यक्ति का सपिण्ड विवाह करना वर्जित है। शोभिता जैन (1996) ने सगोत्र एवं सपिण्ड नातेदारों में अन्तर किया है "सगोत्र में केवल वे नातेदार आते हैं जो एक वंश परम्परा के सदस्य हैं। जबकि सपिण्ड वह संबंध है जो व्यक्ति विशेष की दृष्टि से विभिन्न नातेदारों के बीच होता है। गोत्र समूहों में सदस्यता व्यक्ति विशेष की दृष्टि से नहीं वरन् वंश में सदस्यता की दृष्टि से निर्धारित होती है। सपिण्ड का संबंध हर व्यक्ति की दृष्टि से होता है, अत: सभूह विशेष में जितने सदस्य होंगे, उतने ही सपिण्ड संबंध होंगे।'' इस व्याख्या के अनुसार सपिण्ड नातेदारों में सगोत्र तो आते ही हैं। इसके आगे माँ एवं पिता दोनों के पक्षों के रिश्तेदार आते हैं। जो सपिण्ड तो हैं परन्तु सगोत्र नहीं, जैसे मोसी के बच्चे, मामा के बच्चे एवं बुआ के बच्चे। ये निषेधात्मक नियम विवाह की परिधि को सीमित कर देते हैं।

विवाह संबंधी निषेधों के आधार पर होने वाले विवाह का एक और प्रकार गाँव बहिर्विवाह है। यह नियम पितृवंशात्मक परिवारों में देखने को

मिलता है। ऐसा समझा जाता है कि एक ही गाँव के पुरुष और स्त्री आपस में भाई-बहिन हैं। इस कारण गाँव में विवाह करना एक तरह से भाई-बहिन में विवाह करना है। इरावती कर्वे तो कहती हैं कि गाँव की लड़की जब गाँव से बाहर ब्याह कर जाती है तो उसके पति को सारा गाँव जमाई का दर्जा देता है। जब वह अपनी पत्नी को लेने के लिये या किसी अन्य अवसर पर पत्नी के गाँव में आता है तो गाँव की स्त्रियाँ पर्दा कर लेती हैं। एक तरह से वह सारे गाँव का जमाई समझा जाता है। इन परम्पराओं के अनुसार कम से कम गाँव में तो बहिर्विवाह का निषेधात्मक नियम बराबर अमल में लाया जाता है। इस नियम के पीछे कई अन्य कारण भी हैं। उसमें बाहर के गाँव की लड़की लाने के लिये कौतूहल होता है। बाहर से लड़की लाने में वह अपने पराक्रम और शौर्य की अभिव्यक्ति भी देखता है। वेस्टरमार्क ने तो विवाह के इतिहास में एक स्थान पर लिखा है कि मनुष्य की प्रकृति ही अपरिचित पुरुष या स्त्री के लिये कौतूहल भरी होती है। जब उन्होंने यह प्रश्न अपने अविवाहित हज्जाम से पूछा कि वह अपने गाँव की ही किसी लड़की से विवाह क्यों नहीं कर लेता, तो तपाक से उसने जवाब दिया मेरो गाँव की लड़कियाँ, वे किसी काम की नहीं हैं, मैं उन्हें खूब जानता हूँ। सभी समाजों में विवाह के निषेधात्मक नियम होते हैं। सगौत्र और सपिण्ड के अतिरिक्त बहिर्विवाह के भी ऐसे ही नियम हैं। यह अवश्य है कि जहाँ विभिन्न गौत्रों के लोग किसी एक स्थान यानी एक ही गाँव में निवास करते हैं तो ग्राम बहिर्विवाह का नियम ढीला पड़ जाता है।

विवाह की उम्र

पंढारीनाथ प्रभु (1954) के अनुसार, शास्त्रकारों ने विवाह की कुछ निश्चित उम्र तो नहीं बताई है लेकिन उनका कहना है कि लड़की जब नग्निका यानी नंगी घूमती-फिरती है तभी उसका विवाह हो जाना चाहिये। बाद में चलकर लड़के और लड़की के लिए विवाह की उम्र निश्चित होने लगी, हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के अनुसार भारत में आज लड़के की विवाह योग्य उम्र 21 वर्ष है और लड़की की 18 इस सामाजिक विधान के होते हुए भी गाँवों में इस उम्र के नीचे के लड़के और लड़कियों का विवाह हो जाता है। राजस्थान में तो अक्षय तृतीया यानी मई महीने में बहुत बड़ी संख्या में बाल विवाह हो जाते हैं।

विवाह के प्रकार

हिन्दू शास्त्रकारों ने विवाह के कई स्वरूपों का उल्लेख किया है। सामान्यतया विवाह के आठ स्वरूप हिन्दू जातियों में प्रचलित रहे हैं। वास्तव में विवाह के स्वरूप इतने महत्वपूर्ण नहीं हैं जितने कि उनके प्रकार। सामान्यतया देश में एक विवाह का प्रकार सभी जगह देखने को मिलता है। एक प्रकार से एक ही समय में एक पत्नी को रखना आदर्श विवाह समझा जाता है। हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के अनुसार कोई भी हिन्दू एक समय में दो पत्नियाँ नहीं रख सकता। विवाह की इस व्यवस्था में स्त्रियों का सामाजिक स्थान ऊँचा उठ जाता है। दूसरी ओर जनसंख्या की वृद्धि पर भी रोक लग जाती है।

विवाह का दूसरा प्रकार बहुविवाह है। ऐसे विवाह में पति को एक से अधिक स्त्रियों से विवाह करने का अधिकार होता है। इस्लाम एक पति को एक ही समय में चार पत्नियों तक से वैवाहिक संबंध स्थापित करने की अनुमति देता है। हमने पहले कहा है कि व्यावहारिक स्थिति में किसी भी मुस्लिम पुरूष के लिये पत्नियों की इतनी बड़ी संख्या रखना संभाव नहीं है। बहुविवाह का दूसरा प्रकार बहुपति विवाह है इस तरह का विवाह बहुत सीमित समुदायों में और विशेषकर अनुसूचित जनजातियों में देखने को मिलता है

हिन्दू विवाह से जुड़ी हुई कुछ समस्याएँ

यह निश्चित है कि समाज की निरन्तरता के लिये प्रजनन की कोई न कोई व्यवस्था मान्यता प्राप्त अवश्य होती है। इस दृष्टि से हिन्दू विवाह व्यवस्था एक महत्वपूर्ण संस्था है। इस व्यवस्था का उद्‌विकास प्राचीन भारतीय सभ्यता से है। समय की गति के साथ इस विवाह व्यवस्था में कई खराबियाँ भी आ गयी हैं। उदाहरण के लिये, अब भी बाल विवाह जिस पर सामाजिक विधान का अंकुश है, प्रचलित है। कहीं-कहीं बहुविवाह की परम्परा भी चल रही है। विवाह की इस व्यवस्था ने दहेज जैसी परम्परा को प्रश्रय दिया है। जहाँ दहेज के कारण कई स्त्रियों को काल कवलित होना पड़ता है वहीं इससे उनका सामाजिक स्थान भी नीचे गिर जाता है। वास्तव में, विवाह की इस संस्था का सीधा संबंध स्त्री-पुरुष के संबंध तथा उनकी सामाजिक स्थिति से हैं। यह अवश्य है कि शिक्षा के प्रसार, नगरीकरण, स्त्रियों के लिये रोजगार के अवसर आदि कारकों ने विवाह की संस्था में व्यापक परिवर्तन लाये हैं अब स्त्रियाँ तकनीकी व्यवसायों आदि में जाने लगी हैं। यह आशा करते हैं कि आने वाले समय में विवाह की संस्था में कई और परिवर्तन आयेंगे।

मुस्लिम विवाह

जब भारत में विवाह की संस्था पर कुछ भी चर्चा करते हैं तो हमें यह स्वीकार करना चाहिये कि हमारे देश में कई संस्कृतियों और उप-संस्कृतियों की अभिव्यक्ति अन्य संस्थाओं की तरह विवाह में भी देखने को मिलती है। कहना यह चाहिये कि प्रत्येक संस्कृति विशेष में विवाह की एक निश्चित परम्परा होती है। जैसाकि हमने कहा है हिन्दू विवाह एक संस्कार है, धार्मिक गतिविधि है, ठीक उसके विपरीत मुस्लिम विवाह एक संविदा है- इकरार है। यह संविदा पुरुष और स्त्री के बीच में होती है। हिन्दू और मुस्लिम विवाह का यह बुनियादी अन्तर है। एक और महत्वपूर्ण बात यह है। समझौता होने के नाते मुस्लिम विवाह तोड़ा जा सकता है। इसमें तलाक का स्थान है। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि हिन्दू विवाह की तरह मुस्लिम विवाह भी शास्त्रों पर निर्भर करता है। इस्लाम में कुरान एक ऐसा बहुत बड़ा सांस्कृतिक और सामाजिक दस्तावेज़ है जो मुसलमानों के व्यवहार को संचालित करता है। कुरान का उद्‌गम अरब देशों से है। जब इस्लाम अरब की सीमा को लांघ कर एशिया, अफ्रीका और अन्य देशों में आया तो इसमें भी कई अन्तर आ गये। इस ऐतिहासिक गतिशीलता के संदर्भ में हमें भारत में मुसलमानों में विवाह की जो परम्परा है, उसे देखना चाहिये।

मुसलमानों में विवाह को निकाह कहते हैं। बुनियादी रूप से मुसलमानों में विवाह बहुपत्निवाद से चला है। अरब में युद्ध में छीनकर लायी हुई

स्त्रियों से या तो विवाह कर लिया जाता था या उन्हें उप-पत्नी (Mistresses) के रूप में रखा जाता था। आज इस बुनियादी स्वरूप में बड़ा अन्तर आ गया है। फिर भी सिद्धांत रूप में मुस्लिम विवाह की प्रकृति बहुपत्निवादी ही समझी जाती है। इस्लाम में विवाह एक समझौता (Contract) है जिसमें दो साक्षियों (प्रत्येक पक्ष का एक) के हस्ताक्षर होते हैं। इस अनुबंध के परिणाम स्वरूप पत्नी को मेहर भेंट दी जाती है। मेहर का मतलब वह धन जिसके प्रतिफल में पत्नी-पति को उसके साथ यौन संबंध रखने की स्वीकृति देती है। मुस्लिम विवाह में दो बातें अत्यधिक महत्वपूर्ण है। पहली बात तो यह कि इस विवाह में वली (संरक्षक) का होना आवश्यक है और यह वली ही अक्षत योनि कन्या का विवाह कर सकता है के. एम. कापड़िया कहते हैं कि "इस्लाम यह चाहता है कि प्रत्येक वधू अक्षत योनि हो, जो हनाफी सम्प्रदाय के अनुसार अवयस्क होती है अथवा यदि शफी सम्प्रदाय के अनुसार वयस्क भी हो तो उसकी स्वीकृति नहीं होने से स्थिति वहीं रहती है जबकि पिता अथवा नातेदार उसके विवाह का अनुबंध करे।"

मुसलमानों में विवाह विच्छेद यानी तलाक

मुसलमानों में विवाह एक समझौता होने के कारण तोड़ा जा सकता है। प्राचीन अरब में खोल की प्रथा थी। इसके अनुसार पिता अपनी पुत्री को कभी भी अपने पति के बंधन से मुक्त करा सकता था। ऐसा करने के लिये उसे वर द्वारा दिया गया सदक अर्थात् मेहर लौटाना पड़ता था। इस परम्परा के अनुसार मुसलमानों में पति अपनी पत्नी को जब चाहे छोड़ सकता है। उसके लिये इतना ही पर्याप्त है कि वह पत्नी से चार माह तक सहवास न करें। तलाक अदालत एवं बिना अदालत की सहायता से तथा लिखित तथा मौखिक दोनों तरीकों से हो सकता है। लिखित में तलाक देने को तलाकनामा कहा जाता है। स्त्री की तुलना में पुरुष को ही तलाक देने की अधिक स्वतंत्रता है। तलाक हो जाने पर मेहर के धन पर स्त्री का अधिकार हो जाता है।

मुसलमानों में विवाह की संस्था को संचालित करने के लिये शरीयत अधिनियम, 1937 (Shariat act, 1937) लागू है। इसके अतिरिक्त मुस्लिम विवाह - विच्छेद अधिनियम, 1929 के अनुसार भी स्त्री कुछ दशाओं में अपने पति को तलाक दे सकती है। इसका अर्थ यह हुआ कि मुस्लिम विवाह में पुरुष को तो तलाक देने का अधिकार परम्परा से है ही लेकिन इन दो अधिनियमों में भी स्त्री को भी तलाक देने का अधिकार दिया है।

ईसाइयों में विवाह

भारत में विभिन्न सांस्कृतिक समूहों में, विशेषकर अल्पसंख्यकों में ईसाई भी हैं। ईसाइयों में सदैव यह विचार रहा है कि सार्वभौमिक विवाह की संस्था का मानव जीवन के लिये ईश्वरीय उद्देश्य में केन्द्रीय स्थान है। सिद्धांत रूप में, भारत के ईसाइयों में विवाह धार्मिक आदर्शों के अनुरूप है। ईसाई धर्म में विवाह के संबंध में एक विचारधारा तो यह है कि जहाँ तक संभव हो स्त्री को पुरुष से दूर रखा जाए। संत पॉल ने कहा है कि मनुष्य के लिये यह बेहतर है कि वह स्त्री को स्पर्श न करें। स्त्री को धार्मिक कार्यों और मोक्ष के मार्ग में बाधक समझा जाता है। ईसाई धर्म में एक और विचार भी है।

इसके अनुसार विवाह को ईश्वर की इच्छा और आदेश माना जाता है। संत पॉल ने एक अन्य स्थान पर कहा है कि पुरुष को स्त्री के स्पर्श से बचना चाहिये चाहे फिर भी अनुचित यौन संबंध को रोकने के लिये प्रत्येक पुरुष की अपनी पत्नी और प्रत्येक स्त्री को अपना पति रखना चाहिये। यदि अविवाहित और विधवाएँ यौन संयम नहीं रख पायें तो पाप करके जलने की अपेक्षा विवाह करना उपयुक्त है। ईसाई धर्म में विवाह करना उचित उसी अवस्था में समझा गया है जब कोई व्यक्ति अपनी यौन प्रवृतियों को नियमित नहीं कर पाये।

प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदाय के विकास के फलस्वरूप ईसाईयों में विवाह संबंधी धारणा में परिवर्तन आया है। इस सम्प्रदाय के अनुसार परिवार की स्थापना ईश्वर की इच्छा के अनुरूप ही है। और इसलिए विवाह परिवार की स्थापना के लिए आवश्यक है। आज कल ईसाइयों में विवाह को जीवन के विभिन्न दायित्वों को निभाने की दृष्टि से आवश्यक माना जाता है। इस दृष्टि से जहाँ मुस्लिम विवाह को यौन संतुष्टि का ही प्रधान साधन माना जाता है। वहाँ ईसाई विवाह में इसके अतिरिक्त पवित्र दायित्वों की पूर्ति पर विशेष जोर दिया जाता है।

ईसाइयों में विवाह यद्यपि एक समझौता है फिर भी इसमें धार्मिक संस्कार के गुण भी मौजूद हैं। यद्यपि इन समूहों में वैवाहिक समझौता जीवन भर के लिये होता है फिर भी यदि कोई पक्ष असंतुष्ट हो तो विवाह विच्छेद भी किया जा सकता है। ईसाइयों में रक्त संबंधियों को छोड़ कर शेष सबसे परस्पर विवाह किये जा सकते हैं। ईसाई पुरुष अपनी मृत पत्नी की बहिन, भाई की विधवा स्त्री, मृत पत्नी के भाई या बहिन की लड़की से भी विवाह कर सकता है। इनमें विधवा विवाह का निषेध नहीं है, वे विवाह कर सकती हैं। इन समूहों में हिन्दुओं के समान दहेज प्रथा, आदिवासियों की तरह कन्या मूल्य और मुसलमानों के समान मेहर के लेन-देन का कोई प्रचलन नहीं है। एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि ईसाइयों में विवाह चर्च के अधिकारी की सहमति से ही संभव है। मूल रूप में ईसाई धर्म विवाह विच्छेद की स्वीकृति नहीं देता। उनके किसी भी गिरजाघर में विवाह-विच्छेद की घोषणा नहीं की जा सकती। बहुत स्पष्ट है किसी चर्च में न तो विवाह विच्छेद किया जा सकता है न ही विवाह विच्छेद करने वाले स्त्री-पुरुष वहाँ पुन: विवाह कर सकते हैं।

धार्मिक प्रतिबन्ध होने पर भी कानून ने भारतीय विवाह विच्छेद अधिनियम 1869 के अनुसार ईसाइयों को विवाह विच्छेद का अधिकार दिया है। इन अधिनियम के अनुसार ईसाई पति और पत्नी कुछ दशाओं में विवाह विच्छेद कर सकते हैं। अन्य संस्कृति समूहों की तरह ईसाई विवाह में भी परिवर्तन हुए हैं। उनमें विवाह का धार्मिक स्वरूप कमज़ोर पड़ रहा है। सामान्यतया अब लोग गिरजाघर में धार्मिक रीति से विवाह करने के बजाय सिविल मेरिज को करना पसंद करते हैं। विवाह के पश्चात वर-वधु चर्च में केवल औपचारिकता निभाने के नाते ही जाते हैं। ईसाई विवाहों में आज कल कुछ निकट रक्त संबंधियों को छोड़कर शेष सबसे विवाह होने लगे हैं। कभी-कभी ममेरे-फुफेरे भाई-बहिनों में भी सिविल मेरिज हो जाती है। यद्यपि इन समूहों में धार्मिक दृष्टि से विवाह -विच्छेद मान्य नहीं है। फिर भी विवाह विच्छेद की दर बढ़ रही है। कुछ इसी तरह इन

समूहों में विधवा विवाह को उचित नहीं समझा जाता फिर भी आजकल विधवा पुनर्विवाह को प्रोत्साहित किया जाता है।

नातेदारी

समाज विज्ञानों के क्षेत्र में, सामाजिक मानवशास्त्र परम्परा से नातेदारी व्यवस्था का अध्ययन करता रहा है। आदिवासी समाज एक ऐसा समाज है जिसमें संबंध, रिश्ते, नातेदारी पर आधारित होते हैं। हमारे देश में भी आदिवासियों और ग्रामीणों में सामाजिक संबंधों की बुनियाद नातेदारी ही होती है। जो व्यवहार गाँवों में अपने नाते-रिश्ते के साथ होता है वह दूसरों के साथ नही। नातेदारों के व्यवहार जन्म, विवाह, मृत्यु और तिथि त्यौहार पर प्रमुख रूप से देखे जाते हैं। शोभिता जैन के अनुसार "जो एक परिवार के हैं, वे आपस में नातेदार हैं और जिन घर-परिवारों में उनकी शादियाँ होती हैं, उनके सदस्य रिश्तेदार कहलाते हैं।" देखा जाये तो नातेदारों में या उसकी शब्दावली में जो अन्तर हमें दिखायी देता है वह संस्कृति के कारण है। हिन्दू जातियों में मौसी, मामा तथा बुआ के बच्चे-बच्चियाँ आपस में भाई-बहिन हैं। मुसलमानों की संस्कृति दूसरी है। उनमें इन भाई-बहिनों में विवाह संबंध हो सकते हैं। उधर मातृ-वंशीय परिवारों में भी मौसी तथा मामा के बच्चों के बीच में विवाह हो सकता है। कहना चाहिये नातेदारी का संबंध संस्कृति के प्रतिमानों के साथ जुड़ा होता है।

वे लोग जो नातेदारी की व्याख्या सैद्धांतिक आधार पर करते हैं उनका कहना है कि नातेदारी का बुनियादी आधार जैविक (Biological) है। माता-पिता के यौन संबंधों के परिणामस्वरूप संतान उत्पन्न होती है। इस अर्थ में संतान का माता-पिता के साथ संबंध जैविक है। इन जैविक संबंधों को समाज प्रतीकों के रूप में प्रस्तुत करता है। कहना चाहिये नातेदारी व्यवस्था तो प्रतीक संबंधों की अभिव्यक्ति मात्र है। नातेदारों की निकटता या दूरी परस्पर होने वाले उपहारों, विवाह के नियमों, दायभाग आदि में देखी जा सकती है। अत: नातेदारी व्यवस्था में दो तथ्य निहित हैं एक तो जैविक संबंध और दूसरा सामाजिक तथा सांस्कृतिक संबंध। सिद्धांत रूप में नातेदारी को इन्हीं दो आधारों पर देखा जाना चाहिए।

यदि हम किसी संयुक्त परिवार को देखें तो हमें तत्काल स्पष्ट हो जायेगा कि इसमें दो तरह के नातेदार हैं। भाई-बहिन, दादा-दादी आदि रक्त संबंधी हैं। इसका मतलब हुआ ये संबंध वंशानुक्रम (Descent) से जुड़े हुए हैं। परिवार में भाई के बच्चे एक ही वंश क्रम के हैं अत: उन्हें हम समरक्तता (Consanguine) की श्रेणी में रखते हैं। परिवार के दूसरे सदस्य जो चाची और भाभी है वे विवाह से उत्पन्न संबंध (Affinal) कहे जाते हैं। ये सभी संबंध मनमाने ढंग से नहीं होते हैं। इनका निर्वाह कतिपय परम्पराओं और नियमों द्वारा होता है।

यदि हम नातेदारों और रिश्तेदारों को सम्पूर्ण देश की दृष्टि से देखें तो इन्हें दो श्रेणियों में रखा जा सकता है। पितृवंशीय नातेदार और मातृवंशीय नातेदार। इरावती कर्वे ने नातेदारी का विस्तृत वर्णन किया है। वे भारत की सम्पूर्ण नातेदारी व्यवस्था को चार क्षेत्रों में रखती हैं : (1) उत्तर भारत (2) मध्य भारत, (3) दक्षिण भारत और

(4) उत्तर-पूर्वी भारत। यदि वंश के आधार पर इन चार क्षेत्रों को सीमित कर दिया जाये तो मोटे रूप में कहना चाहिये कि उत्तर भारत में पितृवंशीय परिवार पाये जाते हैं। और दक्षिण भारत में पितृवंशीय परिवारों के अतिरिक्त केरल जैसे राज्य में मातृवंशीय परिवार भी पाये जाते हैं। वंश परम्परा पर आधारित नातेदारी व्यवस्था को हम थोड़ा विस्तार से देखेंगे।

पितृवंशीय नातेदारी

पितृवंशीय नातेदारी पीढ़ी के ऊपर से लेकर नीचे की पीढ़ियों के संबंधों को बताते हैं। उदाहरण के लिये एक ही पीढ़ी में पाये जाने वाले व्यक्ति जैसे कि चाचा, ताऊ आदि पितृवंशीय नातेदार कहलाते हैं। चाचा और ताऊ के लड़के-लड़की समवर्ती (Collateral) नातेदार हैं। उत्तर भारत में पितृवंशीय नातेदार सम्पूर्ण भाग में पाये जाते हैं। इन नातेदारों को पितृ इसलिये कहते हैं कि इनमें वंश पुरूष के नाम पर चलता है। इन नातेदारों की वंशावली में स्त्रियों का नाम नहीं होता। राजस्थान के राजपूतों में तो चारण होते हैं जिनका काम अपने आश्रयदाता परिवारों की वंशावली को बनाना होता है। इन वंशावलियों में प्रत्येक वंश का विस्तृत ब्यौरा होता है। हरिद्वार में हिन्दू परिवारों के पंडे होते हैं जो अपने जजमानों की वंशावली को बनाये रखते हैं।

पितृवंशीय नातेदारों में कुछ विशेष दायभाग प्राप्ति और उत्तराधिकार के नियम होते हैं। इन नातेदारों में पितृवंश परम्परा के अनुसार पिता का स्थान पुत्र लेता है। पुत्र ही दाह संस्कार करता है। दायभाग प्राप्ति में स्वयं कर्त्ता द्वारा अर्जित सम्पत्ति तथा पुरखों की सम्पति सम्मिलित होती है। दायभाग प्राप्ति का संचालन मिताक्षरा नियम के अनुसार होता है। मिताक्षरा में वंश की सम्पत्ति को पिता के जीवन काल में ही बाँट दिया जाता है। दाय भाग प्राप्ति के मिताक्षरा नियम का एक अपवाद बिहार एवं बंगाल के हिन्दुओं में मिलता है। इसमें पिता के जीवन काल में सम्पत्ति नहीं बाँटी जाती। इसके प्रणेता जीमूतवाहन शास्त्री हैं। इस नियम के अनुसार पिता के पिण्डदान होने के बाद ही वंश की सम्पत्ति का बंटवारा संभव है।

कुछ हिन्दू शास्त्रकार दायभाग प्राप्ति एवं उत्तराधिकर के नियमों में अन्तर करते हैं। ये दोनों पद पर्यायवाची नहीं हैं। वास्तव में दायभाग प्राप्ति में तो सम्पत्ति का बंटवारा होता है जबकि उत्तराधिकर में कर्त्ता के पद अर्थात् मुखिया के पद को ज्येष्ठ पुत्र को दिया जाता है। सिद्धांत रूप में निश्चित रूप से दायभाग और उत्तराधिकार पर्यायवाची नहीं है। फिर भी उत्तर भारत में सामान्यतया सम्पत्ति और पद एक ही व्यक्ति को मिलते हैं। इसी कारण इन दोनों में व्यावहारिक रूप से कोई अन्तर नहीं किया जाता। एक बात और है, परम्परा से विधवा को दायभाग प्राप्ति में हिस्सेदारी मिलती है। हाल में जो सामाजिक विधान बना है इसके अनुसार विवाहित लड़कियों का भी दायभाग में हिस्सा होता है।

गोविन्द सदाशिव घुर्ये और इसी तरह इरावती कर्वे का कहना है कि प्रत्येक नातेदारी व्यवस्था की एक निश्चित शब्दावली होती है। यह शब्दावली ही नातेदारी के बीच के अन्तर को स्पष्ट करती है। उदाहरण के लिये रक्त संबंधियों और विवाह संबंधियों में जो पद प्रयुक्त होते हैं, वे एक दूसरे से

भिन्न होते हैं। पिता की बहिन को बुआ कहा जाता है और माता की बहिन को मौसी। इसी भाँति पिता का भाई चाचा या ताऊ कहा जाता है और माता का भाई मामा।

पितृवंशीय नातेदारों के व्यवहार का एक प्रतीक विशेष अवसरों पर उपहारों का आदान-प्रदान है। विवाह उपहारों के आदान-प्रदान का एक अच्छा उदाहरण है। देखा जाये तो विवाह के अवसर पर वस्तुओं का विनिमय (Exchange) पर्याप्त रूप से होता है। इस विनिमय के आधार पर ही सामाजिक मानवशास्त्रियों में जिनमें लेवी स्ट्राउस और पीरे बोर्दियों आदि हैं ने संरचनात्मक सिद्धांत का निर्माण किया है। व्यक्ति विशेष की अन्त्येष्टि पर भी आदान-प्रदान होता है। पितृवंशीय नातेदारी की निरन्तरता उपहारों के आदान-प्रदान से ही बनी रहती है।

मातृवंशीय नातेदारी

मातृवंशीय नातेदारी वह है जिसमें माँ के माध्यम से संतान को वंशक्रम समूह का सदस्य बनाया जाता है। इन समूहों को मातृवंशीय परम्परा मानने वाला समूह कहा जाता है। मातृवंशीय नातेदारी भारत के दक्षिण-पश्चिमी तथा उत्तर-पूर्वी भागों में पायी जाती है। केरल तथा लक्षद्वीप में मातृवंशीय नातेदारी व्यवस्था प्रचलित है। इसी भाँति मेघालय, तथा असम की गारों एवं खासी जनजातियों में भी मातृवंशीय नातेदारी मिलती है।

मातृवंशीय नातेदारों में सम्पत्ति का अधिकार जिसे दायभाग प्राप्ति कहते हैं, माता से मिलता है। इस व्यवस्था में लड़के का जन्म अधिक महत्वपूर्ण नहीं समझा जाता। यहाँ सम्पत्ति का स्थानान्तरण माँ से बेटी की परम्परा में होता है। इस व्यवस्था के होते हुए भी सम्पत्ति की देख रेख का काम पुरुष ही करते हैं। इसी भाँति राजनीति में भी पुरुषों का ही प्रतिनिधित्व होता है। दक्षिण भारत में नायर समाज में पायी जाने वाली मातृवंशीय नातेदारी का अध्ययन सामाजिक मानवशास्त्रियों ने गहराई से किया है। देखा जाये तो केरल राज्य में मातृवंशीय परम्परावादी समुदायों की बहुलता है। इन समुदायों में नायर, तिय्यर और माप्पिला मुख्य हैं। लक्षद्वीप में मुस्लिम समुदाय के लोग मातृवंशक्रम को अपनाते हैं। केरल तथा लक्षद्वीप के मातृवंशीय नोतेदारी का अध्ययन विशेष रूप से कैथलिन गफ (1956) और लीला दुबे (1969) ने किया है।

मातृवंशीय नातेदारी की एक बड़ी विशेषता है। यहाँ पाये जाने वाले नम्बूदरी जो पितृवंशीय हैं और नायर जो मातृवंशीय हैं दोनों में विवाह संबंध मिलते हैं। मलयालम भाषा में मातृवंश परम्परा को मरूमक्कत्तयम कहते हैं। तथा पितृवंश परम्परा जो नम्बूदरी में मिलती है, मक्कत्तायम कहते हैं। यदि हम प्रचुरता की मात्रा से देखें तो उत्तर केरल में मातृवंशीय परम्परा का अधिक प्रचलन हैं, नम्बूदरी बाह्मण यद्यपि पितृवंशीय हैं फिर भी उनका एक पुत्र नायर के मातृवंश में विवाह अवश्य करता है।

जिस भाँति उत्तर भारत में हिन्दू जातियों में संयुक्त परिवार होता है वैसे ही केरल के मातृवंशीय परिवार तारवाड़ कहलाते हैं। यहाँ संयुक्त परिवार का स्वरूप तारवाड़ में देखने को मिलता है। तारवाड़ में माँ और उसके बच्चे रहते हैं। तारवाड़ की व्यवस्था में मामा की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण होती है।

कैथलिन गफ में अपने तारवाड़ के अध्ययन में कई महत्वपूर्ण तथ्य रखे हैं। पिछले दिनों में, वे कहती है एक तारवाड़ में कम से कम छ: सदस्य एवं अधिक से अधिक 25 या 30 सदस्य होते थे। गफ कहती हैं कि यदि हम उत्तर भारत के पितृवंशीय परम्परा और दक्षिण भारत में मातृवंशीय परिवार का तुलनात्मक अध्ययन करें तो कुछ महत्वपूर्ण बातें हमारे सामने आती हैं। उदाहरण के लिये दोंनों ही वंश परम्पराओं में सम्पत्ति का प्रबन्ध पुरुषों के हाथ में होता है। दोनों वंशक्रमों में जातिगत विधि-विधानों का संचालन भी पुरुष ही करते हैं। इन दोनों व्यवस्थाओं का बहुत बड़ा अन्तर यह है कि पितृवंशीय नातेदारी में सम्पत्ति का उत्तराधिकार पिता से पुत्र को मिलता है और मातृवंशीय नातेदारी में माँ से पुत्री को मिलता है। इन दोनों व्यवस्थाओं में जहाँ एक ओर संयुक्त परिवार हैं तो दूसरी ओर तारवाड़। दोनों व्यवस्थाओं में नातेदारी शब्दावली भी भिन्न है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

- कर्वे, इरावती, 'किनशिप आरगेनाइजेशन इन इंडिया' डकन कॉलेज, पोस्टग्रेजुएट एण्ड रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, 1953
- कापड़िया, के. एम., 'भारतवर्ष में विवाह एवं परिवार', (हिन्दी अनुवाद) हरिकृष्ण रावत, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1977
- गफ, कैथलीन, 'ब्राह्मण किनशिप इन ए तमिल विलेज', अमेरिकन एंथ्रोपोलोजिस्ट, 58 (5), 1956
- धुर्ये, गोविन्द सदाशिव, 'फेमिली एण्ड किन इन इंडो' योरोपियन कल्चर, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, मुंबई, 1955
- प्रभु, पंढ़ारीनाथ, 'हिन्दू सोशल आरगेनाइजेशन', द पोपूलर बुक डिपो, मुंबई
- जैन, शोभिता, 'भारत में परिवार, विवाह और नातेदारी', रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर
- देसाई ए. आर., 'भारत में शहरी परिवार और परिवार नियोजन', हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1986
- दुबे, लीला, 'मेट्रिलिनी एंड इस्लाम,' नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 1969
- शाह, अरविंद एम. 'द हाउसहोल्ड डाइमेंशन ऑफ द फेमिली इन इंडिया,' ओरियंट, लाँगमेन्स, दिल्ली 1973
- देसाई, आई. पी., सम आस्पेक्ट्स ऑफ फेमिली इन महुआ,' एशिया पब्लिशिंग हाऊस, न्यूयार्क, 1964

लोक, अभिजात एवं जनजातीय संस्कृति 15

संस्कृति मानव समाज की महत्वपूर्ण विशेषता है। इसका संबंध मानव जीवन के अनेक पक्षों से है। मानव समाज को अपनी सांस्कृतिक विशेषता के कारण ही पशु समाज से पृथक किया जाता है। संस्कृति को विभिन्न समाजशास्त्रियों एवं मानवशास्त्रियों ने परिभाषित किया है। एडवर्ड टायलर ने अपनी कृति प्रिमिटिव कल्चर में संस्कृति को परिभाषित करते हुए लिखा है यह वह जटिल समग्रता है, जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून, प्रथा और ऐसी ही अन्य क्षमताओं एवं आदतों का समावेश होता है, जिसे मनुष्य समाज के एक सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है। (टायलर; 1874 : 1) इस परिभाषा से स्पष्ट है कि संस्कृति मानव की सामाजिक विरासत है, समाज द्वारा मानव को दिया गया उपहार है जिसे मनुष्य जन्म लेने के बाद प्राप्त करता है। संस्कृति प्रकृति की देन नहीं, बल्कि समाज की देन है। संस्कृति के आधार पर ही एक समाज दूसरे समाज से भिन्न होता है। अनादिकाल से मानव समाज संस्कृति के आधार पर ही एक समाज दूसरे समाज से भिन्न होता है। आनादिकाल से मानव समाज संस्कृति के आधार पर तीन भागों में विभाजित रहा है। लोक संस्कृति का तात्पर्य उस समाज से है जिसका आकार लघु होता है तथा जिसमें अशिक्षा, समानता, जीवन का रूढ़िगत ढंग एवं समूह दृढ़ता की भावना पाई जाती है। लोक संस्कृति में व्यक्तियों का रहने का तरीका सरल तथा साधारण होता है। लोक संस्कृति को एक ऐसी सामान्य जीवन शैली के रूप में देखा जा सकता है जो किसी क्षेत्र के अनेकों गाँवों तथा कस्बों के सभी व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करती है। अभिजात संस्कृति हम उस संस्कृति को कहते हैं जिसका उल्लेख प्राचीन मूल धर्म ग्रंथों में हुआ है तथा जिसका निर्माण चिंतनशील व्यक्तियों द्वारा हुआ है इसलिए अभिजात संस्कृति अधिक व्यवस्थित व क्रमबद्ध होती है। भारतीय समाज के धर्म ग्रंथ जैसे रामायण, महाभारत व गीता आदि संस्कृति की अभिजात परम्परा का उल्लेख करते हैं। जनजातीय संस्कृति स्वयं में एक स्वतन्त्र संस्कृति है। इस प्रकार की संस्कृति को जनजातीय साहित्य, कला, संगीत, नृत्य तथा धर्म आदि विशेषताओं के आधार पर समझा जा सकता है। उपर्युक्त तीनों प्रकार की संस्कृतियों में रहन-सहन, आचार-विचार, शिक्षा, मूल्य, विश्वास एवं व्यवहार के तरीके आदि में प्रत्यक्ष रूप से

भिन्नता देखी जा सकती है। इस अध्याय में लोक, अभिजात एवं जनजातीय संस्कृति के अवधारणात्मक पक्ष को प्रस्तुत करते हुए, विभिन्न संस्कृतियों में परस्पर अंत:क्रिया के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

लोक संस्कृति

लोक संस्कृति की अवधारणा का प्रयोग सर्वप्रथम रॉबर्ट रैडफील्ड ने अपनी कृति पीजेण्ट सोसायटी एण्ड कल्चर (1956) में प्रतिपादित किया है। रैडफील्ड ने लोक संस्कृति को नगरीय जीवन के प्रतिकूल एक विशिष्ट संस्कृति के रूप में समझने का प्रयास किया है। 'लोक' शब्द के अंतर्गत गाँव, कस्बें, नगर अथवा किसी क्षेत्र विशेष के सभी ऐसे व्यक्तियों को सम्मिलित किया जाता है जिनमें सामान्य सांस्कृतिक विरासत की चेतना होती है, जिनमें कुछ स्थायी लक्षण होते हैं, जिनका व्यावहारिक ज्ञान लिखित धर्मग्रंथों पर आधारित न होकर मौखिक परंपरा पर आधारित होता है। हमारे देश के विभिन्न गाँवों में जो संस्कृति के आयाम देखने को मिलते हैं, वे सभी लोक संस्कृति के उदाहरण हैं। शाम होते ही गाँव की चौपाल पर बैठकर गप्प लगाना, ग्रामीण जीवन पर टिप्पणी करना आदि ग्रामीण संस्कृति के भाग हैं। हिन्दी साहित्य में प्रेमचंद ने लोक संस्कृति पर आधारित बहुत बड़ा साहित्य प्रस्तुत किया है। बंगाल से लोक संस्कृति का जीवंत चित्रण महाश्वेता देवी के उपन्यासों में देखने को मिलता है। लोक संस्कृति का सीधा संबंध सामान्य जन जीवन से होता है। इन अर्थों में यह संस्कृति ठेठ जीवन से जुड़ी होती है।

लोक संस्कृति में व्यक्तियों की जीवन शैली सभ्य व्यक्तियों की अपेक्षा अत्यधिक पारंपरिक सरल, स्वाभाविक तथा कम व्यवस्थित होती है। रैडफील्ड ने प्रारम्भ में लोक संस्कृति के स्थान पर कृषक-संस्कृति शब्द का प्रयोग किया था। कालांतर में जार्ज एम. फॉस्टर ने ग्रामीण विशेषताओं वाली संस्कृति को लोक संस्कृति के नाम से समझा। रैडफील्ड ने अपनी कृतियों में लोक संस्कृति तथा कृषक संस्कृति दोनों अवधारणाओं को समान अर्थों में प्रयोग किया है।

रॉबर्ट रैडफील्ड द्वारा प्रतिपादित लोक संस्कृति की अवधारणा ग्रामीण समाजशास्त्र के अध्ययन में विशेष महत्व रखती है। इन्होंने इसी संदर्भ में शहर, कस्बे, गाँव तथा जनजातीय ग्राम का तुलनात्मक अध्ययन किया था। इसके अतिरिक्त आस्कर लेविस ने मेक्सिको एवं भारत के दो गाँवों का अध्ययन किया। मोरिस ऑपसर एवं रुद्रा दत्त सिंह ने पूर्वी उत्तर प्रदेश के दो गाँवों का लोक संस्कृति के संदर्भ में तुलनात्मक अध्ययन किया है। रूथ बेनेडिक्ट ने अपनी कृति पेटर्नस ऑफ कल्चर (1935) में तीन जनजातीय समाजों का अध्ययन किया है। रैडफील्ड का अध्ययन इन सभी विद्वानों के अध्ययनों की तुलना में विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। रैडफील्ड के लोक संस्कृति की अवधारणा के विचार-स्रोत के रूप में तीनों समाजशास्त्रियों एच. एस. मैन, एफ. टोनिज तथा एमिल दुर्खाइम के विचार एवं अध्ययन महत्वपूर्ण है। जिन्होंने लोक-संस्कृति की अवधारणा स्पष्ट की है जो इस तरह है :

(1) एच. एस. मैन ने समाज के विकास को स्पष्ट करते हुए दो प्रकार की समाज व्यवस्थाओं का उल्लेख किया है। प्रथम प्रकार की समाज व्यवस्था वह है, जिसके आधार रूप में प्रस्थिति तथा नातेदारी संबंध का महत्व होता है, जबकि दूसरे प्रकार की समाज व्यवस्था के आधार के रूप में क्षेत्र सामाजिक समझौते का महत्व पाया जाता है। इनके अनुसार समाज का विकास प्रथम प्रकार की समाज-व्यवस्था से दूसरे प्रकार की समाज-व्यवस्था अर्थात प्रस्थिति से समझौते की ओर हो रहा है।

रैडफील्ड ने प्रथम प्रकार की समाज व्यवस्था की विशेषताओं में लोक समाज और लोक-संस्कृति का विचार ग्रहण किया है।

(2) एफ. टॉनिज ने समाज को दो प्रकारों में वर्गीकृत किया है; प्रथम समाज तथा द्वितीय समुदाय। इस वर्गीकरण के आधार पर यह बताया गया है कि प्राचीन समय में समाज के संगठनों का रूप साधारण था, जबकि वर्तमान समय में ये रूप जटिल होता जा रहा है।

(3) एमिल दुर्खाइम ने अपनी कृति समाज में श्रम-विभाजन में दो प्रकार के सामाजिक संगठनों का उल्लेख किया है। प्रथम-यांत्रिक एकता तथा द्वितीय-सावयवी एकता। प्राचीनकाल के आदिम समाजों में यांत्रिक अर्थात समरूपता पाई जाती है जबकि आधुनिक या औद्योगिक समाजों में सावयवी एकता अर्थात भिन्नताओं एवं सामाजिक परिवर्तन का होना। इस उपर्युक्त विचारकों के अध्ययनों से ही प्रभावित होकर रैडफील्ड ने लोक संस्कृति की अवधारणा प्रतिपादित की है।

लोक संस्कृति का अर्थ

लोक समाज की संस्कृति को ही लोक संस्कृति के नाम से जाना गया है। रैडफील्ड ने लोक समाज को एक ऐसा समाज माना है। जिसमें नगरीय समाज से विपरीत प्रकार की विशेषताएँ पाई जाती हैं। यह एक ऐसा समाज है जिसका आकार छोटा होता है तथा जिसमें अशिक्षा, समानता, जीवन का रूढ़िगत ढंग एवं समूह दृढ़ता की भावना पाई जाती है। ऐसे समाज को अन्य विशेषताओं के रूप में कानून का अभाव, परंपरागत प्रकार का व्यवहार जो प्रमुखतः वैयक्तिक एवं आलोचना रहित होता है। परिवार तथा नातेदारी समूह में लोगों के क्रियाकलापों में एकता, धर्म का प्रभाव, अर्थव्यवस्था का बाजार के स्थान पर प्रस्थिति (status) आधारित होना तथा बुद्धिजीवी वर्ग के चिंतन का अभाव आदि प्रमुख हैं। दुर्खीम, टॉनिज तथा रैडफील्ड आदि समाजशास्त्रियों के अनुसार लोक समाज की उत्पत्ति प्राकृतिक कारकों का परिणाम है। ऐसे समाज का आधार नातेदारी, मित्र समूह और पड़ौस हैं। इस प्रकार के समाज में विभिन्न कार्य लोक रीतियों, रूढ़ियों तथा धर्म पर आधारित होते हैं। इन समाजों की संस्कृति को ही लोक संस्कृति कहते हैं।

जार्ज एम. फोस्टर ने लोक संस्कृति को परिभाषा निम्न प्रकार से दी है, 'लोक संस्कृति को जीवन के एक सामान्य तरीके के रूप में देखा जा सकता है जो एक क्षेत्र विशेष के बहुत से गाँवों कस्बों तथा नगरों के कुछ या सभी लोगों की विशेषता के रूप में है जिसकी एक लोक संस्कृति है (लोक संस्कृति क्या है? अमेरिकन एंथ्रोपोलाजिस्ट, वोल्यूम 55, 1953, पेज 139)। लोक संस्कृति को एक ऐसी सामान्य जीवनशैली के रूप में देखा जा

सकता है जो किसी क्षेत्र के अनेकों गाँव, कस्बों तथा नगरों के कुछ अथवा सभी व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करती है।

रॉबर्ट रैडफील्ड के अनुसार लोक समाज की सांस्कृतिक विशेषताओं का समन्वय ही लोक संस्कृति है। यह एक ऐसा समाज है जो आकार में लघु होता है तथा जिसमें व्यवस्थित शिक्षा का अभाव, सदस्यों के व्यवहार में समरूपता, समूह दृढ़ता तथा रूढ़िवादिता पाई जाती है। इस समाज में व्यक्तियों के व्यवहार कानून की तुलना में परंपराओं तथा धार्मिक नियमों से अधिक प्रभावित होते हैं। उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि लोक समाज की संस्कृति ही लोक संस्कृति है। ऐसी संस्कृति में रूढ़ियों का प्रभुत्व अधिक होता है। इसमें परिवार, नातेदारी, धर्म एवं पड़ौस की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण होती है। इसमें बौद्धिक चिंतन एवं बाजार अर्थव्यवस्था का अभाव होता है। लिखित साहित्य के स्थान पर मौखिक परंपराएं अधिक प्रचलित होती हैं। लोक संस्कृति की अवधारणा को अधिक स्पष्ट समझने के लिए निम्न विशेषताओं का उल्लेख जी. एम. फॉस्टर रॉबर्ट रेडफील्ड, मैक्किम मैरियट आदि विद्वानों ने किया।

(1) लोक संस्कृति मौखिक सांस्कृतिक परंपरा है:

यह मौखिक सांस्कृतिक परंपरा है अर्थात यह मौखिक रूप से एक-दूसरे को हस्तांतरित की जाती है। और-यह प्रत्यक्ष रूप से पुस्तकों पर आधारित नही है। लोक संस्कृति तथा अभिजात संस्कृति में निरंतर अंत:क्रिया होती रहती है। वास्तव में लोक संस्कृति को अभिजात संस्कृति के संदर्भ में अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है। इसमें धर्म, साहित्य, संगीत, लोक गाथा, विश्वास और व्यवहार आदि का ज्ञान प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को विशेष प्रशिक्षण प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं रहती। इनसे संबंधित गतिविधियों में भाग लेते हुए व्यक्ति इन्हें सीख लेता है। वे गाते और नृत्य करते हैं। वे स्वयं ही कलाकार और दर्शक होते हैं।

(2) लोक संस्कृति का रूप व्यावसायिक नहीं होता है :

लोक संस्कृति में ज्ञान और कला के क्षेत्र में व्यावसायीकरण की संभावना नहीं के समान रहती है। यह इसलिए कि लोक संस्कृति से संबंध रखने वाले संगीतज्ञ, वास्तुकार, शिल्पकार आदि अपनी-अपनी कलाओं का प्रदर्शन किसी व्यावसायिक लाभ की प्राप्ति के लिए नहीं करते बल्कि इसका उपयोग ग्रामीण जीवन को सुखद, मनोरंजक एवं ग्रामीण जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए करते हैं।

(3) लोक संस्कृति किसी स्थान अथवा ग्राम विशेष से संबंधित नहीं है :

प्रोफेसर टी. के. एन. उन्नीथान, इन्द्रदेव और योगेन्द्र सिंह द्वारा रचित कृति 'टुवर्डस ए सोशियोलॉजी ऑफ कल्चर इन इण्डिया (1965)' में यह स्पष्ट किया है कि लोक संस्कृति को किसी स्थान अथवा ग्राम विशेष से संबंधित नहीं माना जा सकता। इन लेखकों के अनुसार वे अवधारणाएँ जो यह मानकर चलती हैं कि भारत में लोक संस्कृति अनिवार्यत: स्थानीय है, पूर्णत: विवेकपूर्ण नहीं मानी जा सकती। उदाहरण के लिए- मैकिम मैरियट की दो

अवधारणाएँ क्रमशः सार्वभौमीकरण और स्थानीयकरण यहाँ तक तो सही है कि वे अभिजात और लोक परंपराओं के मध्य आदान-प्रदान की प्रक्रिया को व्यक्त करती है, किंतु जब यह मानकर चला जाता है कि यदि एक तत्व दीर्घ (अभिजात) से लघु (लोक) संस्कृति तक पहुँचता है तो यह निश्चित रूप से स्थानीयकृति या संकुचित हो जाता है यह कथन गंभीर रूप से भ्रांतिपूर्ण है। लोक संस्कृति किसी एक ग्राम तक सीमित नहीं है। भारत में लोक परंपरा को मानना तो ठीक है, लेकिन भारतीय ग्राम को एक लघु ग्राम मानना एक भारी भूल होगी। यहाँ इस बात की सावधानी रखनी चाहिए कि लोक संस्कृति अथवा लघु परंपरा को समुदाय के साथ नहीं जोड़ा जाए। जनसाधारण (लोक) से मिलकर किसी अलग समुदाय का निर्माण नहीं होता। इसलिए एकाकी ग्रामीण अध्ययन संपूर्ण लोक संस्कृति को समझने के लिए पर्याप्त नहीं है, इस प्रकार के अध्ययन जनसाधारण की संस्कृति को समझने के लिए केवल कुछ महत्वपूर्ण जानकारी ही दे सकते हैं।

उपरोक्त लेखकों ने बताया है कि लोक संस्कृति ग्रामों में ही सीमित नहीं है, बल्कि अधिकांश ग्रामीण लोक परंपरा के वाहक रहे हैं। कस्बों में भी निम्न वर्गों के स्रोत साधारणतः लोक परंपरा के वाहक रहे। कस्बों में उच्च वर्गों में स्त्रियाँ अभिजात-परंपरा की सक्रिय वाहक नहीं हैं, वे साधारण संस्कृति की लोक-उपसंरचना से ही संबंधित हैं। इस प्रकार लोक परंपरागत रूप से अधिकांश ग्रामीण जनसंख्या पर कस्बों में निम्न वर्ग के लोगों पर और यहाँ तक कि उच्च वर्गों से संबंधित अधिकांश स्त्रियों पर भी प्रभाव है। उपर्युक्त कथन का आशय यह है कि लोक एवं अभिजात संस्कृति के वाहक परस्पर काफी निकट रहे हैं, यह भी संभव है कि एक परिवार के कुछ सदस्य अभिजात और कुछ सदस्य लोक परंपरा के वाहक हो सकते हैं।

(4) लोक संस्कृति को जीवन के एक सामान्य तरीके के रूप में देखा जा सकता है :

लोक संस्कृति के अंतर्गत वे सब देवी-देवता, धार्मिक विधि-विधान अथवा अनुष्ठान, ज्ञान, कला, विश्वास, संगीत, साहित्य, कहावतें, मुहावरें, लोक-गाथाएं, नाटक और विश्वास आते हैं। ये मौखिक रूप से ही एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी की ओर स्वतः ही हस्तांतरित होते रहे हैं। जिनका प्रत्यक्ष रूप से कोई धर्म ग्रंथ या कोई अन्य पुस्तक नहीं है। लेकिन साधारणतः प्रत्येक गाँव में कुछ ऐसे देवी-देवता, एवं अनुष्ठान आदि भी पाए जाते हैं जो उस स्थान या क्षेत्र विशेष से ही संबंधित होते हैं तथा जिनका अभिजात संस्कृति से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं पाया जाता। इस प्रकार लोक संस्कृति का एक स्थानीय स्वरूप देखा जा सकता है।

भारत में विभिन्न भागों में जिन गाँवों के अध्ययन हुए हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि गाँवों में प्रभाव क्षेत्र के विस्तार को देखते हुए तीन प्रकार के देवी देवता माने जाते हैं। (1) ग्राम देवता, (2) प्रादेशिक देवता (3) देशव्यापी देवता। प्रायः अभिजात परंपरा का उद्‌गम स्रोत कोई धर्म ग्रंथ होता है, जिसका विस्तार संपूर्ण भारत में होता है, जैसे-भगवान शिव, कृष्ण, राम की उपासना अथवा होली, दीपावली आदि त्यौहार मनाना। किंतु गाँवों के स्तर पर उपर्युक्त त्यौहारों के अतिरिक्त कुछ ऐसे

भी देवी-देवता अनुष्ठान मेले आदि देखे जा सकते हैं जिनका प्रचार-प्रसार संपूर्ण भारत में न होकर केवल लोक समाज तक ही सीमित होता है। विष्णु तथा शिव की पूजा विभिन्न नामों से देशव्यापी रूप में की जाती है। कुछ विशेष प्रकार की बीमारियों से बचाने की शक्ति रखने वाली देवियों की पूजा भी विभिन्न नामों से देशव्यापी रूप में प्रचलित है। चेचक से बचने के लिए शीतला माता की पूजा उत्तर भारत में तथा इसी निमित्त पोचम्मा की पूजा आंध्र प्रदेश के गाँवों में की जाती है। (दुबे, 1955:111)

इस प्रकार यद्यपि पूजा का निमित्त एक ही है, किन्तु उससे संबंधित देवी देवता के नाम तथा उनकी पूजा के समय में अंतर होता है। शीतला माता की पूजा उत्तर भारत में होली के सात दिन बाद चैत्र (मार्च-अप्रैल माह) में की जाती है, जबकि दक्षिण भारत में श्रावण (जुलाई-अगस्त माह) में किसी गुरूवार या शनिवार को निश्चित की जाती है। इसी प्रकार राजस्थान में गौरी पूजन चैत्र (मार्च-अप्रैल माह) में गणगौर के रूप में मनाया जाता है जबकि तेलंगाना में आश्विन (सितंबर-अक्तूबर माह) के प्रथम नौ दिवस गौरी पूजन के लिए माने गए हैं। (दुबे, 1955, 113,) कुछ देवी-देवता यद्यपि संस्कृत ग्रंथों में वर्णित है फिर भी अपना महत्व प्रादेशिक ही रखते हैं। कुछ वीर योद्धाओं के साथ ऐसी चमत्कारपूर्ण घटनाएं संलग्न कर दी जाती हैं कि उनका प्रभाव कम से कम प्रादेशिक हो जाता है। राजस्थान के रामदेवजी तथा तेजाजी की गिनती उन महापुरुषों में की जा सकती है जिनमें साधारण जनता देवत्व की झलक देखती है और जिन्हें आज भी देवता के रूप में पूजा जाता है। शिव के रूप में भैरव की पूजा भी अपना प्रादेशिक महत्व रखती है। गाँव में अपनी सीमा के भीतर ही अपना प्रभाव क्षेत्र रखने वाले स्थानीय देवी-देवता की भी पूजा की जाती है। गाँव की सीमाओं की रक्षा करने वाली देवी तेलंगाना प्रदेश में सम्मा के नाम से पुकारी जाती है तथा दुर्गम्मा को गाँव की भलाई तथा भाग्य निर्धारण करने वाली देवी माना जाता है। (दुबे, 1955, 95)। राजस्थान में कुछ गाँवों में खेड़ा खूंट की देवी की पूजा इसी निमित्त की जाती है। उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश में भी विवाह के अवसरों पर गाँव के विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा की जाती है। (चौहान, 1968) अपने देवी-देवताओं की इस प्रकार विभिन्न रूप में पूजा करते हुए ग्रामीण समुदाय के लोग अपनी एकता का परिचय देते हैं। पूजा के इन अवसरों पर विभिन्न जातियों के व्यक्ति एकत्रित होते हैं, और कुछ क्षणों के लिए असाधारण कठिनाई के सामने अपने साधारण भेदभाव भूल जाते हैं। प्रो. ब्रजराज चौहान ने पूर्वी राजस्थान के कोटा के अध्ययन के आधार पर 10 पर्व ऐसे बताए हैं जो संपूर्ण भारत में मनाए जाते हैं। ये पर्व हैं : होली, दीपावली, दशहरा, रक्षाबंधन, जन्माष्टमी, श्राद्ध आदि, 23 पर्व आंचलिक है जैसे - करवा चौथ, नाग पंचमी, गणगौर आदि, 15 पर्व स्थानीय हैं जैसे - दूधिया खेड़ी माताजी की पूजा, पीपस पूजा, बड़ पूजन आदि।

मैकिम मैरियट ने उत्तरप्रदेश के किशनगढ़ी गाँव का अध्ययन करके इस विशेषता से संबंधित अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं जो केवल उस क्षेत्र विशेष की विशेषता कहे जा सकते हैं। किशनगढ़ी क्षेत्र में 'बासुर पूजा' कुए के देवता की पूजा, बरहो

बाबू की पूजा–ऐसे मेले या त्यौहार है जिनका अभिजात संस्कृति या वृहद परंपरा से कोई संबंध नहीं है। इसी प्रकार दीपावली पर 'सौरती' देवी पर 'सौरती' देवी की पूजा की जाती है जो लक्ष्मी से भिन्न मानी जाती है। दीपावली पर सौरती देवी की चावल के आटे की एक प्रतिमा बनाते हैं और विभिन्न तरीकों से उसकी पूजा करते हैं। तत्पश्चात् देवी से समृद्धि एवं परिवार और पशुओं की सुरक्षा हेतु प्रार्थना करते हैं। मैरियट के अनुसार, ग्राम के कुछ लोग सौरती और लक्ष्मी को एक ही देवी के रूप में मानते हैं तो कि अभिजात संस्कृति का प्रतीक है। लेकिन अधिकांश लोग इन्हें अलग-अलग देवी के रूप में मानते हैं। इन लोगों का मानना है कि लक्ष्मी केवल धनी लोगों की देवी है जबकि सौरती उनकी देवी है। मैरियट ने व्यापकीकरण तथा स्थानीयकरण की प्रक्रियाओं को विस्तार से समझने का प्रयास किया है।

उदाहरणार्थ दीपावली के दूसरे दिन गोवर्धन की पूजा होती है। उत्तरप्रदेश की ब्रज भूमि में इसका विशेष अर्थ है। क्योंकि गोवर्धन पर्वत वहीं स्थित है। महाभारत की कथा में यह माना गया है कि इंद्र के प्रकोप से गाँव वालों की अतिवृष्टि से रक्षा करने के लिए भगवान कृष्ण ने अपनी छोटी अँगुली पर गोवर्धन पर्वत उठा लिया था, और सभी ग्रामवासी व उनके पशु उसके नीचे आकर बच गए थे। शब्दार्थ में गोवर्धन गौ वर्धन करने वाला है। इस अवसर पर घर-घर में गोबर से पर्वत का प्रतीक बनाया जाता है। रूई या कपास से गायें बनाई जाती हैं, तथा कुछ लकड़ियों के टुकड़ों से पेड़ बनाए जाते हैं।

मैरियट ने संस्कृत शब्द के गोवर्धन का स्थानीय उच्चारण गोबरधन माना है। किन्तु इससे आगे उन्होने यह भी कहा यह गोबर को धन माना गया है, इसलिए गोबर की ही यह पूजा है। यह एक शास्त्रीय पद्धति का स्थानीयकरण है। इसी प्रकार किशनगढ़ी ग्राम में ही रक्षाबंधन के दिन इस त्यौहार के अतिरिक्त एक अन्य त्यौहार भी मनाया जाता है, जिसे सैलूनों के नाम से जानते हैं। इस अवसर पर पिछले पंद्रह दिन से युवा पत्नियाँ अपने माता-पिता और भाई-बहिनों के यहाँ रहने आती हैं। सैलूनों के दिन उनके पति भी उन्हें वापस लेने हेतु अपने ससुराल आते हैं। इस दिन अपने पतियों साथ वापस लौटने से पूर्व पत्नियाँ और उनकी अविवाहित बहने अपने भाईयों के प्रति सम्मान व्यक्त करते हुए उनके कान और सिर पर जौ (अनाज) की बालियाँ रखती हैं। क्योंकि भाई अपनी बहनों से मुफ्त भेंट के रूप में कुछ भी स्वीकार नहीं करते, अतः बदले में वे उन्हें कुछ रुपये आदि भेंट स्वरूप प्रदान करते हैं। इसी दिन यहाँ रक्षाबंधन का त्यौहार जो कि अभिजात संस्कृति से भी संबंधित है मनाया जाता है।

मैकिम मैरियट की मान्यता है कि यह संभव है कि सौरती की पूजा तथा सैलूनों जैसे लघु परंपरा या लोक संस्कृति से संबंधित किसी त्यौहार से ही दीपावली एवं रक्षाबंधन जैसे अभिजात संस्कृति से संबंधित त्यौहारों की उत्पत्ति हुई हो। इस प्रकार मैरियट ने शास्त्रीय वृहद् परंपराओं के स्थानीयकरण और स्थानीय रीतियों के सार्वीकिकरण की संभावनाएँ व्यक्त की है।

(5) लोक संस्कृति अर्द्ध संस्कृति है :

जिस प्रकार कृषक समाज अर्द्ध समाज है, उसी प्रकार लोक संस्कृति को 'अर्द्ध संस्कृति' कहा जाता है लोक संस्कृति स्वयं में पूर्णत: संस्कृति नहीं है क्योंकि लोक संस्कृति और अभिजात संस्कृति एक दूसरे पर निर्भर रहती है। इसमें निरंतर अंत:क्रिया होती रहती है। पारस्परिक आदान-प्रदन की यह प्रक्रिया कला, संगीत, नृत्य, भाषा आदि सभी सामाजिक एवं कलात्मक क्षेत्रों में देखने को मिलती है। मिल्टन सिंगर ने अपने अध्ययन दि ग्रेट ट्रेडिशन इन ए मैट्रोपोलिटन सेन्टर-मद्रास में बताया है कि भारत में लघु और वृहद परंपराएं ग्रामों तथा कस्बों में भिन्न-भिन्न रूपों में पाई जाती है। लोक और अनुष्ठानात्मक कार्यक्रम ग्रामों, कस्बों तथा नगरों में पुराने समय से अस्तित्व में हैं। लोकप्रिय भक्तिपूर्ण और शास्त्रीय स्वरूप अनिवार्यत: पिछले सौ वर्षों के नगरीय विकास है। यद्यपि इससे भी अधिक प्राचीन उदाहरण भी मिलते हैं। वर्तमान नगरीय स्वरूप सबसे अधिक आधुनिक है और इनकी उत्पत्ति अनिवार्यत: नगरीय है।

मिल्टन के अनुसार लोकनृत्यों, नाटकों, लोकगीतों तथा लोकगाथाओं में अ-ब्राह्मण पुरुष और नृत्यों तथा गायनों में स्त्रियाँ होती हैं। लोकगाथाओं से संबंधित कलाकार अधिकांशत: ऐसे परिवारों के होते हैं जिनमें पीढ़ी-दर-पीढ़ी इस क्षेत्र में निपुणता प्राप्त की जाती है। अन्य कलाकार अव्यवसायी या रुचिशील होते हैं। लोकगीतों, गाथाओं तथा नाटकों में साधारणत: क्षेत्रीय बोली का प्रयोग होता है तथा इनका लिखित रूप प्राय: कठिनता से ही मिलता है।

अ-ब्राह्मण ग्रामीण मंदिरों में त्यौहार के अवसर पर लोक नाटकों का प्रदर्शन किया जाता है तथा गीत, नृत्य व लोकगाथाओं के आयोजन किसी भी स्थान और समय पर हो सकते हैं। इन कार्यक्रमों में दर्शकगण के रूप में प्राय: अ-ब्राह्मण ही होते हैं। लोक संस्कृति से संबंधित ये कार्यक्रम लघु परंपरा के अधिक निकट है किन्तु इन पर वृहद परंपरा का भी प्रभाव देखने को मिला है। इससे यह अर्थ निकलता है कि लोक संस्कृति और अभिजात संस्कृति में निरंतर अंत:क्रिया होती रहती है, जो नाटकों, काव्य-पाठों, गाथाओं तथा अभिनयों आदि के अवलोकन से स्पष्ट होती है। यह अंत:क्रिया वर्तमान में भी देखने को मिलती है। इस रूप में लोक संस्कृति को अर्द्ध-संस्कृति भी कहा जा सकता है। इस संदर्भ में एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि जब लोक संस्कृति और अभिजात संस्कृति परस्पर अंत:क्रिया करती रहती है तथा दोनों में घनिष्ठता है, इसके पश्चात् भी दोनों संस्कृति अपने-अपने अस्तित्व को पृथक-पृथक क्यो बनाए हुए हैं? एक के द्वारा दूसरे को अपने में आत्मसात् क्यों नहीं कर लिया गया? इसका उत्तर यही है कि दोनों ही समय विश्व दृष्टि रही है, दोनो ही एक-दूसरे के पूरक हैं तथा दोनों का आधार समान व भौतिक मूल्य है।

उन्नीथान, इंद्रदेव और योगेन्द्र सिंह का कहना है कि 'लोक और अभिजात' संस्कृति ने विद्यमान सामाजिक व्यवस्था के समान तात्विक औचित्य प्रस्तुत किए हैं। इन दोनों संस्कृतियों, उप-संरचनाओं दृष्टिकोणों में मौलिक-अंतर्वस्तु का कोई भेद नहीं पाया जाता, लेकिन कृत्रिमता, क्रमबद्धता एवं विशेषीकरण का भेद पाया जाता है। ये विशेषताएँ अभिजात संस्कृति को लोक संस्कृति से

अलग करती हैं। वास्तव में लोक संस्कृति अंश संस्कृति है। इसे अभिजात संस्कृति जो स्वयं भी एक सांस्कृति उपसंरचना ही है के संदर्भ में ही अच्छी तरह से समझा जा सकता है। अभिजात संस्कृति से निरंतर एक लंबे समय से अंत:क्रिया होने के कारण ही इस संस्कृति को अर्द्ध संस्कृति कहा जाता है।

(6) लोक संस्कृति का अभिजात संस्कृति से आदान-प्रदान होता है :

लोक संस्कृति और अभिजात संस्कृति के तत्वों में परस्पर आदान-प्रदान होता रहता है। कुछ विद्वानों की यह मान्यता है कि संस्कृति की गति सदैव ऊपर से नीचे की ओर होती है, अभिजात संस्कृति के तत्व ही नीचे पहुँचते-पहुँचते लोक संस्कृति के सांस्कृतिक तत्वों के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं, लेकिन यह कथन दोषपूर्ण प्रतीत होता है। वास्तविकता यह है कि लोक और अभिजात सांस्कृतिक तत्वों का आदान-प्रदान होता रहता है और यह चक्रीय प्रक्रिया के रूप में चलता है।

लोक संस्कृति अभिजात संस्कृति से कुछ सांस्कृतिक तत्वों को ग्रहण करती है, उनके स्वरूप में कुछ परिवर्तन के साथ उन्हें अपने में आत्मसात् कर लेती है। इसी प्रकार से अभिजात संस्कृति भी लोक संस्कृति के कुछ सांस्कृतिक तत्वों को ग्रहण कर उनके कुछ परिवर्तन कर उन्हें अपने में आत्मसात् कर लेती है। इस प्रकार से दोनों संस्कृतियों में सांस्कृतिक तत्वों का आदान-प्रदान एक चक्रीय प्रक्रिया के रूप में अनवरत चलता रहता है। अत: यह समझना कठिन होगा कि किस सांस्कृतिक तत्व का उदय सर्वप्रथम लोक संस्कृति में हुआ? इस आधार पर यह धारणा भी भ्रमपूर्ण सिद्ध होती है कि अभिजात सांस्कृतिक तत्व ही नीचे पहुँचकर लोक संस्कृति के सांस्कृतिक तत्वों में बदल जाते हैं क्योंकि संस्कृति की गति सदैव ऊपर से नीचे की ओर होती है, परंतु वास्तविकता यह है कि लोक संस्कृति और अभिजात संस्कृति के सांस्कृतिक तत्वों का आदान-प्रदान निरंतर होता रहता है।

(7) लोक संस्कृति में पूर्णता का अभाव है :

लोक संस्कृति की एक विशेषता यह है कि यह संस्कृति बौद्धिक, धार्मिक एवं नैतिक जीवन की दृष्टि से अपूर्ण है। उसकी अभिजात सांस्कृतिक उपसंरचना के साथ निरंतर अंत:क्रिया होती रहती है। यद्यपि लोक संस्कृति ने अपना अस्तित्व कभी अभिजात संस्कृति में विलीन नहीं किया, इसके पश्चात् भी यह संस्कृति अपने बौद्धिक, धार्मिक और नैतिक जीवन के उन्नयन हेतु अभिजात संस्कृति से प्रभावित होती रही है। इस संदर्भ में जार्ज एम. फॉस्टर ने कहा है "किसी भी ग्राम के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि लोक संस्कृति और अभिजात संस्कृति दोनों लघु और वृहद परम्परा के रूप में एक लंबे समय से एक-दूसरे पर अपना प्रभाव डालती रही है। साथ ही हमें इस बात को भी ध्यान में रखना है कि ग्रामीण समुदायों ने अपनी लोक संस्कृति को अभिजात संस्कृति के साथ निरंतर अंत:क्रिया के उपरान्त भी बनाए रखा है'' (रैडफील्ड, 1956:68-69)

लोक संस्कृति-एक आलोचनात्मक दृष्टिकोण

रॉबर्ट रैडफील्ड द्वारा प्रतिपादित लोक संस्कृति की अवधारणा की अनेक विद्वानों ने आलोचना की है,

जो निम्नलिखित है – आस्कर लेविस ने भारत के एक ग्राम रानीखेड़ा और मैक्सिको के टेपोजलान के अध्ययन के आधार पर लोक संस्कृति की अवधारणा की आलोचना निम्न तीन बिंदुओं के आधार पर की है–

(1) लोक संस्कृति की अवधारणा में केवल नगर को ही सब प्रकार के सामाजिक परिवर्तन का स्रोत माना गया है जबकि आंतरिक तथा बाह्य कारण भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है केवल नगर ही प्रमुख स्रोत नहीं है।

(2) आलोचना का दूसरा आधार यह है कि लोक नगरीय वर्गीकरण में जो प्रारूप प्रस्तुत किया गया है वह स्वत: ही स्पष्ट नहीं है। वास्तविकता यह है कि जनजातियों में विभिन्न प्रकार के रहन-सहन के तरीके पाए जाते हैं। साथ ही उनके मूल्यांकनों में भी काफी भिन्नता दिखाई देती है। किन्तु समाज की जिन विशेषताओं को लेकर लोक समाज की व्यवस्था रैडफील्ड ने की है, वह केवल मात्र औपचारिकता है जो जीवन की वास्तविकताओं से संबद्ध नहीं है।

(3) लोक संस्कृति की आलोचना का तीसरा आधार यह है कि इसमें मनोवैज्ञानिक कारक अथवा लोगों के चरित्र की व्याख्या नहीं की गई है तथा समस्या के संकीर्ण पक्ष को ही लिया गया है।

लोक संस्कृति की उपर्युक्त सीमाओं के उपरांत भी यह स्पष्टतया कहा जा सकता है कि ग्रामीण समाज के अध्ययन और छोटे समुदाय के अध्ययनों की दृष्टि से लोक संस्कृति की यह अवधारणा ग्रामीण समाजशास्त्र में उपयोगी है।

लोक संस्कृति में समसामयिक परिवर्तन

लोक संस्कृति के अध्ययन करने वाले विद्वानों की यह मान्यता थी कि लोक संस्कृति रूढ़िवादी, परंपरावादी है तथा इसमें परिवर्तन का कोई स्थान नहीं है। यह धारणा वर्तमान संदर्भ में उचित नहीं कही जा सकती। औद्योगीकरण, आधुनिकीकरण, नगरीकरण, यातायात एवं संचार के साधनों का प्रसार, वैज्ञानिक प्रगति एवं शिक्षा के परिणामस्वरूप ग्रामीण जीवन के सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक संरचना में परिवर्तन होने से लोक संस्कृति भी प्रभावित हुई है।

ग्रामीण क्षेत्रों में नगरीय संस्कृति के तत्व प्रवेश कर रहे हैं। गाँव का लोक समाज नगरीय लोगों के वस्त्र, रहन-सहन के ढंग, कला, जीवन-दर्शन, फैशन, मनोरंजन के साधन आदि को अपना रहा है। रेडियो, टेलीविजन, सिनेमा आदि ने नगरीय प्रभाव को गाँवों तक फैलाया है लोक संस्कृति की यह विशेषता है कि इससे संबद्ध कलाकार, संगीतज्ञ, शिल्पकार अथवा विचारक अपनी कला का उपयोग लाभ अर्जित करने के लिए नहीं करते, अपितु ग्रामीण जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इनका उपयोग किया जाता है। इस रूप में लोक संस्कृति अव्यावसायिक मानी जाती है, किन्तु नगरीय संस्कृति के प्रभाव के परिणामस्वरूप लोक संस्कृति के अंतर्गत कला, साहित्य, संगीत तथा मनोरंजन के साधनों के रूप में अब इसमें व्यावसायिकता होने लगी है। लोक संस्कृति से संबंधित कलाकार अब अपनी कला को बेचने लग गए हैं। कला उनके लिए वस्तु है। नाटक-मंडलियाँ, नृत्य व गीत गाने वाले अब संगठन बनाकर नगरों व गाँवों में घूम-घूम कर

उससे अपनी आजीविका कमा रहे हैं। इसका बहुत बड़ा उदाहरण राजस्थान के रेगिस्तानी इलाके से लंगा है जो व्यावसायिक रूप से लोक संस्कृति को टेलीविजन के माध्यम से बेच रहे हैं। लोक कला में अब सामूहिक सहभागिता कम होती जा रही है तथा धीरे-धीरे यह व्यक्तिवादी प्रकृति ग्रहण कर रही है। लोक संस्कृति से संबंधित स्रोत इसे नगरीय संस्कृति से भिन्न समझते हैं। अत: वे इसके स्थान पर नगरीय संस्कृति को ग्रहण कर रहे हैं। वर्तमान में हो रहे समसामयिक परिवर्तनों के पश्चात् भी आज लोक संस्कृति जीवित है। लोक संस्कृति की विशिष्टता, मौलिकता आज भी विद्यमान है। यह इसलिए कि लोक संस्कृति ठेठ जमीन से जुड़ी है इसका प्रवेश लोक जीवन के दिन प्रतिदिन के क्रिया-कलापों में है और इससे आगे इसकी गतिशीलता भी है। शायद इसी कारण यह जीवित भी है।

अभिजात संस्कृति का अर्थ

अभिजात संस्कृति का तात्पर्य उस संस्कृति से है जिसका उल्लेख प्राचीन मूल धर्म ग्रंथों में हुआ है तथा अभिजात वर्ग के चिंतनशील व्यक्तियों द्वारा निर्मित एवं विकसित होने के कारण अधिक क्रमबद्ध, व्यवस्थित व स्पष्ट होती है, जिनका सारा कार्य वृहत स्तर पर होता है। भारतीय समाज में तीन प्रकार की सांस्कृतिक परंपराएं हैं जिन्हें सांस्कृतिक उप-संरचनाओं के नाम से पुकारा जा सकता है। उन्नीथान तथा उनके सहयोगियों ने इन्हें (1) अभिजात, (2) लोक, (3) जनजातीय उप-संरचनाओं के रूप में समझने का प्रयास किया है। इनमें से किसी भी सांस्कृतिक उप-संरचना का प्रतिनिधित्व समाज के किसी एक वर्ग विशेष द्वारा नहीं किया जाता। कोई भी उप-संरचना इस दृष्टि से अपने विशुद्ध रूप में नहीं पाई जाती है किसी भी सांस्कृतिक उप-संरचना को शेष दो उप-संरचनाओं से पृथक करके नहीं देखा जा सकता। इन विद्वानों का मानना है कि अभिजात संस्कृति के प्रमुख केन्द्र नगर ही रहे हैं। यहीं पर धार्मिक ग्रंथों के अध्ययन-अध्यापन का कार्य होता रहा है। नगर ही कला, संगीत और साहित्य के प्रमुख केन्द्र रहे हैं। यही कारण है कि नगरीय क्षेत्रों से संबंधित अभिजात संस्कृति को नगरीय परंपराओं के नाम से भी पुकारा गया है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि नगरीय क्षेत्रों में लोक संस्कृति के अथवा ग्रामीण क्षेत्रों में अभिजात संस्कृति के तत्व नहीं पाए जाते।

रॉबर्ट रैडफील्ड ने अपनी कृति पीजेन्ट सोसायटी एण्ड कल्चर में स्पष्ट किया है कि वृहत परंपराओं का पोषण अभिजात संस्कृति के थोड़े से चिंतनशील व्यक्तियों द्वारा होता है उदाहरण के लिए मैक्सिको की माया संस्कृति के मंदिरों एवं प्रासादों के विशाल प्रस्तर निर्मित वास्तुशिल्प, परिपक्व कला, खगोलशास्त्र, पंचांग, चित्रलिपि में लिखित साहित्य तथा धर्म पर आधारित राज्य व्यवस्था को अभिजात संस्कृति या वृहत परंपरा के नाम से जानने का प्रयास किया है।

भारत में अभिजात संस्कृति का मूल स्रोत वेदों को माना गया है। सभी परंपरावादी विद्वानों एवं दार्शनिकों की मान्यता है कि वेद ही सब प्रकार के ज्ञान के उद्‌गम-स्थल हैं। भारतीय समाज के धर्मग्रंथ जैसे-वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत और गीता आदि संस्कृति की अभिजात परंपरा का प्रतिनिधित्व करते हैं।

अभिजात संस्कृति की प्रमुख विशेषता यह है कि ज्ञान एवं कला के क्षेत्र में क्रमबद्धता और परिष्कृतता पाई जाती रही है। प्राचीन भारतीय ग्रंथों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि उस युग में अभिजात संस्कृति से संबंधित ज्ञान काफी विकसित था। अभिजात संस्कृति से संबंधित किसी भी क्षेत्र में निपुणता प्राप्त करने के लिए विशेष प्रशिक्षण तथा एक लंबी अवधि तक अभ्यास करने की आवश्यकता ही तो है। कला एवं ज्ञान के क्षेत्र में निपुणता प्राप्त करने की दृष्टि से यह आवश्यक है कि व्यक्ति इनसे संबंधित प्रशिक्षण प्राप्त करे तथा समर्पित भाव से इनकी प्राप्ति हेतु स्वयं को लगा दे।

जो व्यक्ति पुजारी, पंडित, कवि, गायक, संगीतज्ञ, नाटककार, ज्योतिषी तथा गणितज्ञ बनना चाहते थे, उनके लिए यह आवश्यक था कि वे स्वयं को पूर्णत: इसी काम में समर्पित करें तथा निरंतर अभ्यास करते रहें। यही कारण रहा है कि अभिजात संस्कृति से संबंधित लोगों से अपनी आजीविका कमाने के लिए हाथ से काम करने की आशा नहीं होती थी।

उदाहरण के लिए चातुर्वर्ण की व्यवस्था प्रथम दो वर्णों-ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों से यह अपेक्षा नहीं की गई है कि अपनी आजीविका कमाने हेतु वे स्वयं उत्पादन का कार्य करें। ब्राह्मण अध्ययन-अध्यापन, चिंतन, ज्ञान प्राप्ति के कार्य में लगे रहे जबकि क्षत्रिय योद्धा और शासक के रूप में अपनी भूमिका निभाते रहे। चतुर्थ वर्ण के लोगों को अभिजात वर्ग से संबंधित नहीं माना जाता था। इस वर्ण की कुछ जातियाँ अभिजात सांस्कृतिक परंपरा की आंशिक वाहक के रूप में अवश्य भूमिका निभाती रही हैं। उच्च वर्ग के लोग अभिजात संस्कृति से संबंधित रहे हैं, लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उच्च वर्गों के सभी लोग इस परंपरा के सक्रिय वाहक रहे हों। उच्च वर्गों की स्त्रियाँ साधारणत: लोक संस्कृति की ही वाहक रही हैं, न कि अभिजात संस्कृति की। इसके द्वारा जनसाधारण की भाषा प्राकृत का ही प्रयोग किया जाता था, न कि अभिजात लोगों की भाषा संस्कृत का।

मिल्टन सिंगर ने मद्रास नगर के अपने अध्ययन के आधार पर नगरीय सांस्कृतिक परंपरा का उल्लेख किया है। आपके अनुसार अब चैन्नई नगर के रूढ़िवादी ब्राह्मण भी भक्ति मार्ग को अपनाते जा रहे हैं। नगरीय क्षेत्रों में पुराणों पर आधारित कविता, नाटक, चल-चित्र, संगीत तथा नृत्य का आयोजन धार्मिक लाभ प्राप्त करने की दृष्टि से ऐसे सुगम साधन माने जाने लगे हैं जो आज आधुनिक मनुष्य को उपलब्ध हैं। चैन्नई नगर में भक्ति आंदोलन ग्राम और नगर को परंपरात्मक और आधुनिक को तथा लोक और अभिजात संस्कृति को एक-दूसरे के साथ जोड़ता है। आपके अनुसार मद्रास नगर में अनेक भजन मंडलियाँ भी दिखाई पड़ती हैं जो मंदिरों, धार्मिक स्थानों और कुछ लोगों के घर पर समय-समय पर भजन-कीर्तन करती रहती हैं।

यह सभी लोग जानते हैं कि दक्षिण भारत में आम लोगों की रुचि नगर में भक्तिपूर्ण नाटकों के प्रति रही है। नगरीय क्षेत्रों में प्रदर्शित किए जाने वाले नाटक अनेक लोक नाटकों की अभिजात संस्कृति के रूप में देखने को मिलते हैं, जिनमें उन्नत किस्मों के रंगमंचों, व्यावसायिक कलाकारों

के प्रति भी लोगों की रूचि बढ़ती जा रही है। उपरोक्त विभिन्न विशेषताओं के आधार पर अभिजात संस्कृति की अवधारणा को समझा जा सकता है।

जनजातीय संस्कृति

हमारे देश में जनजातियों को विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। जैसे वनवासी, गिरिजन, आदिवासी, आदिम जाति, आदिमवासी तथा अनुसूचित जनजाति आदि। भारत में जनजातियों को 'अनुसूचित जनजाति' भी कहा जाता है, क्योंकि इन जनजातियों का उल्लेख भारतीय संविधान की अनुसूची में हुआ है। अनुसूचित जनजाति की धारणा वैधानिक है, क्योंकि संविधान इन समूहों को कुछ विशेष सुविधाएं, सुरक्षाएं एवं विकास के अवसर देता है।

जनजातीय संस्कृति की अवधारणा को समझने से पूर्व जनजाति के अर्थ को परिभाषित करना आवश्यक है। जनजाति का तात्पर्य एक ऐसे समूह से है जिसका एक विशिष्ट नाम होता है, जिसमें एक समूह के होने की भावना होती है, सामान्यत: जिसका एक क्षेत्र, बोली, सांस्कृतिक एकरूपता तथा यह एक अंतर्विवाही समूह होता है अर्थात जनजाति के लोग अपने ही समूह में विवाह संबंध स्थापित करते हैं।

जनजाति एक सामाजिक समुदाय है जो एक विशिष्ट भाषा बोलता है, जिसकी एक विशिष्ट संस्कृति होती है, जो अपने समूह को दूसरे समूह से पृथक करता है।

जनजातीय संस्कृति का अर्थ एवं विशेषताएं

जनजातीय समाज की संस्कृति को जनजातीय संस्कृति के नाम से जानते हैं। वास्तव में जनजातीय संस्कृति स्वयं में एक स्वतंत्र संस्कृति है। जनजातीय समाज एक ऐसा समाज है जिसमें लोग जंगलों, पहाड़ों तथा मैदानों में निवास करते हैं। इस समाज में अशिक्षा, जीवन जीने का विशेष ढंग, समूह की समानता, मौखिक परंपराएं, जनजातीय साहित्य, कला, संगीत, नृत्य तथा धर्म आदि विशेषताओं के आधार पर जनजातीय संस्कृति को समझा जा सकता है।

धर्म-जनजातीय संस्कृति के अंतर्गत धर्म का महत्वपूर्ण स्थान है। धर्म किसी न किसी प्रकार की अतिमानवीय या अलौकिक शक्ति पर विश्वास है, जिसका आधार भय, श्रद्धा, भक्ति और पवित्रता की धारणा है और जिसकी अभिव्यक्ति पूजा या प्रार्थना में होती है। जनजातीय समाज में लोग आत्मावाद (एनिमिज्म) के अस्तित्व में विश्वास करते हैं। यह आत्मावाद दो वृहत विश्वासों में विभाजित है-प्रथम तो यह कि मनुष्य की आत्मा का अस्तित्व मृत्यु या शरीर नष्ट होने के पश्चात् भी बना रहता है। द्वितीय-यह है कि मनुष्यों की आत्माओं के अतिरिक्त शक्तिशाली देवताओं की अन्य आत्माएँ भी होती हैं। एडवर्ड टायलर ने इस आत्मावाद के सिद्धांत की व्याख्या इस प्रकार से की है कि यह आदिम मनुष्यों से लेकर सभ्य मनुष्यों तक के धर्म के दर्शन का आधार है। टोडा जनजाति के लोगों में हरा व सूखा दो संस्कार मृतक के लिए करते हैं। इस जनजाति में जब किसी की मृत्यु होती है तो उसकी भैंसों को इतना पीटा जाता है कि वे मर जाती हैं और यह माना जाता है कि ये भैंसें मृतक के साथ स्वर्ग जाकर उसको वहाँ भी सुख देती रहेंगी। हो, मुण्डा, ओंराव जनजातियों में मृतक का दो बार संस्कार

करते हैं – एक बार मृत्यु के समय और दूसरी बार मृत्यु के एक माह बाद आत्मा की शांति के लिए।

प्रकृतिवाद (नेचुरलिज्म) के अन्तर्गत आदिवासी प्रकृति को ईश्वर का रूप मानकर इनकी पूजा करते हैं जैसे- सूर्य, चंद्रमा, तारे, पृथ्वी, जल तथा पेड़-पौधे आदि। ऐसा वे इनके महत्व का मूल्यांकन करके करते हैं। वर्षा व धूप का जहाँ उनके जीवन में महत्व है, वहाँ भूकंप व अतिवृष्टि से भयभीत भी होते हैं। टोटमवाद का भी जनजातीय समाज में महत्वपूर्ण स्थान है। आदिवासी किसी पेड़-पौधे या जानवर को अपना टोटम मानते हैं जिसकी वे पूजा करते हैं, उसे नुकसान नहीं पहुँचाते है। टोटम वास्तव में एक प्रतीक है जो उनकी धार्मिक भावनाओं को अभिव्यक्त करता है।

जनजातियों का लोक महिला साहित्य मौखिक रूप में होता है जो अनेक कथाओं में देखने को मिलता है। जनजातियों के साहित्य में अलौकिक शक्तियों का वर्णन मिलता है। उदाहरण के लिए मेघालय की खासी जनजाति में यूथसेन नामक सर्प का वर्णन मिलता है जो कि उनके देवता के रूप में माना जाता है। चूँकि जनजातियों का लोक साहित्य मौखिक होता है इसलिए मौखिक परंपराओं द्वारा पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होता रहता है। जनजातियों के अपने त्यौहार लोक संगीत जन्म से मृत्यु तक होते हैं।

उनकी अर्द्धांगिनी महादेवी की स्मृति में प्रतिवर्ष आयोजित किया जाता है। गवरी उत्सव भाद्रपद (अगस्त- सितम्बर माह) के कृष्ण पक्ष के एकम से सवा माह यानी चालीस दिन के लिए मनाया जाता है।

गवरी दल में केवल भील पुरुष ही भाग लेते हैं। स्त्री पात्र का अभिनय भी पुरुषों द्वारा किया जाता है। प्रत्येक दिन सूर्योदय से प्रारंभ होकर सूर्यास्त के साथ नृत्य प्रदर्शन पूरा होता है। दिनभर में छोटी-छोटी कई लघु नाटिकाओं का मंचन किया जाता है। जिनकी कथाएं पुराण, भागवत, इतिहास लोक परंपरा व जन संस्कृति पर आधारित होती हैं।

भारत में जनजातियों का वर्गीकरण

एल.पी. विद्यार्थी एवं बी.के. राय ने भारत की जनजातियों का वर्गीकरण निम्नलिखित आधारों पर किया है :

1. भौगोलिक आधार :

विद्यार्थी ने जनजातियों को क्षेत्रीयता के आधार पर चार भागों में विभाजित किया है। (1) हिमालय क्षेत्र (2) मध्य भारत (3) पश्चिम भारत और (4) दक्षिण भारत।

2. भाषाई आधार :

एल. पी. विद्यार्थी व बी.के. राय ने भाषा के आधार पर जनजातियों को चार भागों में विभाजित करके समझने का प्रयास किया है-

1. एस्ट्रो-एशियाटिक परिवार एस्ट्रो-एशियाटिक में खासी, मुन्डा, निकोबारी, सन्थाली, हो, गोन्डी, श्वरिया व गड़ावा सम्मिलित है।

2. तिब्बत-चीनी परिवार-इनमें खम्पाती, दार्जिलिंग के भोटिया चम्बा, स्वागली, टोटो आदि जनजातियाँ हैं। नागा, आगामी नागा, सेमा नागार, रेगमा नागा। कुकी व लुशाई भी इसी परिवार की जनजाति है जो एक ही भाषा समूह में शामिल है।
3. द्रविड़ परिवार-द्रविड़ परिवार में कोरवा, टोडो, कोटा व औराव शामिल है।
4. इन्डो-योरोपीय परिवार-इन्डो योरोपीय परिवार में हाजोंग व भीली जनजातियाँ सम्मिलित हैं।

के.एस. सिंह के अनुसार अधिकांश अर्थात् 163 जनजातिय समूह इंडो आर्य भाषा बोलते हैं तथा 107 जनजातिय समूह द्रविडयन भाषा, 143 तिब्बत, 30 एस्ट्रो-ऐशियाटिक जनजातिय समूह भाषा बोलते हैं।

3. प्रजातीय आधार :

बी.एस. गुहा (1935) ने प्रजाति के आधार पर जनजातियों का वर्गीकरण करते हुए छः प्रकार की प्रजातियों का उल्लेख किया है:

(1) नीग्रेटो
(2) प्रोटो आस्ट्रोलायड
(3) मंगोलायड
(4) मेडीटेरियन
(5) विनारिक
(6) अलपीनोड, आर्मीनोड आदि।

4. सांस्कृतिक आधार :

एल. पी. विद्यार्थी एवं राय ने सांस्कृतिक एकीकरण के आधार पर पांच प्रकार की जनजातियाँ बतलाई हैं। इसके अंतर्गत यह देखा जाता है कि जनजातियाँ दूसरे समूहों से किस प्रकार अंत:क्रिया करते हुए उनकी संस्कृति में किस सीमा तक परिवर्तन आया है।

(1) सर्वथा भौगोलिक रूप से पृथक, जंगलों में शिकार करने वाली व पहाड़ों पर खेती करने वाली जनजातियाँ।
(2) कृषि-कर्मी जनजातियाँ जो गाँवों में निवास करके खेती करती हैं।
(3) अर्द्ध-कृषि-कर्मी, जिन्होंनें सफलतापूर्वक गाँवों में रहकर अपनी मूल-संस्कृति की रक्षा की है।
(4) वे जनजातियाँ जिन्होंने पर-संस्कृति ग्रहण की प्रक्रिया, में अपने सांस्कृतिक तत्व खो दिए हैं। शहरों में नौकरी कर वहाँ की संस्कृति को अपनी संस्कृति का अंग बना लिया है।
(5) वे जनजातियाँ जिसका पूर्ण सरलीकरण हो चुका है चूँकि हिंदू जाति व्यवस्था से अपनी मूल-संस्कृति लुप्त हो चुकी है। जैसे-मारवीज, खासा व राज गौंड मीणा आदि जो हिंदू संस्कृति के संपर्क में आकर उसी का एक अंग बन गई हैं।

5. आर्थिक आधार :

विद्यार्थी एवं राय ने आर्थिक आधार पर जनजातियों को आठ भागों में वर्गीकृत करने का प्रयास किया है।

(1) जंगलों में शिकार करने वाली जनजातियाँ।
(2) पहाड़ों पर खेती करने वाली।

(3) स्थायी रूप से कृषि करने वाली जन जातियाँ।
(4) साधारण शिल्पकर्मी।
(5) पशु चराने वाले
(6) मजदूर, कृषि मजदूर व औद्योगिक मजदूर।
(7) लोक कलाकार
(8) सफेदपोश कार्य व व्यापारी।

6. शिक्षा स्तर :

शिक्षा स्तर के आधार पर भी विद्यार्थी व राय ने विभिन्न जनजातियों का वर्गीकरण किया है। साधारणत: शिक्षा का स्तर जनजातियों में निम्न है।

जनजातीय संस्कृति में परिवर्तन

जनजातीय संस्कृति स्वयं में एक स्वतंत्र संस्कृति है वर्तमान में यह कहना कठिन है। आधुनिकीकरण, औद्योगीकरण, नगरीकरण, यातायात एवं संचार के साधनों का प्रसार, वैज्ञानिक प्रगति एवं शिक्षा के कारण जनजातीय समाज में भी मूलभूत परिवर्तन देखा जा सकता है। इस समाज के कुछ लोग अभिजात संस्कृति से प्रभावित हैं जबकि अधिकांश लोग लोक संस्कृति से प्रभावित होते नजर आते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अभिजात एवं लोक संस्कृति का प्रभाव निश्चित रूप से जनजातीय संस्कृति पर पड़ा है। अत: भारतीय समाज की विभिन्न संस्कृतियों को समझने के लिए लोक, अभिजात एवं जनजातीय संस्कृति में पारस्परिक अंत:क्रिया की प्रक्रिया को समझना आवश्यक है। पारस्परिक आदान-प्रदान की यह प्रक्रिया रीति रिवाज, त्यौहार, भाषा, नृत्य, संगीत, सामाजिक संगठन तथा विविध कलात्मक क्षेत्रों में दिखाई पड़ती है।

कुछ जनजातियाँ वृहद समाज के गहरे संपर्क में रही हैं और उन्होने हिन्दूओं, ईसाइयों तथा अन्य समुदायों की जीवन प्रणालियों को अपना लिया है। दक्षिण राजस्थान के भील आदिवासी ने अपने कुल देवी-देवता जैसे-धर्मराज, खेड़ादेवी, गोरा देवी अम्तया व देशा माता के साथ-साथ अभिजात संस्कृति व लोक संस्कृति के देवी-देवता की भी पूजा करते हैं। यह कहा जा सकता है कि ब्रिटिश नीति, आर्थिक विकास के प्रभाव के कारण असमानता और वृहद समाज के साथ सांस्कृतिक संपर्क के परिणामस्वरूप जनजातीय समाज में सामाजिक स्तरीकरण भी देखने को मिलता है। आदिवासी भारत की प्रमुख सांस्कृतिक धारा से प्रभावित हुए हैं। सांस्कृतिक परिवर्तन के कारण आदिवासियों में नए विभाजन बने हैं। उदाहरण के लिए बिहार में ताना भगत हिन्दूकृत आदिवासी हैं जबकि राजस्थान में भील भगत, गैर-भगत और ईसाई अनुभागों में विभाजित हैं। गैर-भगत परंपरात्मक जीवन प्रणाली को बनाए रखने के समर्थक हैं, जबकि भगत भीलों ने शाकाहारीवाद व नशाबंदी अपनाकर ब्राह्मणवादी जीवन पद्धति का अनुसरण किया है। कुछ ने ईसाई मिशनरियों से प्रभावित होकर इस धर्म को अपना लिया है। यद्यपि जनजातीय संस्कृति एक स्वतंत्र संस्कृति है लेकिन औद्योगीकरण, नगरीकरण व शिक्षा प्रसार के कारण निश्चित रूप से अभिजात व लोक संस्कृति एक दूसरे के तत्वों से प्रभावित है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

- उन्नीथान, टी.के.एन., देव, इन्द्र एण्ड सिंह, योगेन्द्र, 'टुवर्डस ए सोसियोलोजी ऑफ कल्चर इन इण्डिया' प्रिंटीस-हॉल ऑफ इण्डिया (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली, 1965
- गुहा, बी.एस., 'दि रेसियल एफिनीटीज ऑफ पीपूल ऑफ इण्डिया', सैन्सस ऑफ इण्डिया, 1935 वोल्यूम प्रथम, पार्ट तृतीय (ब), 1935
- चौहान, ब्रज राज, ए राजस्थान विलेज, ऐसोसिएयेटेड प्रेस, दिल्ली, 1968
- दुबे, एस. सी., इण्डियन विलेज, रटलेज एण्ड केगन पॉल, लन्दन, 1955
- टायलर, ई.बी., प्रीमिटिव कल्चर, न्यूयार्क, 1874
- फोस्टर, जी.एम., 'व्हाट इज फोक कल्चर?' अमेरिकन एंथ्रोपोलोजिस्ट, वोल्यूम 55, अप्रेल-जून, 1953
- बेनेडिक्ट, रूथ, पैटर्नस ऑफ कल्चर, स्टलेज एण्ड केगन पॉल, लन्दन, 1935
- मेरियट, मैकिम,' लिटिल कम्युनिटीज इन एन इडिजिनियस सिविलाईजेशन' इन विलेज इण्डिया, (एडिटेड), यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रैस, शिकागो, 1955
- रैडफील्ड, रॉबर्ट, 'फोक कल्चर ऑफ यूकोटान', यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस, शिकागो, 1941
- लेविस, आस्कर, 'पीजेण्ट कल्चर इन इण्डिया एण्ड मेक्सिको' इन विलेज इण्डिया (एडिटेड) मैकिम मैरियट, यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रैस, शिकागो, 1955
- विद्यार्थी, एल.पी, एण्ड राय, बी.के. ट्राइबल कल्चर ऑफ इण्डिया', कान्सप्ट पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली, 1976
- सिंह के.एस., पीपुल ऑफ इण्डिया' नेशनल सीरीज, वोल्यूम-तृतीय 'दी सिड्यूल्ड ट्राइब्स, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, नई दिल्ली, 1997
- सिंगर, मिल्टन, 'दि ग्रेट ट्रेडिशन इन ए मेट्रोपोलिटन : सेन्टर' इन ट्रेडिशनल इण्डिया-स्ट्रक्चर एण्ड चेन्ज शिकागो : एलडीन पब्लिशिंग कम्पनी, मद्रास, 1968

समाजशास्त्र और परिवर्तन की पनपती चुनौतियाँ 16

वैश्विक शक्तियों की चुनौतियाँ

सबसे पहले हम उन मूलभूत चुनौतियों की बात करें जिनका सामना हम वर्तमान में करते हैं। एक मुख्य चुनौती जिसका हम सामना करते हैं, वह है शीत युद्ध की समाप्ति से उत्पन्न राष्ट्रों के बीच अनायास बदलता शक्ति संतुलन। इसने न केवल सामाजिक परिवर्तन की विचारधारा के पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता पर बल दिया वरन इसने सांस्कृतिक और सामाजिक संरचना के आंदोलनों को परम्परागत रूप से स्वीकृत सामाजिक आंदोलनों के अनुपात में आगे बढ़ा दिया है। इस संदर्भ में भारत एक विशेष स्थान रखता है। वैचारिक स्तर पर, सामान्य व्यक्ति और विद्वानों की दृष्टि में सामाजिक परिवर्तन के प्रतिमान के रूप में पूँजीवाद और समाजवाद को स्वीकारने के संबंध में मौलिक परिवर्तन हो चुका है। सोवियत यूनियन के बिखराव और तत्कालीन समाजवादी समाजों के आर्थिक प्रशासनों में हुए परिवर्तनों ने विचारधारा की दृष्टि से पूँजीवाद की परिकल्पना की अपराजेयता को सिद्ध किया है। बढ़ते हुए आर्थिक दबाव ने राज्यों को बहुत से सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक कल्याण के क्षेत्रों में सहयोग देने से हाथ खींच लिया है। एक तर्क यह दिया जा रहा है कि ऐसी जिम्मेदारियों को स्वतंत्र व्यावसायिक शक्तियों को सौंप दिया जाना चाहिए, चाहे ऐसे लोगों की स्थिति कितनी ही दयनीय क्यों न हो। मानव अधिकारों को सराहा अवश्य जाए लेकिन इनमें नागरिकों के कार्य के अधिकार और आर्थिक सुरक्षा के कदमों को शामिल न किया जाए। समस्त यूरोप और उत्तरी अमरीका लोगों के कल्याणकारी कार्यक्रमों को समाप्त करने के दबाव में हैं। हमारा अपना समाज भी ऐसे दबावों से बच नहीं सकता।

जैसे-जैसे बाजार की शक्तियाँ बढ़ती और व्यापक होती हैं वैसे-वैसे ही राज्य के संप्रभुतासंपन्न राजनीतिक संस्थान के स्वरूप में भी परिवर्तन आता जाता है। बाजारी अर्थव्यवस्था के कुछ प्रतिपादक इसमें संप्रभुता के विचार की समाप्ति की सम्भावना भी तलाशते हैं। भारत जैसे समाजों में जहाँ राष्ट्र निर्माण अपनी समन्वित परिपक्वता के स्तर पर नहीं पहुँचा है, प्रभुसत्ता के अंत का डर अथवा विश्व-बाजार की निरंकुश शक्तियों की

भूमिका से उत्पन्न चुनौतियाँ न केवल बेचैनी पैदा करती हैं वरन् एक प्रकार की चुनौती भी देती हैं। विडम्बना यह है कि "स्वतंत्र बाजार" का विचार अभी भी कल्पना ही है। राज्य की प्रभुसत्ता की समाप्ति की बात के बावजूद भी विश्व में धनी पूँजीवादी देशों की संप्रभुता बनी हुई है। ये राष्ट्र व्यापार और तकनीकी के हस्तांतरण के मामले में स्वतंत्र बाजार के क्रियाकलापों पर आदान-प्रदान के अनुग्रह के नियम की अनुपालना में बाधा डालते हैं।

यह सच है कि बाजार स्वभावत: वस्तुओं के उत्पादन की प्रक्रिया के विस्तार, विकेन्द्रीकरण और वृद्धि से जुड़ा हुआ है। वस्तुओं की उत्पत्ति के पारस्परिक ढंग में क्रांतिकारी परिवर्तन हो चुका है। प्राचनी समय की तरह पूँजी और सम्पत्ति में वैसा संबंध भी नहीं रहा है। श्रम द्वारा सम्पत्ति के उत्पन्न किए जाने की घटनाएँ अपने ह्रास पर हैं, आजकल सम्पत्ति द्वारा श्रम की उत्पत्ति की घटनाएँ बढ रही हैं। विकासशील देशों में सस्ता श्रम बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को आकर्षित करता है। ये बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ राष्ट्रीय सीमाओं को महत्व नहीं देती, परिणामत: उभरते मध्यम वर्ग एवं मुख्यत: सस्ती दर पर श्रमिकों की उपलब्धि के कारण नए बाजार की स्थापना के मौके मिलते हैं। परिमाण और कार्यक्षमता की आर्थिक नीति को लागू करते हुए, उत्पादन की प्रक्रिया को विकेन्द्रित और स्वचालित किया जाता है। इन गतिमान बहुराष्ट्रीय संस्थानों द्वारा उत्पन्न बाजारी शक्तियाँ समाजों और संस्कृतियों में अंर्तनिर्भरता के नए ढाँचों का निर्माण करती है। वे नए ढंग के मानव संसाधन, विधियाँ, तकनीक और आधारभूत संरचनाएँ उत्पन्न करती हैं।

वैश्वीकरण की प्रक्रिया में सूचना की तकनीकें यथा–कम्प्यूटर, उपग्रह, प्रचार माध्यम और तार संचार महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वस्तु उत्पाद की तुलना में इस ढंग के अर्थतंत्र में सेवा क्षेत्रों का दायरा बढ़ जाता है और वे महत्वपूर्ण भी हो जाते हैं।

नई तकनीक के सामाजिक प्रभाव यांत्रिक और प्रतीकात्मक तात्विक होते हैं। वे यांत्रिक स्तर पर व्यवसायों, भूमिकाओं और आदर्शों के विभेदीकरण में योगदान देते हैं जो सार्वभौमिक संस्कृति और पद्धति का एकरूप हिस्सा है और, फिर भी, प्रतीकात्मक तात्विक स्तर पर ये आत्मचेतना उत्पन्न करते हैं जो अलगाववादी और आत्मकेन्द्रित होती है। निहितार्थ में, वैश्विक समाज और संस्कृति की गति अपनी सेना में उन शक्तियों को समेटे हुए है जो छोटी-छोटी शक्तियों जैसे स्थानीय, सांस्कृतिक, धार्मिक को जन्म देती है। इसके कल्याणकारी परिणामों के बावजूद भी, सार्वभौमिकता के क्षेत्र का विस्तार सामाजिक और सांस्कृतिक समस्या को सुलझा नहीं पाता और न ही स्थानीय और अल्पमत शक्तियों के बीच द्वंदों को मिटा पाता है। दरअसल, परिवारों के छितराव, सामुदायिक आदर्शों के ह्रास और व्यक्तियों के अलगाव जैसी नवीन सामाजिक समस्याएँ भी इसमें शामिल हो जाती हैं।

फिर भी, समसामयिक तकनीकी क्रांति को देखते हुए इन वैश्विक शक्तियों का विस्तार सुनिश्चित है। हमारे देश और लोगों समेत समस्त समाजों को इस सत्य को स्वीकारना ही होगा। सम्भवत: हम इसे सार्थक और संतोषजनक ढंग से कर सकते हैं यदि हम इस समस्या को दूसरे समाजों के

औद्योगिकोपरान्त विकास के काल को तुलनात्मक ऐतिहासिक दृष्टि से देखें। तब हमें इन परिवर्तनों को अपनी ऐतिहासिकता में देखना चाहिए।

सामाजिक परिवर्तन की शक्तियाँ

हम उन नए परिवर्तनों पर दृष्टिपात करते हैं जो सामाजिक परिवर्तन की शक्तियों द्वारा हमारे समाज में लाए जा रहे हैं। स्वतंत्रता के बाद के दो दशकों की तुलना में परिवर्तन की प्रक्रिया को प्रभावित करने वाले तंत्रों में अत्यधिक परिवर्तन हुए हैं। सामाजिक परिवर्तन की मूलभूत परिस्थितियाँ अब गुणात्मक स्तर पर बदल चुकी हैं। आरम्भ में, परिवर्तन को किसी नेतृत्व द्वारा प्रायोजित किया जाता था जो स्वतंत्रता संग्राम के दौरान उभरा था। यद्यपि परिवर्तन का वह कार्यक्रम जो राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान उभरा था आज भी अधिकांश लोगों का ध्यान आकर्षित करता है, लेकिन यह परिवर्तन उच्च राजनीतिक नेतृत्व से प्रायोजित नहीं होता। सामाजिक परिवर्तन के प्रायोजन के जो प्रभावी और स्वयं में सबको समेटने वाले तत्व थे, उन्होंने एक नया रूप ले लिया है।

यह व्यापक दृष्टि से स्वतंत्रता के आरम्भिक दशकों में सामाजिक परिवर्तन की प्रायोजित नीतियों की सफलता और असफलता के कारण हुआ। राजनीतिक नेतृत्व का सामाजिक और सांस्कृतिक आधार व्यापक हो चुका है। लोकतंत्रीय क्रांति के फलस्वरूप यथा : अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और पिछड़े वर्ग के पक्ष में सकारात्मक कार्य, भूमि सुधार के परिणाम, हरित क्रांति औ उच्च शिक्षा और उद्योगों के लिए अधिकतम पूँ निवेश और बैंकों के राष्ट्रीयकरण जैसी नीति के लागू किए जाने से धीरे-धीरे हमारे समाज के सामाजिक दृष्टि से संभ्रांत व्यावसायिकों और प्रशासनिक वर्गों और राजनीतिक नेतृत्व के महत्वपूर्ण परिवर्तन में योगदान हुआ है। आरम्भ के समाज में राजनीतिक और नागरिक जीवन को प्रभावित करने वाले उच्च वर्ग और जाति के लोगों का प्रभुत्व धीरे-धीरे कम होता जा रहा है। राज्य पर उनका प्रभुसत्तात्मक नियंत्रण लगभग समाप्त हो चुका है। हमारे सामाजिक जीवन के दूसरे महत्वपूर्ण क्षेत्रों जैसे व्यवसाय और उद्योगों में परिवर्तन का दबाव स्पष्ट है। ऐसे कुछ सबूत मिले हैं जो यह बताते हैं कि मध्यमवर्ग (और जाति) का एक हिस्सा, जिसमें आंध्रप्रदेश, गुजराज, महाराष्ट्र और हरित क्रांति के दूसरे किसान भी शामिल हैं वे धीरे-धीरे कृषि कार्य छोड़कर व्यापार, उद्योग और नौकरियों की ओर बढ़ रहे हैं और नए व्यवसायों का विस्तार कर रहे हैं। कृषि में पूँजी निवेश के अभाव में और उद्योग और कृषि के संबंधों की कमी के कारण यह प्रक्रिया धीमी है। लेकिन, फिर भी, इसके मनोवैज्ञानिक परिणाम पूर्णत: स्पष्ट है। इसके लिए, अत्यधिक मात्रा में पूँजी निवेश और आधुनिक तकनीक और आधारभूत संरचना की आवश्यकता है। इन परिवर्तनों से भी प्रतिक्रियाएँ आरम्भ हो गई हैं जो हमारे सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन के स्तरों पर भी दिखते हैं। सामाजिक और आर्थिक जीवन के विशेष क्षेत्रों जैसे मध्यम वर्ग के सामाजिक आधार में वृद्धि, व्यावसायिक और सेवा क्षेत्रों में बढ़ोतरी हरित क्रांति और वाणिज्यिक और औद्योगिक व्यवसायों के आधार में विकास के बावजूद भी बहुत सी मौलिक समस्याओं का समाधान करना अभी शेष

है। जनसंख्या वृद्धि की दर योजना के अनुमानों को झुठला रही है यद्यपि इस दिशा में कुछ सकारात्मक प्रवृत्तियाँ भी पनप रही हैं। निर्धनता का स्तर असहनीय मात्रा में बढ़ा हुआ है जो पूरी जनसंख्या का 40 प्रतिशत है, गाँवों से पलायन के कारण शहरी निर्धनों की संख्या बड़ी तेजी से बढ़ रही है। शहरों में बढ़ते झुग्गी-झोपड़ियों के झुंड इस प्रक्रिया के स्पष्ट उदाहरण हैं। शहरों के बढ़ते क्षेत्रफल से जुड़ी हैं, बढ़ती निर्धनता की समस्याएँ और उनका तंग घरों में जीना। शहरी जीवन में असंतोष व्याप्त है जिसके परिणामस्वरूप शहरी मध्यम वर्ग और झुग्गी-झोपड़ियों में रहने वाले लोगों के बीच लगातार संघर्ष चलता रहता है। उदारीकरण और खुलेपन ने "अति अमीर" या "नए अमीर" जैसे वर्ग को सामाजिक स्थिति में जोड़ दिया है इससे शहरी मध्यम वर्ग और शहरी निर्धनों में एक जटिल सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक तनाव पैदा हुआ है। इसके महत्व को पूरी तरह से तलाशना अभी शेष है।

यह स्पष्ट है कि अनेकों अपेक्षित परिवर्तनों के पहलुओं के साथ नए सामाजिक विरोध उभर रहे हैं। ये हमारे शहरी और ग्रामीण जीवन को प्रभावित करते हैं। जाति और क्षेत्र-आधारित सक्रिय आंदोलनों के माध्यम से ग्रामीण निर्धन स्वयं को मजबूत बना रहे हैं। उनकी पुरानी पहचान जैसे संस्कृति और धार्मिक कट्टरपन को बढ़ावा देते हैं जिससे समाज में अलगाववाद के बीज बोए जा रहे हैं। कृषि के विकास में रुकावट, खेतिहर भूमि का बिख़राव और पूँजी और तकनीक के अभाव के परिणाम स्वरूप उभरता कृषक मध्यम वर्ग जो 1970 और 1980 के हरितक्रांति के दशकों में आर्थिक सहयोग से लाभान्वित हुआ करता था, अब अपने बच्चों के अनिश्चित आर्थिक भविष्य से जूझ रहा है। परिणामत: ग्रामीण जीवन और उसका जो भविष्य ग्रामीण युवा पीढ़ी को दिख रहा है, दोनों के प्रति निर्धनों और मध्यम वर्गों के घरों से असंतोष की आवाज उठ रही है।

नौजवान पीढ़ी के राजनीतिकरण और प्रचार माध्यमों द्वारा उनकी स्थिति को उच्च स्तर पर दिखाए जाने के कारण यह अप्रसन्नता और सघन होती जा रही है। मतदान की आयु को घटाने और विशेषकर उत्तर भारत के हिन्दी भाषी राज्यों में जनसंख्या की बढ़ती दर के कारण अधिकांश युवकों में आज अपने जीवन की स्थितियों के प्रति गहन और उचित असंतोष झलक रहा है। वे नए परिवर्तनों के लिए लालायित हैं, और वे बड़ी संख्या में शहरों की ओर कूच कर रहे हैं। निम्न और मध्यम जातियों के लिए 50 प्रतिशत से अधिक सरकारी नौकरियों और सेवाओं में आरक्षण के बावजूद भी इनमें नई आशा का संचार नहीं हो पा रहा है। इसके विपरीत, शिक्षा और नौकरियों की उपलब्धता के अभाव में वे अपने लिए आरक्षित नौकरियों से लाभान्वित नहीं हो पा रहे हैं।

दूसरी ओर, वे लोग जो उन समुदायों से आते हैं जिनके लिए आरक्षण का प्रावधान नहीं है, उनमें दूसरी तरह की अप्रसन्नता है। वे आरक्षण की इन नीतियों को छलावा और अब वोट बैंक की अवसरवादिता मानते हैं। लेकिन वे यह भी मानते हैं कि यह आधुनिक उदारवादी समाज के, जिसमें 'योग्यता को महत्व दिया जाता है, आदर्शों से दूर है। ऐसे नवयुवकों के लिए सरकारी नौकरियाँ कम पड़ जाती हैं और हम उन्हें राज्य के नियंत्रण से बाहर

व्यावसायिक लोगों और आर्थिक अवसरों से जुड़ा हुआ पाते हैं। यह एक स्वस्थ विकास है जो उन्हें उच्च स्तर के प्रदर्शन के लिए प्रेरित करता है। यही वह समुदाय है जो उदारवादी वैश्विक अर्थतंत्र की सुविधाओं से लाभान्वित हो रहा है। अतः, इस परिवर्तन की इच्छा उन ग्रामीण नवयुवकों को, जो अपने देश के ही शहरों में स्थानान्तरित होने की इच्छा रखते हैं, और शहरी मध्यम वर्ग में, जो वैश्वीकरण के अवसरों से लाभान्वित होने के लिए देश अथवा विदेश में स्थानान्तरित हो जाते हैं। लेकिन शहर और गाँव के युवक वर्तमान से भी उतने ही खिन्न हैं।

इन तत्वों का प्रभाव हमारे समाज और सामाजिक परिवर्तनों की दिशा पर दूरगामी और गहन है। एक स्तर पर, युवकों और उनके अभिभावकों की बढ़ती अप्रसन्नता का उपयोग उनकी आदिकालीन पहचान जैसे जाति, क्षेत्र और धर्म को सक्रिय करने में किया जाता है। दूसरी ओर नयी मनोवैज्ञानिक और प्रेरक शक्तियाँ ऐसे आदर्शों और ढाँचों की स्थापना करती है जो स्वयं में उन संस्थाओं और संगठनों, जो सार्वभौमिकता के विचार की अभिव्यक्ति करते हैं, के ये पारस्परिक विचारा धारा में परिवर्तन करने के बीज होते हैं। यह संभवतः प्रचार माध्यमों के बहुमुखी और विरोधी प्रभावों के कारण है। फलतः क्षेत्रीय और राष्ट्रों में रहने वाले लोगों के जीवन के साथ अलग-अलग सम्पर्क स्थापित होता है। स्पष्टतः उभरती हुई तकनीकी संस्कृति अपने सामने प्राचीन और सामाजिक सीमाओं को कोई महत्व नहीं देती। फिर भी, इस प्रक्रिया में, अपने सामने उन विरोधियों के साथ जिनका लक्ष्य अन्तर्सांस्कृतिक परिवर्तन और जीवनक्रम को सार्वभौमिक बनाने वाले प्राचीन पहचान के समूहों को भी बल मिला है। ऐसा परिवर्तन हम अपने देश में भी देख रहे हैं जहाँ पहनावे का ढंग और पाक-विधियों को प्राथमिकता, परम्पराएं और सौन्दर्य व्यवहार, जो कुछ दशक पूर्व क्षेत्र विशेष तक सीमित थे आज राष्ट्रीय स्वीकृति पा चुके हैं।

इन परिवर्तनों का एक दूसरा गंभीरतम महत्व भी है। कुछ समय बाद, यह परम्परावादी जीवन की अपेक्षाओं को समाप्त करने के लिए कटिबद्ध है। सर्वप्रथम यह भिन्न संस्कृतियों के साक्षात्कार के बहुमुखी प्रभावी और युवा पीढ़ी में बढ़ती आत्मचेतना के कारण हो सकता है। यह आत्मचेतना चुनावों के निर्धारण में स्वतंत्रता प्रदान करती है। इस प्रक्रिया में वर्तमान के प्रति रोष है जिसे हम भारत की नौजवान पीढ़ी का सामान्य गुण मानते हैं, चाहे वह पीढ़ी किसी वर्ग, जाति और धर्म की रही हो। यह श्रेय इस प्रक्रिया में सहयोगी भूमिका निभाने के लिए बाध्य है। परिवार, वैवाहिक संबंध रक्त संबंध, नयी व्यक्तिगत पहचान का निर्माण जैसे विषयों से इसका संबंध सामाजिक परिवर्तन की भावी दिशा को इंगित करता है।

प्रश्न यह उठता है कि कैसे यह परिवर्तन हमारी राजनीतिक संस्कृति, संगठन और भागीदारी को प्रभावित करते हैं? क्या ये शक्तियाँ राष्ट्र निर्माण की लोकतंत्रीय प्रक्रिया को बल प्रदान करेगी अथवा उसे निर्बल बनाएगी। 21वीं सदी में हमारे जीवन में राजनीति क्या भूमिका निभाएगी? सामाजिक परिवर्तन की उभरती शक्तियाँ भावी राजनीतिक प्रक्रिया और उसके निर्माण के संबंध में हमें एक सोच प्रदान करती हैं। सर्वप्रथम, राजनीतिक वैधता

के सिद्धांत को पूरी तरह से बदलना होगा। शिक्षा के बढ़ते स्तर के साथ, सामाजिक गतिशीलता और नागरिकों द्वारा विकल्पों के चयन के लिए सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में वृद्धि के कारण, राजनीतिक संस्थाएँ और दल लोगों के जीवन में जो पहले महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे थे, उन्हें अपना क्षेत्र संकुचित करना होगा। यह राज्यों और राजनीतिक दलों की भूमिका को प्रभावित करने वाला है। जाति और धर्म जैसे पारम्परिक आधारों पर टिके दलों की वैधता को भी अनेकों वैकल्पिक साधनों और राजनीतिक माँगो और प्रभावों के सिद्धांतों की बढ़ती प्रतियोगिता का सामना करना होगा। इस विकास के साथ, नेतृत्व और दल के स्तर पर राजनीतिक उत्तरदायित्व बढ़ेगा। आज राजनीति ने जो जगह हमारे जीवन में पा ली है, उसका ह्रास हो सकता है और राजनीतिक वैधता और उत्तरदायित्व के विषय मनोवैज्ञानिकों की मौलिक चिन्ता के विषय बन सकते हैं।

ऐसे परिवर्तन आज हमारे समाज और संस्कृति में पनप रहे हैं। क्योंकि ये हमारे सामाजिक जीवन में राजनीति और राजनीतिक दलों की भूमिका को पुर्नपरिभाषित करेंगे, इनसे राजनीतिक प्रक्रिया को बल मिलेगा। जिस ढंग के सामाजिक परिवर्तन का अनुभव आज हम कर रहे हैं, ऐसा लगता है कि बढ़ती निराधर राजनीतिक संस्कृति और उसके अपराधीकरण का अन्त हो जाएगा। समाज में पनपती नयी शक्तियों की प्रकृति और दिशा को गहराई से देखा जाए तो उनके परिवर्तनीय स्वभाव को पहचानने में मुश्किल नहीं होगी। ऐसी शक्तिशाली नवीन सामाजिक, सांस्कृतिक और प्रेरक भावनाएं हैं जो हमारे जीवन में स्थान बनाने के लिए उत्सुक हैं और जो हमारी पारम्परिक पहचान पर विजय पा चुकी है। इन नवीन सामाजिक शक्तियों की जड़ें जमने की प्रक्रिया न केवल शुरू हो चुकी है वरन् गतिमान भी है। यह विकेन्द्रीकरण, गैर सरकारी संगठनों, स्वैच्छिक संस्थानों और अन्य प्रभावी समूहों के प्रचुर मात्रा में उदय आदि पर दिये गये बल से स्पष्ट है। सामाजिक परिवर्तन की दिशा किस ओर जा रही है इसे समझने के लिए हमें पर्यावरण के संरक्षण मानवाधिकार, नारियों के अधिकार, बच्चों और हाशियाई समूहों के लिए चलाए जा रहे नये आन्दोलनों से जाना जाता है।

समाजशास्त्र और परिवर्तन की चुनौती

सामाजिक परिवर्तन का अध्ययन भारतीय समाज-शास्त्र का मुख्य विषय रहा है। यहाँ तक कि जब समाजशास्त्री और सामाजिक मानवशास्त्री किसी गाँव, जनजाति अथवा समुदाय की संरचना का अध्ययन करते हैं तो उनके अध्ययन का केन्द्र बिन्दु परिवर्तन ही होता है। कुछ अपवादों के अतिरिक्त 1960 के दशक से परिवर्तन के अध्ययन को सार्वजनिक नीतियों, प्रशासन और ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों में योजना की प्रक्रिया पर ध्यान केन्द्रित करना आरम्भ किया। समाजशास्त्र में विशिष्ठ अध्ययन की वृद्धि हुई है, और इसमें और अधिक विश्लेषणात्मकता और सिद्धांत और पद्धति के प्रति सजगता आई है। तब भी, विश्लेषण के मुख्य विषय जाति, वर्ग, जनजातियाँ और समुदाय थे। नीति-उन्मुख ग्रामीण और शहरी सर्वेक्षण किये गए और ऐसे अध्ययन में दिलचस्पी का कारण रहा समाज का नियोजित परिवर्तन। इन अध्ययनों में

रुचि बढ़ने के कारण 1970 के दशक से सामाजिक आन्दोलनों का अध्ययन भी जुड़ गया। इसका परिणाम यह हुआ कि परिवर्तन के संबंध में और अधिक वृहद सैद्धांतिक विश्लेषण होने लगा। अध्ययन का केन्द्र बिन्दु संरचनाओं के आधार पर परिवर्तन के अध्ययन में प्रक्रियात्मक अध्ययन की ओर परिवर्तित हुआ। इस दिशा में सामाजिक आन्दोलनों के अध्ययन का विशेष महत्व था। परिवर्तन के अध्ययनों में इस तरह के अध्ययनों ने अनेक तरह के सिद्धांतों और पद्धतियों को शामिल किया। सिद्धांतों और पद्धतियों में इन परिवर्तनों को अत्यधिक महत्व देने के अतिरिक्त, इन वर्गों के देशीकरण पर भी तर्क चलता रहा। इस वार्तालाप में "भारत के लिए समाजशास्त्र" की इच्छा से लेकर "संवर्गीय समाजशास्त्र" में प्रायोगिक अनुसंधान तक के विषय शामिल थे।

हम यह पूछ सकते हैं कि सामाजिक परिवर्तन की पनपती नयी शक्तियों का विश्लेषण करते समय भारतीय समाजशास्त्र को किन चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। इन नई पनपती हुई वास्तविकताओं का सामना करने के लिए किस सीमा तक इसके वैचारिक और पद्धति संबंधी तत्व सहयोगी हुए, नये सामाजिक आन्दोलनों के अध्ययन में इस दिशा में एक उदाहरणीय खोज दिखाई देती है। इनके उदाहरण दलितों, स्त्रियों की आर्थिक स्थितियों और मानवाधिकार के आन्दोलनों में देखे जा सकते हैं। भारतीय समाजशास्त्र की कई धाराओं की तरह इन अध्ययनों में प्रयुक्त सैद्धांतिक और प्रत्ययी यंत्र अपने गुणों में सार्वभौमिक ही है। हम वर्ग और जाति जैसे पुराने प्रत्ययों के स्थान पर प्रक्रियात्मक विचारों जैसे "शोषण" और "प्रभुत्व" के प्रयोग को देख सकते हैं। ऐसा स्वीकारा जाता है कि लैंगिक भेद-भाव अथवा बच्चों, बूढ़ों और अल्पमत के लोगों को मानवाधिकारों से वंचित रखने जैसे अध्ययन के लिए वे सार्थक अध्ययन नहीं हैं जो इन विषयों को वर्ग और जाति में बाँटते हैं वरन् वे सार्थक अध्ययन हैं जो इन सीमाओं से परे किस सीमा तक शोषण और दमन हो रहा है - इसका अध्ययन करते हैं। यदि एक स्त्री वृद्ध और अल्पसंख्यक समुदाय के सदस्य का शोषण हो रहा हो तो, चाहे वह निर्धन अथवा धनी घर से संबंध रखता है, वह जाति और वर्ग की सीमाओं से परे भेदभाव और दुर्व्यवहार का शिकार बराबर मात्रा में होगा। अतः प्रत्ययों को सही ढंग से जानने के लिए नये दृष्टिकोण की आवश्यकता है।

समाजशास्त्र इस चुनौती से जुड़ा हुआ है। समाजशास्त्र के प्रतिमानों की परिभाषा के लिए मूल्यों का दोहरापन/प्रतिमानों का दोहरापन समाजशास्त्र की अन्तर्भूत विशेषता है। समाजशास्त्र के प्रतिमानों के अध्ययन के लिए कोई भी समाजशास्त्री अपने छात्रों को एक पुस्तक अथवा एक पद्धति नहीं सुझा सकता। कार्ल मार्क्स, मैक्स वैबर और ऐमील दुर्खीम जैसे विचारकों की कृतियों में भी लगातार बहु-प्रतिमानों का प्रयोग किया गया। जिन्हें उनके लेखन की विभिन्न श्रेणियों में अलग-अलग मात्रा में देखा जा सकता है। अतः आज प्रतिमानों के दोहरेपन पर विवाद नहीं है वरन् समाजशास्त्र के आदर्शमूलक आधार में बिखराव की संभावना पर विवाद है। यह भी सार्वभौमिक प्रक्रिया है। फिर भी, भारतीय समाजशास्त्रियों द्वारा इसकी ऐतिहासिकता पर बात करना उपयोगी होगा।

समाजशास्त्र का आदर्शमूलक आधार

हम समाजशास्त्र के आदर्शमूलक आधार और उनको मिल रही चुनौतियों का अध्ययन करें। इस आदर्शमूलक आधार को आवश्यक रूप में सर्वसंमति की भावना के गुण से आँका जाता है। सर्वसंमति से मानवीय अन्त:क्रिया का अवसर मिलता है और निर्णयों की स्वतंत्रता भी मिलती है। अत: यह तात्विक दृष्टि से अस्वीकृति को वैधता प्रदान करती है। स्वीकृति और अस्वीकृति समाज के द्वन्द्व का निर्माण करती हैं। समाज की ठोस अभिव्यक्ति में, इस आदर्शमूलक आधार की अभिव्यक्ति लोकतंत्र, धर्म निरपेक्षता और मानवाधिकारों की अभिव्यक्ति में पाई जाती है। परिणामत: यदि मौलिक संस्थाओं की वैधता और मूल्यों को चुनौती दी जाती है तो यह चुनौती समाजशास्त्र जैसे विषय के अस्तित्व को भी होगी। समाजशास्त्र का इतिहास अपने में इस तथ्य का भरपूर सबूत रखता है।

इसी कारण से समाजशास्त्र का विश्व दृष्टिकोण अपने ढाँचे में ऐसी अनेक समाजशास्त्रीय परम्पराओं को स्थान देता है जो विरोधी और असहमतियों की भूमिका को मान्यता प्रदान करे। यह सार्वभौमिक और व्यक्तिगत विषयों को भी स्थान देता है। जैसे ही सामाजिक परिवर्तन की गति तीव्र होती है, जैसा कि हम भारत में देखते हैं, वैसे ही जाति, धर्म, विचारधारा और विभिन्न स्वार्थों पर आधारित अनेकों व्यक्तिगत विषय जन्म ले लेते हैं। ये वैकल्पिक संरचनाओं और अध्ययनों को बढ़ावा देते हैं, जैसे लैंगिक, अल्पमत, स्थानीय समूह, दलित और समाज के दूसरे हाशियाई समूह।

समाजशास्त्र की चिन्ता का विषय नवीन सामाजिक आन्दोलनों और पर्यावरण की समस्याओं और कहाँ तक यह आन्दोलन आर्थिक विकास की प्रक्रिया में सहयोगी हो सकते हैं -- के अध्ययन तक बढ़ सकता है। इन क्षेत्रों के अधिकांश अध्ययनों में स्वयं सेवी संगठनों की भूमिका में पर्याप्त वृद्धि हुई है। बहुत से समाजशास्त्री सक्रिय सामाजिक कार्यकर्ता अथवा शोधकर्ता के स्तर पर इन कार्यों में संलग्न हैं। समाजशास्त्र के सिद्धांतों, प्रत्ययों और पद्धतियों का अतिक्रमण करते हुए उनके योगदानों ने आज एक वैकल्पिक अथवा विशिष्ट समाजशास्त्रियों द्वारा किये गये अध्ययनों से भिन्न है। इसी भिन्नता से ही समाजशास्त्र में आदर्शमूलक तनाव पैदा होते हैं। अपने सीमित दृष्टिकोणों से जब सामाजिक कार्यकर्ता अपने व्यष्टिवादी लक्ष्यों के आधार पर समानता, न्याय और शोषण जैसे वृहद विषयों पर बोलते हैं, तो समष्टिवादी और व्यष्टिवादी स्तर में पर्यवेक्षण के तनाव उत्पन्न होते हैं। इससे न केवल समाजशास्त्र के आदर्शमूलक आधार में बिखराव आता है वरन् इसके केन्द्रीय विषय में भी भटकाव आता है। अन्ततोगत्वा, समाजशास्त्र के आदर्शमूलक आधार को साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से देखने की प्रेरणा मिलती है।

भारतीय समाजशास्त्र आज जिस सम्भावित चुनौती का सामना कर रहा है वह न केवल सिंद्धांतों से परे अथवा वास्तविकता पर आधारित विषयों के केन्द्रीय प्रतिमा के संक्रमण के कारण वरन् आदर्शमूलक स्वीकृति के आधार तक के अवैधीकरण के खतरे के कारण भी है। हमारे समाज के परिवर्तन की चुनौतियाँ ऐसे दबाव

उत्पन्न करती हैं जो हमारे व्यवसाय को, प्रत्ययों और पद्धतियों, पर समाजशास्त्रीय विषयों के सार्वभौमिक और विशिष्ट स्तरों पर अपनी सोच का विस्तार करे ताकि उन नयी विवशताओं को भी शामिल किया जा सके जो सर्व सम्मति पाने के लिए अनेकताओं और विशिष्टता की पहचान कर सके।

विशेषकर हमारे औपचारिक अध्ययन के जगत में वार्तालाप और भागीदारी के सचेत प्रयासों के माध्यम से तारतम्यों की स्थापना करके हमारे व्यवसाय द्वारा इसे प्राप्त किया जा सकता है। अन्तत: सक्रिय समाजशास्त्रियों के साथ भागीदारी विषयों की एकता की स्थापना में सहयोगी हो सकती है। इस तरह की अन्त: क्रियाएँ जिनमें विषयों को एक दूसरे से बाँटने की उत्कट इच्छा हो, अन्तत: औपचारिक अध्यापन में लगे समाजशास्त्रियों और सक्रिय समाजशास्त्रियों के बीच सामान्य विषय को तलाशने में सहयोगी हो सकती है। इस दिशा में कुछ शुरूआतें पहले से ही हो चुकी हैं। इन संबंधों में लैंगिक समाजशास्त्र और नये सामाजिक आन्दोलनों का उदाहरण दिया जा सकता है। इससे उनके बीच का अवरोध जो समाजशास्त्र के प्रतिमानों में एक पक्षीय दृष्टिकोण और सर्वसम्मति के दृष्टिकोण के रूप में हमेशा बना रहता है, कम हो जाएगा।

इसके अतिरिक्त, समाजशास्त्री होने के नाते, हम ऐसी चुनौतियों का भी सामना करते हैं जो समाजशास्त्रीयों के दृष्टिकोण से सार्वभौमिक और देश विशेष की आदर्शात्मक समस्याओं से ही जुड़ी हों। ऐसा भी कहा जा सकता है कि स्वतंत्रता के काल से ही हमारे व्यवसाय में हुई अभूतपूर्व वृद्धि के कारण यह समस्या हमारे साथ है। समाजशास्त्र में सिद्धांतों और पद्धतियों की आलोचना की समृद्ध परम्परा का संस्थानीकरण हो चुका है। समाज में सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों ने हमारे व्यवसाय में प्रौढ़ता और स्थायित्व उत्पन्न करने में सहयोग दिया है। फिर भी इस स्थिरता और आत्म विश्वास का ठोस कारण समाजशास्त्र के अध्ययनों का भरपूर भंडार है जो भारतीय समाजशास्त्रियों और शोध संस्थानों द्वारा आयोजित और प्रकाशित किया गया।

फिर भी कुछ व्यावसायिक बेचैनियाँ आज भी हैं। ऐसा लगता है कि हमारे समाज में बड़े पैमाने पर विचारधाराओं में बदलाव आ रहा है। उपलब्धियों और व्यापारिक प्रयासों के आदर्शों की ओर स्पष्ट रूझान है। आर्थिक सार्वभौमिकता, उपभोग की विधियों और सांस्कृतिक शैलियों के बढ़ते सार्वभौमिक तंत्र से नई आशाओं का पुनरूत्थान हो रहा है। लोगों की व्यावसायिक प्राथमिकताएं और जीवन के प्रति दृष्टिकोण इससे प्रभावित हुए हैं। आर्थिक उदारवाद और वैश्वीकरण ने ऐसे नये अवसर और विशेष तरह की योग्यताओं और शिक्षा की माँग की है जो समाजशास्त्र जैसे उदारवादी और मानवतावादी सामाजिक विज्ञानों के अध्यवसाइयों और छात्रों को अपनी ओर खींच सके। ऐसा नहीं है कि आदर्श-प्राथमिकताएँ पहले नहीं थी। आज उनका स्तर वास्तव में बहुत व्यापक हो चुका है। साथ, ही, उनका क्षेत्र और सुविधाओं का स्तर भी प्रचुर मात्रा में बढ़ चुका है।

इस तरह का विकास होने के कारण समाजशास्त्र के शोध और अध्ययन भी प्रभावित हुए हैं। ये हमें सकारात्मक और नकारात्मक दोनों

दिशाओं की ओर ले जायेंगे। इस सकारात्मक समाजशास्त्र का अध्ययन कर रहे बहु-संख्यक छात्र जो इसका अध्ययन अपनी प्राथमिकता के कारण नहीं करते हैं वरन् बेहतर अवसरों की कमी के कारण करते हैं, समाजशास्त्र के अध्ययन से दूर हो जाएँगे। स्नातक तथा उच्चतर माध्यमिक स्तर के अधिकांश छात्र इसी श्रेणी में आते हैं। ऐसे छात्रों के लिए एक विशेष लाभ यह होगा कि उनकी शिक्षा और उत्पादक रोजगार के बीच का समय कम हो जाएगा। परिवर्तन को नई शक्तियों के द्वारा व्यावसायिक शिक्षा की ओर अधिक बल देने की संभावना है। यह परिवर्तन समाजशास्त्र के शिक्षण को भी प्रभावित करेगा। ऐसे दबाव पड़ेंगे जिनसे पाठ्यक्रमों, अध्यापन की पद्धतियों और शोध क्षेत्रों की पुनर्संरचना करनी होगी।

ये विषय समाजशास्त्र के लिए अपने साथ कुछ नकारात्मक परिणाम भी लाएँगे। बाजारी शक्तियों के विस्तार के साथ न केवल हमारा आर्थिक जीवन वरन् हमारी संस्कृति और ज्ञान के महत्व में भी परिवर्तन आएगा। हम अधिकतम भौतिक लाभ की ओर खिंचे चले जाएँगे। शिक्षा में रोजगार के अवसर महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। अत: मानव वैज्ञानिक सामाजिक विज्ञानों अथवा बहुत से प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्रों में छात्रों की प्रविष्टियाँ कम होंगी। यह उपयोगितावादी दबाव समाजशास्त्रियों को बाजारी शक्तियों के समाजशास्त्रीय अध्ययन की ओर मोड़ने कि लिए विवश करेगा। यह प्रश्न उठता है कि हम समाजशास्त्र को बिना इसके आधारभूत मूल्यों को तोड़े व्यावसायिक और बाजार के लिए कितना उपयोगी बना पाएँगे? मेरे विचार में समाजशास्त्रियों को इस विषय पर गंभीरता से सोचने की सलाह दी जा सकती है। उन विकसित समाजों ने जो बाजारी शक्तियों के साथ कुछ वर्षों से रह रहे हैं, आपस में एक सन्तुलन विकसित कर लिया है। ज्ञान की एक शाखा होने के नाते, समाजशास्त्र को अपने छात्रों की उस दृष्टिकोण से इस सामाजिक वास्तविकता को स्वीकारने की विधियाँ सिखानी होंगी जो मानवीय, दार्शनिक और वैज्ञानिक हैं। पर्यवेक्षण के संपूर्ण दृष्टिकोण के अनुसार समाजशास्त्र स्वयं में वास्तविकता के साथ आलोचनात्मक विषयों को समेटने का प्रयास करता है अत: यह विस्तृत अर्थों में समस्याओं का निदान करता है। लोग समाजशास्त्र का अध्ययन व्यक्तिगत समस्याओं के समाधान के लिए करते हैं, जैसा कि उन्होंने कुछ समाजों में किया है। समाजशास्त्र का अध्ययन सामाजिक समस्याओं की आलोचनात्मक ढंग से दृढ़ कर सुलझाने की विधि में सहयोग देता है।

एक विषय की दृष्टि से समाजशास्त्र की सामर्थ्य का ज्ञान इस बात से हो सकता है कि यह दुनिया में घट रही सामाजिक घटनाओं के रहस्यों का उद्‌घाटन कर सकता है अथवा उन घटनाओं की जानकारी दे सकता है जो पूरे तौर पर उनकी गहन संरचना में छिपी हुई हैं। इस संबंध में, समाजशास्त्र का ज्ञान न केवल तात्कालिक वर्तमान को ही लेता है वरन् सामाजिक घटनाओं के अतीत को भी स्वयं में समेटता है। अत: समाजशास्त्र के प्रशिक्षण से छात्रों को न केवल बाजारी शक्तियों से जूझने के योग्य बनाना चाहिए वरन् उन्हें इस योग्य भी बनाएँ कि वे आलोचनात्मक और ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सामाजिक व्यवस्था में इन शक्तियों के महत्व को समझ सकें। अत: यह

आवश्यक है कि समाजश... ...धार ...ओं और पद्धतियों का परीक्षण... ...समाजशास्त्र के इस दृष्टिकोण को भी ध्यान में ...ना चाहिए। समाजशास्त्र को तब तक सार्थक ढंग से नहीं पढ़ाया जा सकता जब तक कि अवधारणाओं को सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक परिवर्तन के विश्व विचार के दृष्टिकोण से न देखा जाए। यह विश्व विचार सामाजिक संबंधों के अर्थों, सामाजिक ...रूपों और संस... , जो मानवीय उत्पाद है, की आदर्शमूलक अभिव्यक्ति में निहित है। यही दृष्टिकोण समाजशास्त्र का सार है। ज्ञान के क्षेत्र में जब हम बाजारी शक्तियों की चुनौतियों का सामना करते हैं, हमें इसका संरक्षण करना चाहिए। यही विश्व विचार ऐसी सीमाएं प्रदान करता है जिनमें समाजशास्त्र को पढ़ाने में बिना इसके सार को नष्ट किये, उपयोगी खोजों को शामिल किया जा सकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

- आचार्य शंकर दत्तात्रेय जावडेकर : 'आधुनिक भारत' (अनुवाद हरिभाऊ उपाध्याय) साहित्य मंडल, नई दिल्ली 1960
  (इस ग्रंथ में सामाजिक सुधारवादी आंदोलन और राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के बारे में विस्तृत जानकारी मिलेगी)।
- दिनकर रामधारी सिंह : 'संस्कृति के चार अध्याय : उदयांचल'1988 प्रकाशन, पटना
  (इस ग्रंथ में सामाजिक सुधार और राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम का ब्यौरा मिलेगा)।

first unit of the course two reading difficulties were noted frequently: (1) pupils often failed to secure understandings of assigned materials because of superficial reading, and (2) pupils sometimes neglected to associate or compare descriptive materials with explanatory figures which accompanied them. As a result of these difficulties, the reports prepared by the pupils were often incomplete and revealed evidence of lack of understanding of the nature and purpose of the exercises. To stimulate pupils to read more intensively, the instructor prepared the following directions to guide pupils during their study of the second unit.

Study Directions.

No one can tell you everything you should do in studying a unit in science. Probably no two students should do exactly the same things. The exercises for the unit do not require you to understand the unit completely in order to do them. You should study carefully all references whether or not they are necessary to do the exercises.

Do not pass up pictures and diagrams until you understand them. *They are more important than an equal amount of reading material.*

When you feel that you understand the material which goes with one of the exercises, try to do the exercise. Do not hand in the report for correction until you are sure you have it as nearly correct as you can make it.

It was observed, too, that a number of pupils attempted to prepare reports on exercises before reading materials relating to the exercises were fully understood. Some pupils seemed unable to recognize the character and amount of reading necessary to master the materials. In order to guide these pupils in reading, the instructor supplied them with lists of items which they ought to understand before attempting to prepare reports. For example, in the study of "The Care and Preservation of Foods," they were instructed to secure understandings of the following items: (1) why foods spoil; (2) what bacteria are; (3) what yeasts are; (4) what molds are; (5) where these are formed; (6) how they grow; (7) how they multiply; (8) what the conditions for rapid growth are; (9) how they live

under unfavorable conditions; (10) how they can be killed; and (11) how their growth can be prevented. This list of items was placed on the blackboard, and the pupils copied it as a guide for their reading. Similar lists were sometimes posted on the bulletin board.

(2) *Guidance in the recognition of relations and in other forms of thinking.* In the preparation of a report on an assigned exercise, at least two reading activities involving forms of thinking are necessary: (1) pupils must recognize the problem of the exercise; (2) they must recognize the relations of instructional materials to the problem. The procedures in handling the following exercise indicate how the instructor provided guidance in these two activities:

> Sudden showers of rain often occur on summer days. A friend of yours has been caught and well soaked in such a "thunderstorm" while on a hike. Knowing that you have studied science, he asks you why it rained on him that day when there was no general rain. Tell in a few sentences the facts you could give him so that he would understand why such showers occur.

In order to direct the attention of the pupils to the problem, the instructor said, "Turn to Exercise 6. Read the exercise. After you have read it, write out on a piece of paper what you think is to be done." After the pupils had carried out these directions, the instructor placed on the blackboard a list of items which the pupils dictated from their papers. These items were discussed by the pupils, the instructor directing the discussion so that the pupils selected the problem, "Why it rained where it did." Finally, he directed the pupils to find an explanation of the problem.

On another occasion the following procedure was employed to guide pupils in associating assigned reading materials with a problem. They were studying the problem: "What changes do you think need to be made in the methods of sewage disposal used in Chicago and the neighboring cities?" The instructor requested all pupils to read the problem silently. Next,

he requested one pupil to read it aloud. He then said, "You have the problem before you. What must you know in order to prepare a solution of it?" Several pupils made suggestions, the instructor guiding the discussion by means of questions and comments. Finally, the pupils selected four points to use as guides in their reading: (1) they must know something of past conditions; (2) they must know the present situation; (3) they must find out what could be done; (4) they must choose the thing which best fitted the case. The instructor placed the four items on the board and then explained that the procedure illustrated a plan of study which could be employed with any problem.

(3) *Guidance in the practices of review.* The tests given near the close of the study of a unit usually disclosed certain understandings which some pupils had not mastered. In order to guide the pupils in economical methods of restudying, the instructor prepared lists of review exercises covering the phases of the unit which the pupils had failed to master. These lists were posted on the bulletin board accompanied by score sheets which contained the names of the pupils and indicated the understandings mastered by each pupil. By consulting the score sheet and the list of exercises, a pupil ascertained the phases of the unit which he must review. The following is an example of a review exercise: "Make up a careful statement outline of all the important things you can find in two books regarding 'Water Vapor and Its Part in Weather.' " This exercise was designed to direct attention to significant understandings which had been overlooked in previous study.

(4) *Guidance in overcoming vocabulary difficulties.* Difficulties with vocabulary disclosed by this investigation appeared in three forms: (1) some pupils recognized their inability to interpret new terms and made no attempt to proceed until the instructor explained the terms; (2) others attempted to proceed, but their incorrect interpretations of terms resulted in misunderstandings; (3) still others passed over new

terms without attempting to interpret them. The instructor provided guidance for the first group by means of class discussion; he attempted to anticipate the difficulties of the other two groups and to direct their attention to terms which might give difficulty. Illustrations of his procedures follow.

Various pupils encountered difficulty in interpreting the following exercise because of the technical terms used:

> Make a large up-and-down, or vertical, section through a "low" and a "high" showing the direction of the air movements by arrows and explaining each thing shown. Thus, if you show cold air moving downward in a "high," you would label it, "Cold air sinking because of its greater density." Include in your diagram the formation of clouds near or in a "low." Make the diagrams as complete as you know how.

The instructor requested the pupils to read the directions for the exercise and to note particularly the things they did not understand. After reading the directions, the pupils suggested such items, as "I don't understand what it means by 'high' and 'low'; I don't understand what it means by 'up-and-down.'" The instructor explained these terms and also illustrated an "up-and-down section" by means of diagrams.

In order to direct attention to new terms, the instructor frequently included in the directions for study lists of significant terms for special study. For example, in connection with a unit entitled "The Work of the Body" the instructor prepared a list of "Things You Are Expected to Understand about the Work of the Body." The following terms were included in this list: *air sac, arteries, bronchi, capillaries, chemical change, dissolve, digestion, excretion, impulse, lens, nerve cell, nerve fiber, reflex act, respiration, retina, veins.*

(5) *Guidance in accurate interpretation.* Inaccuracy may appear in many forms depending on the definition given to the term. In this investigation inaccuracy in the interpretation of directions and inaccuracy in the proof-reading of reports were noted frequently. The procedures of guidance used in dealing

with these two forms of inaccuracy are suggestive of what may be done in other cases.

The instructor prepared a mimeographed page of "Directions for Written Work in Science." It contained directions such as the following: "All papers will be written in ink." "Use the best English you can, giving particular attention to proper paragraphing, penmanship, and spelling." "At the top of the sheet place the endorsement." The pupils violated these directions in various ways. For example, some pupils neglected to place appropriate endorsements on their papers. In directing the attention of the pupils to their errors, the instructor first read the directions aloud while the pupils read them silently. In connection with the reading he called attention to the more significant errors of the pupils. Next he instructed each pupil to prepare a written list of the directions which he had violated. After these lists were prepared, each pupil was held responsible for avoiding further errors.

In order to stimulate accuracy in the preparation of written work, the instructor refused to accept any written work which had not been proof-read. Pupils were required to write "proof-read" in the upper left corner of the first page of each report to signify that the report had been checked. Either of two procedures might be employed in proof-reading. The pupil might proof-read his own reports without assistance; if he desired help, he might request another pupil to check the errors in his reports before he attempted to make corrections.

(6) *Effectiveness of guidance activities*. At the time these guidance activities were being used, it was not practical to set up controlled conditions for determining the effectiveness of them. However, the indirect evidence available indicated that the pupils were assisted by the guidance. For example, assimilation tests which were given at the close of each unit indicated that the ability of the pupils to interpret science materials improved throughout the year. This improvement was shown by a reduction in the number of trials on the

assimilation tests made by each pupil. The plan of testing required that each pupil master all the essential understandings in a unit. If a test paper indicated that a pupil did not understand all the items, he was required to review the un-mastered phases of the unit and to repeat the test. The average number of test trials per pupil in four class sections for each unit is given in Table XVI. The data show that, in general, the

TABLE XVI

AVERAGE NUMBER OF TRIALS PER PUPIL IN FOUR CLASS SECTIONS ON ASSIMILATION TESTS ON SEVEN UNITS IN GENERAL SCIENCE

Unit	Section A	Section B	Section C	Section D
I	3.25	3.04	2.90	2.91
II	2.65	3.04	2.79	2.65
III	1.25	1.25	1.32	1.12
IV	2.09	2.20	2.00	1.83
V	1.55	1.48	1.72	1.47
VI	1.50	1.28	1.32	1.25
VII	1.63	1.13	1.60	1.20

number of trials per pupil decreased throughout the year. This decrease implies improvement in ability to secure understandings of science materials. These facts suggest that the teaching procedure used in the class was effective and give evidence of the value of the guidance procedures. However, it should be recognized that guidance in reading was only one of several items which may have influenced the pupils' performance on assimilation tests. Consequently, the results of the test performances can be interpreted only as indirect evidence of the effectiveness of the guidance.

(7) *Interpretation of illustration.* The guidance activities which have been described are illustrative of an approach by which guidance in reading becomes a definite phase of the regular study activities of a course. No reading activities aside from those demanded by the regular work of the course are

suggested. The pupils are simply guided in the reading activities which they must perform to secure understandings of science materials. This approach enables the teacher to provide guidance in reading without detracting effort from the regular class activities. It solves the problem of the teacher who recognizes the need for guidance in reading, but who does not desire to devote time to special reading exercises. In general, the procedures of guidance which have been described took three forms: (1) mimeographed directions concerning study activities, (2) mimeographed guides in the form of study exercises, and (3) classroom instruction designed to guide reading activities.

An illustration of individual guidance. Although most of the reading difficulties of pupils may be corrected by group guidance similar to that described in the preceding section, pupils who require individual attention are found in almost every class. Such pupils are not likely to succeed well under group instruction alone. The chief objectives of individual guidance are to determine the character of a pupil's handicaps and to enable him to develop power to perform required reading activities unassisted. The technique of guidance varies with individuals, depending on the character of the difficulties encountered. In general, it consists of four steps: (1) a careful analysis of the reading difficulties of the pupil, (2) the organization of a plan of guidance designed to enable the pupil to overcome his handicaps, (3) guiding the pupil in the performance of reading activities, and (4) measuring the effectiveness of the guidance to determine when the pupil may be left safely to study unassisted. The illustration which follows demonstrates these steps of procedure.

The pupil selected for this illustration was enrolled in a ninth-grade class in general science. The science instructor recommended him for special study because he was encountering unusual difficulty in understanding instructional materials. A preliminary observation of the reading practices of the pupil

indicated that the primary cause of his difficulties was superficial reading. Superficial reading resulted in (1) misinterpretation of directions, (2) meager understanding of assigned materials, and (3) failure to recognize English errors in proofreading. Examples of these difficulties follow:

(1) *Misinterpretation of Directions*

Directions.

In a number of the references given below the more important parts have been separated and underlined. *These should be read carefully until you really know just what they mean.* All references given are well worth reading.

Notes on Observation.

Observer: "What are you going to do this morning?"
Pupil [Pointing to references listed in the work plan]: "I am going to read these references before I do Exercise 2."
Observer: "Have you read the directions at the beginning of the work plan?"
Pupil: "Not yet."
Observer: "Probably you should read the directions before beginning to study the unit."
Pupil: [Read directions at beginning of the work plan.]
Observer: "What suggestions do you find to help you with the study of this unit?"
Pupil: [Pointed to second paragraph of directions.]
Observer: "What does that paragraph mean?"
Pupil: "It says to read all these [pointing to references] carefully."

The pupil did not recognize the distinction between references which were underlined and those which were not. When the observer called his attention to this point in the directions, he remarked that he thought the paragraph referred to all references.

This observation reveals one of the causes for the pupil's difficulties in science. First, he neglected to read directions. When the observer called his attention to the directions, he read so superficially that he misinterpreted them. The pupil encountered similar difficulties in interpreting directions for preparing exercises.

(2) *Meager Understanding of Reference Materials*

Directions.

A reflex movement is quicker than the movement would be if the impulse had to go to the brain. Explain why. What advantages

are there in having the body governed by reflexes that require no attention from the mind?

Notes on Observation.

The pupil began studying this exercise by reading a passage to which the Work Plan referred.

Observer [after pupil had read the reference]: "Did you find anything that would help you?"
Pupil: "It just tells what a reflex is and explains the first part [referring to the exercise].
Observer: "Explain the first part."
Pupil: "If you burn your hand, the hand is drawn back before you know it is burned."
Observer: "What causes the hand to be drawn back?"
Pupil: "The brain."
Observer: "If the brain caused the hand to be drawn back, you would know the hand was burned before it was moved, would you not? What sends out the message to move the hand?"
Pupil: "The nervous system"
Observer: "What part of the nervous system?"

The pupil could not answer the question. The passage, which he had just read, explained that the reflex movement is controlled by the spinal cord.

This observation indicated that the pupil read a passage containing a required explanation, but failed to secure an understanding of it. Similar difficulties were observed in connection with other exercises. Occasionally he read a passage two or three times before securing an understanding of it. Since he was always able to give an intelligent explanation after he discovered the point in question, his difficulty appeared to be due to superficial reading.

(3) *Failure to Recognize English Errors in Proof-reading*

After the pupil had completed a report for one of the exercises, the observer suggested that he proof-read the paper. The pupil read the paper and corrected one error in English. The observer then checked six errors in English that the pupil had overlooked. The pupil corrected four of these errors unassisted. The observer assisted him with the other two. Since the pupil was able to recognize the character of most of the errors when they were pointed out to him, with-

out explanation, it was evident that he merely overlooked them in proof-reading.

In order to lead the pupil to recognize the character of his difficulties, a plan of guidance consisting of three steps was organized and applied. First, he was required to explain orally the directions for each exercise before he began studying the reference materials. He was required to reread and discuss directions until the observer was convinced that the pupil understood them. Second, the pupil was required to explain orally the reference materials. The observer also discussed the passages with him and pointed out significant facts if the pupil overlooked them. Third, the pupil was required to proof-read all papers before handing them to the instructor. If he overlooked an English error, it was checked. Then, if he did not understand the error, it was explained to him. After several exercises had been completed by the pupil under observation, the observer invited him to the office for a conference concerning study procedures. The observer explained that the purpose of the conference was to offer suggestions to enable the pupil to improve his study habits. At this conference the observer discussed with the pupil a number of the classroom observations and pointed out his reading difficulties. The observer then gave the pupil the following suggestions for improving his work.

1. Give more careful attention to study directions contained in the mimeographed work plans.
2. Be sure you have secured an understanding of the directions for an exercise before attempting to study it.
3. Plan carefully how you will attack a problem before you begin working on it.
4. Be sure you understand the materials you read. Reread if parts are not clear.
5. Proof-read all reports for both English and content.

These suggestions were illustrated by situations noted during the observations. The pupil recognized their significance and agreed to apply them.

The pupil responded favorably to both the observations and the suggestions. On one occasion he voluntarily reported that he was attempting to carry out the suggestions for studying science in his work in manual training and that he was improving his work in that course. On another occasion, he voluntarily reported that he had passed an assimilation test in science on first trial. The test, to which he referred, was the test for the unit following the one with which the observer aided him. The voluntary comments are evidence that the pupil recognized the character of his difficulties and that he purposefully attempted to apply the suggestions.

The instructor's records contain additional evidence of the effectiveness of the guidance procedures. The pupil required two attempts in passing the tests for units IV and V, but required only one attempt on the tests for units VI and VII. The corrective work was carried on during his study of unit V. Improvement evidently followed. At the close of the year the instructor made the following report to the principal:

> This pupil has reached an understanding of the science material with much less difficulty this semester. However, some reteaching has been necessary. His application has been quite good, and his English has shown constant though slow improvement. Errors in spelling and sentence structure still occur with serious frequency.

This pupil made much better progress in science after the period of guidance than he did before. Like most pupils he was willing to put forth the necessary effort for improving his reading procedures when he recognized his shortcomings. The concrete illustrations which the observer secured from the study activities convinced the pupil of the need for more careful attention to reading. As soon as he sensed the necessity for more careful reading, he readily accepted and applied the guidance suggestions.

The difficulties of this pupil are typical of the difficulties of many pupils. He had developed ineffective habits of read-

ing and was not aware that his reading practices were unsatisfactory. Individual guidance offers one of the most effective approaches to the correction of the handicaps of such pupils. Before they can make satisfactory progress, they must be aware of the need for improvement. The procedure of presenting definite illustrations of the pupils' deficiencies convinces them of the importance of reading and stimulates them to intelligent and purposeful effort.

Techniques of guidance similar to those used with this pupil have certain values and limitations which govern their usefulness. Since they are employed with individual cases, they have the advantage of giving a direct approach to the needs of the pupil. The analysis of the pupil's difficulties before guidance is attempted assures training adapted to individual needs. Individual instruction provides an opportunity for the instructor to determine the effectiveness of the guidance by observing the individual's progress. It should be recognized, however, that individual guidance has the practical limitation of demanding an excessive amount of an instructor's time. In a class of average size it would be impossible for an instructor to give individual attention to any considerable number of cases. For this reason individual guidance should be used only in extreme cases.

SUMMARY AND INTERPRETATION

Because of the numerous types of reading and thinking employed in the study of science, the teaching of science offers abundant opportunities for improving the reading ability of pupils. Analyses of reading activities and of pupil difficulties reveal the need for definite guidance.

Guidance may take the form of directed group study or of individual instruction. When carefully directed, either form results in significant improvement in reading and also in increased ability to master science materials.

Exercises for Further Study

1. Plan a series of exercises designed to improve ability to read with facility the materials assigned in some branch of science which you teach.
2. Plan a series of exercises designed to give practice in the forms of thinking required in the study of some branch of science.
3. Plan a review exercise designed to assist pupils in gaining understandings of points not mastered in the original study of a topic or problem.
4. Set up a plan for guiding pupils in the practice of giving special attention to new or unfamiliar terms encountered in the study of science.
5. Select a pupil who is encountering difficulties in understanding science materials. Make an analysis of the pupil's study practices, and set up corrective measures to aid the pupil in developing effective habits of reading.

Supplementary Reading

Beauchamp, Wilbur L., "A Preliminary Experimental Study of Technique in the Mastery of Subject-Matter in Elementary Physical Science," *Studies in Secondary Education,* I, Supplementary Educational Monographs, No. 24 (Chicago, Department of Education, University of Chicago, 1923), pp 47-87.

———, "Supervised Study in Elementary Physical Science," *School Review,* Vol. 32 (March, 1924), pp. 175-181.

Curtis, Francis Day, *Some Values Derived from Extensive Reading of General Science,* Teachers College Contributions to Education, No. 163 (New York, Teachers College, Columbia University, 1924).

McCallister, James M., "Determining the Types of Reading in Studying Content Subjects," *School Review,* Vol. 40 (February, 1932), pp. 115-123.

———, "Guiding Pupils' Reading Activities in the Study of Content Subjects," *Elementary School Journal,* Vol. 31 (December, 1930), pp. 271-284.

———, "Reading Difficulties in Studying Content Subjects," *Elementary School Journal,* Vol. 31 (November, 1930), pp. 190-201.

Morrison, Henry C., *The Practice of Teaching in the Secondary School* (Chicago, University of Chicago Press, 1931), Chs. XI and XIV-XVI.

Patterson, Samuel W., *Teaching the Child to Read* (Garden City, N. Y., Doubleday, Doran and Co., 1930), pp. 466-469.

Report of the National Committee on Reading, *Twenty-fourth Yearbook of the National Society for the Study of Education,* Part I (Bloomington, Ill., Public School Publishing Co., 1925), pp. 132-137.

CHAPTER XV

SUMMARY OF TECHNIQUES FOR GUIDING READING IN CONTENT SUBJECTS

Three approaches to the problem of guiding reading in teaching content subjects are presented and illustrated in Chapters XI-XIV. The first approach is a plan of group guidance presenting techniques for determining essential reading activities, for identifying difficulties which pupils encounter in performing those activities, and for overcoming the difficulties. The second approach is a plan of individual guidance for pupils requiring special attention. The third approach consists of a number of illustrations of assignments designed to give training in specific types of reading. It is the purpose of this chapter to summarize briefly and concisely these techniques. The reader is referred to the earlier chapters for more detailed discussion.

TECHNIQUES OF GROUP GUIDANCE

Determining essential reading activities. Guidance in reading does not necessarily imply the introduction of special training into the work of content subjects. On the other hand, certain reading activities are necessary to the successful pursuance of any subject. The character of these activities may be determined by analyzing assignments and directions given to pupils; by analyzing textbooks, references, and other types of reading materials; and by observing the reading practices of pupils. As the teacher becomes familiar with the types of

reading activities necessary to the successful pursuance of a course, training in reading becomes a matter of guiding pupils to perform these activities efficiently.

Identifying reading difficulties. Not all of the reading activities demanded by a course are sources of difficulties to pupils. Pupils may perform many of the reading activities efficiently without special training. Therefore, training in reading in connection with content subjects may be limited to guidance in overcoming reading difficulties. The reading activities which handicap pupils may be detected by administering tests which involve the use of predetermined types of reading, by analyzing the written work of pupils, by interviewing pupils regarding shortcomings in written work, by observing incidentally the reading practices of pupils, or by observing systematically the reading practices of pupils during periods of directed study. Systematic observation is the most effective means of becoming familiar with the reading needs of pupils. By giving attention to the difficulties of pupils, the alert teacher soon identifies the types of reading which give special trouble.

Guidance in overcoming difficulties. Systematic analysis and observation indicate that many of the reading difficulties of pupils may be traced to (1) improper methods of attack, (2) difficulties in recognizing relations, (3) deficiencies in vocabulary, (4) inadequate knowledge of subject-matter, (5) inaccuracy in interpretation, and (6) lack of clearness in directions given by teachers. The following techniques indicate some of the means which may be used to overcome these causes of reading difficulties:

A. *Overcoming improper methods of attack*

1. Lead pupils to recognize the effects of improper methods of attack by having them describe the causes of their own difficulties in specific reading situations after they have been assisted to correct shortcomings.

2. Direct attention to ineffective reading practices by listing them on the blackboard and suggesting more effective methods of procedure.
3. Give study directions suggesting desirable methods of attack in reading.
4. Provide practice in using effective methods of attack under directions of instructor.
5. When improper methods result in incomplete understanding, have pupils restudy, checking work for completeness.
6. When the contributions of pupils are based on previous knowledge instead of assigned passages, require them to list "new" points given in passages which they read.
7. When contributions of pupils reveal evidence of mere repetition of content, assign problems which require application of content.
8. In case of improper use of references give training in efficient practices.

B. *Overcoming difficulties in recognizing relations*

1. Guide pupils in adopting the practice of determining in advance exactly what to look for in solving a problem or studying a topic.
2. By means of class discussion analyze difficult problems, and list on blackboard significant items to be used as guides to study.
3. Provide practice under supervision in selecting materials pertinent to a problem or topic.
4. Assign exercises which direct attention to relative values, require exercise of judgment, lead to formulation of conclusions, etc.
5. Whenever necessary, give individual help at point of difficulty.

C. *Overcoming deficiencies in vocabulary*

1. Anticipate troublesome terms, giving special attention to them in class discussions.
2. Direct attention to significant terms by listing them for special study.
3. Lead pupils by questions or class discussions to recognize deficiencies.
4. Encourage pupils to adopt the practice of studying carefully the meaning of all new technical terms.
5. When necessary, refer pupils to sources for explanations of new terms.

6. Encourage the use of the dictionary for ascertaining meanings of non-technical terms.

D. *Overcoming inadequate knowledge of subject-matter*
1. Encourage pupils to adopt the practice of rereading when in difficulty.
2. Prepare and assign restudy exercises covering points not learned at appropriate time.
3. If pupils do not recognize the need for rereading, point out the deficiencies, and suggest rereading.
4. When necessary, assist pupils to interpret passages assigned for rereading.

E. *Overcoming inaccuracy in interpretation*
1. Lead pupils to recognize their own inaccuracies by having them reread to discover errors.
2. When necessary, supervise rereading and designate inaccuracies.
3. Stimulate habit of accurate reading by leading pupils to recognize its value.
4. Encourage pupils to proof-read all written work twice—once for accuracy and completeness of content and once for correctness of English expression.

F. *Overcoming difficulties resulting from lack of clearness in directions*
1. Ambiguous or carelessly-worded directions often lead to misunderstanding on the part of pupils. Careful preparation of directions on the part of teachers will reduce such misunderstandings to a minimum.

TECHNIQUES OF INDIVIDUAL GUIDANCE

Although guidance in reading of content subjects is largely a problem of group of instruction, individuals who require special attention will be identified in almost every class. In order to conserve time and to be of greatest service to the pupil, individual instruction should have as its chief objective independence on the part of the pupil. Four steps are necessary:

1. Observation and analysis of the reading practices of the pupil to determine the exact character of his difficulties

2. Supervision of reading activities during which the pupil is acquainted with the general character of his difficulties and is stimulated to put forth a purposeful effort to overcome them
3. Necessary guidance in overcoming difficulties
4. Follow-up observation to assure permanency of new reading practices

GUIDING READING ACTIVITIES THROUGH SPECIAL ASSIGNMENTS

The suggestions summarized thus far have been designed to aid pupils in overcoming specific difficulties. Special types of reading are applicable and useful in certain subjects. Assignments may be designed to develop efficiency in the types of reading suited to the pursuance of a given subject. Such assignments constitute a different approach to guidance in reading from that set forth in the preceding sections of this chapter because no diagnosis of pupil difficulties is involved. The following items illustrate this type of instructional procedure:

1. Oral or printed directions indicating "how to read" for effective study of the subject
2. Directions for interpreting problems
3. Assignments designed to stimulate extensive reading
4. Assignments designed to stimulate intensive reading relative to a single problem or topic

This approach to guidance is very useful for training in desirable types of reading.

PART FOUR

ADMINISTERING A READING PROGRAM

CHAPTER XVI

RELATION OF ADMINISTRATIVE OFFICERS TO A READING PROGRAM

The discussions presented in the preceding chapters are related primarily to diagnostic and instructional procedures. Teachers will find in them many helpful suggestions for dealing with classroom problems, but to be utilized most effectively, they must be incorporated into the instructional program of an entire school or school system. A place for a definite reading program should be provided in the curricula of every school. The initiative for introducing and developing a well-planned reading program must of necessity come from administrative officers. It is the purpose of this chapter to offer suggestions regarding the administrative phases of such a program.

TYPES OF ADMINISTRATIVE PROVISIONS NEEDED

The deficiencies and difficulties described in the preceding chapters demonstrate the necessity for differentiating clearly between pupils who are definitely retarded in reading and pupils who are merely encountering difficulties in performing specific reading activities. The former are deficient in one of the fundamental tools of learning. The latter are merely handicapped by being unable to meet the demands of special situations. This distinction is essential to an understanding of the administrative provisions which should be made for reading instruction in the upper grades and high school.

The retarded reader requires a more or less extended period

of training to remove his deficiencies. His deficiencies are of such a character that he will not be likely to overcome them through the regular work of the school. In fact, he may not discover that he is handicapped unless some one directs attention to his shortcomings. Consequently, the retarded reader should be identified as early as possible in his school career and should be given special training.

In this connection it should be recognized that retarded readers may and frequently do succeed with school work in spite of their deficiencies. For example, Pupil 24, whose case is reported in Chapter IX, had spent one year in a junior high school and had completed the work of the seventh grade before his reading deficiencies were discovered. The purpose of training in reading is not merely to enable pupils to meet the demands of their courses, but to equip them to read more effectively.

The pupils who encounter difficulties in the reading activities required in studying content subjects do not necessarily demand an extended period of training. On the other hand, they require guidance to enable them to make the adjustments necessary to perform efficiently the reading activities required in their regular studies.

This differentiation in the character of reading deficiencies in the upper grades and high school is significant because it distinguishes two very important phases of training in reading. Not every pupil who encounters difficulty in reading in connection with content subjects requires remedial or corrective instruction. In fact, if the reading difficulties arise in connection with reading activities peculiar to certain subjects, remedial or corrective training is not likely to correct the deficiencies. On the other hand, the retarded reader is not likely to overcome reading deficiencies under conditions of instruction provided in content courses. These facts suggest the need for administrative provisions for differentiating these two phases of training.

PROVIDING INSTRUCTION FOR RETARDED READERS

Administrative organization. The identification of retarded readers and the analysis and treatment of their deficiencies call for the services of one or more special teachers or of regular teachers who are willing to devote time and effort to that purpose. It can hardly be expected that all teachers give attention to the analysis and treatment of special deficiencies or to conducting corrective classes. Consequently, remedial teachers must be selected for special work in reading.

The selection of remedial teachers depends in part upon the plan of administrative organization employed. If the school is large enough and funds are available, it is preferable to employ one or more teachers who are specially trained in the field of reading. In smaller school systems the remedial and corrective work may be assigned to one or more of the regular teachers. If the school has a well-organized program of educational guidance, training in reading may be made a phase of that program. In some schools it may be preferable to delegate the responsibility for training in reading to the department of English.

Although remedial and corrective instruction may be carried on most effectively by delegating the responsibility for it to a limited number of persons, the coöperation of other teachers will facilitate the work. This coöperation may be secured best by enlisting their help with certain phases of the program. A number of teachers may assist with the reading survey; all teachers may report evidences of retardation in reading discovered among their pupils; some teachers may assist in selecting instructional materials by recommending suitable materials from their special fields; and teachers who have retarded readers in their classes may make reports on their progress. Participation in the program tends to make teachers "reading conscious" and paves the way for attention to reading in teaching content courses.

Qualifications of remedial teachers. The person selected for remedial and corrective teaching should be either specially trained for it or should be a capable student with a disposition to "study her job." If the remedial teacher is not specially trained, she should have sufficient time at her disposal to become thoroughly acquainted with the literature on the subject and to experiment with techniques of diagnosis and instructional procedures. Sangren[1] mentions five qualities which he says are essential for a remedial worker:

1. Training and experience to observe and interpret certain types of behavior as evidence of the influence of underlying causes of reading ability
2. A thorough control over some technique of diagnosis which will bring to the surface facts concerning the nature of the pupil's reading ability which would otherwise go unobserved
3. A thorough knowledge of the causes underlying the development of reading ability and the way in which they operate
4. A knowledge of the specific skills and habits essential to effective reading
5. A knowledge of what remedial measures to employ when the diagnosis has been completed

To these may be added two other qualities:

1. Ability to utilize the results of her own experience in devising new techniques of diagnosis and instructional procedure as well as to apply techniques which others have developed
2. A genuine sympathy for the child's point of view and a capacity for aiding the child to teach himself

In other words, the remedial teacher must be thoroughly scientific in her procedures, and at the same time, she must be capable of attracting and challenging pupils.

Assembling information about pupils. Adequate provisions should be made to assist the remedial teacher in assembling information about retarded readers. Adequate information

[1] Paul V. Sangren, "Methods of Diagnosis in Reading," *Elementary English Review*, Vol. 7 (April, 1930), pp. 105-107. By permission of the editor.

involves a testing program, a suitable system of pupil records, and the services of needed specialists.

The testing program is described in detail in Chapter IV. Only brief mention of it will be made at this point. The program may be placed under the direction of the remedial teacher, or it may be under the direct supervision of the school principal. In either case the results should be accessible to the remedial teacher who assumes responsibility for conducting further individual examinations to verify the results of the group tests and for selecting the retarded readers.

An adequate system of records facilitates greatly the work of the remedial teacher. It includes not only cumulative scholastic and attendance records but also statements by teachers, parents, and others which may aid in explaining difficulties, attitudes, or peculiarities of individuals who are being studied. Some principals follow the practice of keeping a file of individual folders in which is placed from time to time all information that comes to the principal's office concerning pupils. In addition to statements of various persons, these folders serve as receptacles for test booklets, communications from parents, health reports, and any other information which may be of value in understanding individual differences. Such folders are veritable storehouses of information for remedial teachers.

It was pointed out in Chapter V that a complete diagnosis of a case includes an understanding of a pupil's school history, family history, personal and social history, health status, and physical history. Though much of this information may be assembled by a well-trained remedial teacher, the coöperation of certain specialists may be required in collecting some of it. The information regarding health status and physical history should be obtained by a physician; the information concerning visual defects should be secured through an oculist; the information regarding adequacy of diet should be obtained through a dietitian; etc. It is not necessary that these special-

ists be regularly employed by the school, but their services should be available when needed. In many cases the services of the specialist will be required in connection with remedial and corrective training. For example, if a pupil is handicapped by defective vision, correction should be made by the specialist as a part of the remedial and corrective procedure. It is probable that training in reading will be needed, in addition to the services of the specialist, to enable the pupil to overcome deficiencies which have developed in connection with the handicap.

Organizing remedial and corrective instruction. Time for individual remedial instruction can be arranged usually during the periods which pupils ordinarily devote to study without handicapping pupils seriously and without taking time from other class work. As soon as a pupil is assigned to a remedial teacher, the periods to be spent in remedial or corrective instruction should be recorded on the pupil's regular class schedule in the same manner as other class work, thus making the training in reading a regular part of his school work. Such an arrangement insures definite attention to instruction in reading and prevents other interests from usurping time which is assigned to it.

The organization of special classes in reading is also an administrative problem. After retarded readers have been identified, the remedial teacher may group together those pupils whose deficiencies are sufficiently similar to be instructed in separate classes. Administrative provisions for scheduling the classes should then be made.

If the instruction of retarded readers is made a responsibility of the English department, as is frequently done, provision should be made for reorganizing the English curriculum to include instruction in reading. This reorganization may be carried out as a phase of the program of curriculum development.

Providing materials of instruction. One of the most difficult tasks of the remedial teacher is to assemble a sufficient collection of suitable reading materials to carry on her work effectively. Since the materials provided for a given grade are seldom suitable for remedial and corrective instruction in that grade, materials must be assembled from those assigned to lower grades, from school libraries, from public libraries, and from other sources. Often new materials should be purchased. Administrative officers may assist greatly in placing reading materials at the service of the remedial teacher.

PROVIDING INSTRUCTION IN READING IN CONNECTION WITH CONTENT SUBJECTS

The correction of pupil difficulties in reading activities in studying content subjects should not require the services of special teachers, but should be carried on by the regular instructors in those courses. It is generally assumed that instructors are responsible for directing the study activities essential to the successful pursuance of courses which they are teaching. When reading difficulties are encountered in the study of a subject, it is not unreasonable to expect an instructor to accept the responsibility for aiding the pupils to overcome them. Moreover, effective guidance of study activities demands that an instructor be cognizant of the reading activities required by her course. Analyses, similar to those described in Chapter XI to XIV, acquaint the instructor with the reading activities in a course and provide a basis for identifying reading difficulties and for purposeful guidance.

The prevalence of reading difficulties disclosed by the studies reported in Chapters XII to XIV demonstrates the need for more attention to reading activities by regular teachers. Pupils need both individual and group guidance in adjusting to the various demands made of them. It is probable that many of

the reading difficulties may be overcome by purposeful group teaching. In addition, some of the pupils will require individual guidance to prevent them from developing into serious problems because of reading difficulties. The responsibility for such instruction should rest with the regular teachers.

The examples of guidance activities given in earlier chapters illustrate procedures which may be used. These techniques are intended to be suggestive only. The resourceful teacher will devise other measures which are applicable to the needs of her pupils. The assumption of such responsibility will enable the teacher to direct study activities more effectively and will contribute much to the development of desirable study habits on the part of pupils.

When teachers are not familiar with the character of reading activities and difficulties of pupils, administrators may assist them in analyzing the needs of pupils and may acquaint them with the possibilities of reading instruction. Administrative officers may take the initiative in developing coöperative effort to improve reading, just as they enlist coöperative effort to improve English expression or handwriting. Coöperative effort on the part of all members of the faculty to improve reading will add much to the effectiveness of instruction in all subjects.

SUPERVISING AND TRAINING TEACHERS

An efficient reading program, just as any other instructional program, requires careful supervision on the part of administrative and supervisory officers. In many schools the program can be developed only as teachers are being trained to carry it out. The training of teachers can be effected readily through study and discussion in faculty meetings and teacher conferences. Following is a suggestive program for in-service training in teaching reading:

I. For all teachers
   A. The reading needs of pupils (See Chapter I)
   B. Relation of reading to the study of other subjects (See Chapter XI)
II. For remedial teachers and those coöperating in work with retarded readers
   A. Character and causes of retardation in reading (See Chapter ter III)
   B. Surveying reading achievements of pupils (See Chapter IV)
III. For remedial teachers and others participating in diagnostic work and remedial or corrective teaching
   A. The nature of the reading process (See Chapter II)
   B. Illustrative studies of seriously retarded readers (See Chapters VII-IX)
   C. Diagnosing deficiencies of retarded readers (See Chapter V)
   D. Remedial and corrective instruction (See Chapters VI and X)
IV. For teachers of English
   A. Surveying the reading achievements of pupils (See Chapter IV)
   B. Corrective instruction in reading in English classes (See Chapter X)
V. For teachers of content courses
   A. Relation of reading to the study of other subjects (See Chapter XI)
   B. Guiding reading activities in the study of specific subjects (See Chapters XII-XV)

SUMMARY AND INTERPRETATION

Provision for correcting reading disability in the upper grades and high school is primarily an administrative problem. Unless definite administrative provision is made for instruction in reading, it is likely to be neglected. Provision should be made for remedial and corrective training for pupils who are seriously retarded and for coöperative effort on the part of teachers in guiding the reading activities in studying content subjects. Adequate training and guidance in reading will add much to the effectiveness of instruction in all subjects.

Exercises for Further Study

1. Plan a series of faculty meetings through which a program of instruction in reading might be introduced into the upper grades or high school.

2. Organize a plan for administering reading instruction to pupils in your school.

3. Plan a series of record forms for collecting data regarding retarded readers.

4. Organize a course in professional reading for teachers interested in studying reading problems in the upper grades and high school.

Supplementary Reading

Bedwell, Robert L., *Improvement of Reading in the Public Schools*, Contributions to Education Published Under the Direction of George Peabody College for Teachers, No. 65 (Nashville, Tenn., George Peabody College for Teachers, 1929).

Carter, Homer L. J., "Disabilities in Reading," *Elementary School Journal*, Vol. 31 (October, 1930), pp. 120-131.

Pierce, Paul R., "Stimulating Recreational Reading: An Elementary School Experiment," *Chicago Schools Journal*, Vol. 12 (December, 1929), pp. 129-133.

Sangren, Paul V., "Methods of Diagnosis in Reading," *Elementary English Review*, Vol. 7 (April, 1930), pp. 105-107.

BIBLIOGRAPHY

ALDERMAN, Grover H., "Improving Comprehension Ability in Silent Reading," *Journal of Educational Research,* Vol. 13 (January, 1926), pp. 11-21.

ALEXANDER, Fred M., "Reading in Newport News High School," *Journal of Education,* Vol. 113 (March 2, 1931), pp. 248-251.

AYER, Adelaide M., *Some Difficulties in Elementary School History,* Teachers College Contributions to Education, No. 212 (New York, Teachers College, Columbia University, 1926).

BEAUCHAMP, Wilbur L., "A Preliminary Experimental Study of Technique in the Mastery of Subject-Matter in Elementary Physical Science," *Studies in Secondary Education,* I, Supplementary Educational Monographs, No. 24 (Chicago, Department of Education, University of Chicago, 1923), pp. 47-87.

———, "Supervised Study in Elementary Physical Science," *School Review,* Vol. 32 (March, 1924), pp. 175-181.

BEDWELL, Robert L., *Improvement of Reading in the Public Schools,* Contributions to Education Published Under the Direction of George Peabody College for Teachers, No. 65 (Nashville, Tenn., George Peabody College for Teachers, 1929).

BEEBY, D. J., "Diagnostic and Remedial Work in Silent Reading," *Chicago Schools Journal,* Vol. 8 (February, 1926), pp. 204-212.

BIRDSALL, Agnes, "Mental Habits in Reading," *Elementary School Journal,* Vol. 32 (May, 1932), pp. 681-690.

BLANCHARD, Phillis, "Reading Disabilities in Relation to Maladjustment," *Mental Hygiene,* Vol. 12 (October, 1928), pp. 772-788.

BONAR, Hugh S., "Systematic versus Incidental Training in Reading," *Elementary English Review,* Vol. 10 (April, 1933), pp. 90-94, 112.

BREITWIESER, J. V., "Training for Rapid Reading," *Applications of Psychology to Education,* Research Studies 4, 5, 6, 7 (Berkeley, Calif., Bureau of Research in Education, University of California, 1922), pp. 15-17.

BRESLICH, Ernst R., *Junior Mathematics* (New York, The Macmillan Co., 1925), Books One and Two.

BROOKS, Fowler D., *The Applied Psychology of Reading* (New York, D. Appleton and Co., 1926).

BURNHAM, Smith, *The Making of Our Country* (Philadelphia, John C. Winston Co., 1926).

BUSWELL, Guy T., *An Experimental Study of the Eye-Voice Span in Reading,* Supplementary Educational Monographs, No. 17 (Chicago, Department of Education, University of Chicago, 1920).

BUSWELL, Guy T., *Fundamental Reading Habits: A Study of Their Development*, Supplementary Educational Monographs, No. 21 (Chicago, Department of Education, University of Chicago, 1922).

CAMP, Cordelia and ALLEN, C. H., "How Oral Reading Was Improved through the Use of Gray's Check Tests," *Elementary School Journal*, Vol. 30 (October, 1929), pp. 132-135.

CARNEY, Elizabeth and LEUENBERGER, Claire S., "Experiment in Remedial Reading in the Senior High School," *High School Teacher*, Vol. 7 (February, 1931), pp. 71-72.

CARROLL, Robert P., *An Experimental Study of Comprehension in Reading*, Teachers College Contributions to Education, No. 245 (New York, Teachers College, Columbia University, 1926).

CARTER, Homer L. J., "Disabilities in Reading," *Elementary School Journal*, Vol. 31 (October, 1930), pp. 120-131.

CURTIS, Francis Day, *Some Values Derived from Extensive Reading of General Science*, Teachers College Contributions to Education, No. 163 (New York, Teachers College, Columbia University, 1924).

DARINGER, Helen F., "An Objective Measure of Ability to Make Topical Outlines," *Journal of Educational Psychology*, Vol. 20 (February, 1929), pp. 112-118.

DEARBORN, Walter F., "Teaching Reading to Non-Readers," *Elementary School Journal*, Vol. 30 (December, 1929), pp. 266-269.

——, "The Nature of Special Abilities and Disabilities," *School and Society*, Vol. 31 (May 10, 1930), pp. 632-636.

DETRAZ, Julia, "Reading Methods for Clinical Cases," *Educational Research Bulletin* (Ohio State University), Vol. 9 (May 14, 1930), pp. 269-272.

DICKINSON, Charles E., "A Study of the Relation of Reading Ability to Scholastic Achievement," *School Review*, Vol. 33 (October, 1925), pp. 616-626.

English Department, University High School, University of Chicago, "Differentiating Instruction in Ninth-Grade English," *School Review*, Vol. 27 (December, 1919), pp. 772-788.

FIELD, Walter T., *A Guide to Literature for Children* (Boston, Ginn and Co., 1928).

FINCH, Charles E., "Junior High School Study Tests," *School Review*, Vol. 28 (March, 1920), pp. 220-226.

FLEMMING, Cecile W., and WOODRING, Maxie N., "Training High-School Pupils in Study Procedures, with Emphasis upon Reading," *Teachers College Record*, Vol. 30 (March, 1929), pp. 589-610.

GATES, Arthur I., *The Improvement of Reading: A Program of Diagnostic and Remedial Methods, Revised Edition* (New York, The Macmillan Co., 1935).

GARDNER, Evelyn E., and RAMSEY, Eloise, *A Handbook of Children's Literature* (Chicago, Scott, Foresman and Co., 1927).

GEORGES, J. S., "The Nature of Difficulties Encountered in Reading Mathematics," *School Review*, Vol. 37 (March, 1929), pp. 217-226.

GOOD, Carter V., "An Experimental Study of the Merits of Extensive and Intensive Reading in the Social Sciences," Unpublished Doctor's Thesis, Department of Education, University of Chicago, 1925. Briefer reports of the study appear in *School Review*, Vol. 33 (December, 1925), pp. 755-770, and in *School and Society*, Vol. 22 (December 12, 1925), pp. 758-760.

GORDY, Wilbur F., *History of the United States* (New York, Charles Scribner's Sons, 1925).

Graded Lists of Books for Children (Prepared by the School Library Committee of the National Education Association and the Chicago American Library Association, 1922).

GRAY, Clarence T., *Types of Reading Ability as Exhibited through Tests and Laboratory Experiments*, Supplementary Educational Monographs, Vol. I, No. 5 (Chicago, Department of Education, University of Chicago, 1917).

GRAY, William S., "Case Studies of Reading Deficiencies in Junior High Schools," *Journal of Educational Research*, Vol. 10 (September, 1924), pp. 132-140.

———, "Fundamentals in Silent Reading," *Elementary English Review*, Vol. 9 (April, 1932), pp. 95-98.

———, "Guidance in Reading," *Journal of the National Education Association*, Vol. 20 (February, 1931), pp. 53-54.

———, *Improving Instruction in Reading: An Experimental Study*, Supplementary Educational Monographs, No. 40 (Chicago, Department of Education, University of Chicago, 1933).

———, "Reading as a School Subject," *Journal of the National Education Association*, Vol. 20 (January, 1931), pp. 37-38.

———, "Reading Deficiencies in Secondary Schools," *Journal of the National Education Association*, Vol. 20 (June, 1931), pp. 197-198.

———, "The Relation between Study and Reading," *Addresses and Proceedings of the National Education Association*, Vol. 57 (1919), pp. 580-586.

———, *Summary of the Investigations Relating to Reading*, Supplementary Educational Monographs, No. 28 (Chicago, Department of Education, University of Chicago, 1925).

———, with the coöperation of Delia Kibbe, Laura Lucas, and Lawrence W. Miller, *Remedial Cases in Reading: Their Diagnosis and Treatment*, Supplementary Educational Monographs, No. 22 (Chicago, Department of Education, University of Chicago, 1922).

GROVER, C. C., "A Survey of the Reading Achievement of Pupils in Low-Tenth Grade," *School Review*, Vol. 40 (October, 1932), pp. 587-594.

HEINLEIN, Virginia K., and ERVIN, Sophia H., "The Voluntary and Independent Use of Reference Books in the Wheeling High School," *School Review*, Vol. 37 (February, 1929), pp. 142-146.

HILL, Howard C., and WEAVER, Robert B., "A Unitary Course in United States History for the Junior High School," *School Review*, Vol. 37 (April, 1929), pp. 256-266.

HOLMES, Eleanor, "Reading Guided by Questions versus Careful Reading and Re-Reading without Questions," *School Review,* Vol. 39 (May, 1931), pp. 361-371.

HULTEN, C. E., "A Study of the Speed of Upper Grade Reading," *Journal of Educational Research,* Vol. 10 (September, 1924), pp. 141-148.

JACOBSON, Paul B., "The Effect of Work-Type Reading Instruction Given in the Ninth Grade," *School Review,* Vol. 40 (April, 1932), pp. 273-281.

———, and VAN DUSEN, E. C., "Remedial Instruction in Reading in the Ninth Grade," *School Review,* Vol. 38 (February, 1930), pp. 142-146.

JOHN, Lenore, "Difficulties in Solving Arithmetic Problems," *Elementary School Journal,* Vol. 31 (November, 1930), pp. 202-215.

JOHNSON, Henry, *Teaching of History* (New York, The Macmillan Co., 1915).

JORGENSEN, A. N., "Use of Diagnostic Tests in Teaching Silent Reading," *Elementary English Review,* Vol. 9 (April, 1932), pp. 86-88, 107.

JUDD, Charles H., and BUSWELL, Guy T., *Silent Reading: A Study of the Various Types,* Supplementary Educational Monographs, No. 23 (Chicago, Department of Education, University of Chicago, 1922).

———, with the coöperation of William S. Gray, Clarence T. Gray, Katherine McLaughlin, Clara Schmitt, and Adam R. Gilliland, *Reading: Its Nature and Development,* Supplementary Educational Monographs, Vol. II, No. 4 (Chicago, Department of Education, University of Chicago, 1918).

KEENER, E. E., "How to Study in High School," *Chicago Schools Journal,* Vol. 11 (January, 1929), pp. 167-169.

LESSENGER, W. E., "Reading Difficulties in Arithmetic Computation," *Journal of Educational Research,* Vol. 11 (April, 1925), pp. 287-291.

LORD, Elizabeth E., CARMICHAEL, Leonard, and DEARBORN, Walter F., *Special Disabilities in Learning to Read and Write,* Harvard Monographs in Education, Whole No. 6 (Cambridge, Mass., Graduate School of Education, Harvard University, 1925).

LOWRY, Ellsworth, "Improving the Mechanics of Reading," *Elementary School Journal,* Vol. 32 (January, 1932), pp. 364-368.

LYMAN, Rollo L., "How High-School Seniors Explain Common Errors in Reasoning," *English Journal,* Vol 12 (May, 1923), pp. 293-305.

———, "The Teaching of Assimilative Reading in the Junior High School," *School Review,* Vol. 28 (October, 1920), pp. 600-610.

MCCALL, William A. and CRABBS, Lelah Mae, "Standard Test Lessons in Reading," *Teachers College Record,* Vol. 27 (November, 1925), pp. 183-191.

MCCALLISTER, James M., "Character and Causes of Retardation in Reading among Pupils of the Seventh and Eighth Grades," *Elementary School Journal,* Vol. 31 (September, 1930), pp. 35-43.

———, "Determining the Types of Reading in Studying Content Subjects," *School Review,* Vol. 40 (February, 1932), pp. 115-123.

———, "Guiding Pupils' Reading Activities in the Study of Content Subjects," *Elementary School Journal,* Vol. 31 (December, 1930), pp. 271-284.

McCallister, James M., "Reading Difficulties in Studying Content Subjects," *Elementary School Journal,* Vol. 31 (November, 1930), pp. 191-201.

———, "The Effectiveness of Remedial Instruction in Reading in the Junior High School," *School Review,* Vol. 39 (February, 1931), pp. 97-111.

———, and Baker, Grace H., "Corrective Instruction in Reading in Seventh-Grade English Classes," *English Journal,* Vol. 21 (November, 1932), pp. 734-743.

McCarty, Pearl S., "Increasing Comprehension in Silent Reading," *School Review,* Vol. 39 (December, 1931), pp. 758-766.

McClure, Worth, "Learning to Read Arithmetic Problems," *Teachers Journal and Abstract,* Vol. 1 (March, 1926), pp. 183-188.

McMaster, Dale, "Case Studies of Failing Pupils in Seventh Year Reading and Arithmetic," *University of Pittsburgh School of Education Journal,* Vol. 5 (December, 1929), pp. 39-46.

Mahony, Bertha E., and Whitney, Elinor (Compilers), *Realms of Gold in Children's Books* (Garden City, N. Y., Doubleday, Doran and Co., 1929).

Miles, Dudley H., "Can the High-School Pupil Improve His Reading Ability?" *Journal of Educational Research,* Vol. 14 (September, 1926), pp. 88-98.

Monroe, Marion, *Children Who Cannot Read* (Chicago, University of Chicago Press, 1932).

———, *Methods for Diagnosis and Treatment of Cases of Reading Disability,* Genetic Psychology Monographs, Vol. IV, Nos. 4 and 5 (Worcester, Mass., Clark University Press, 1928).

Monroe, Walter S., *Directed Learning in the High School* (Garden City, N. Y., Doubleday, Doran and Co., 1927).

———, *Types of Learning Required of Pupils in the Seventh and Eighth Grades and in the High School,* University of Illinois Bulletin, Vol. XIX, No. 15 (Urbana, Ill., University of Illinois, 1921).

———, *Training in the Technique of Study,* Bureau of Educational Research Bulletin, No. 20, University of Illinois Bulletin, Vol. XXII, No. 2 (Urbana, Ill., University of Illinois, 1924).

———, and Mohlman, Dora K., "Errors Made by High-School Students in One Type of Textbook Study," *School Review,* Vol. 31 (January, 1923), pp. 36-47.

Moon, George R., "An Experiment Made by a History Teacher," *School Review,* Vol. 35 (March, 1927), pp. 208-216.

Morrison, Henry C., *The Practice of Teaching in the Secondary School* (Chicago, University of Chicago Press, 1931).

Newcomb, R. S., "Teaching Pupils to Solve Problems in Arithmetic," *Elementary School Journal,* Vol. 23 (November, 1922), pp. 183-189.

Newell, Nancy, "For Non-Readers in Distress," *Elementary School Journal,* Vol. 32 (November, 1931), pp. 183-195.

Nudelman, Edward A., "Pupil Exercises Used in Elementary History Textbooks," *Elementary School Journal,* Vol. 29 (January, 1929), pp. 351-357.

O'Brien, John A., *Reading: Its Psychology and Pedagogy* (New York, The Century Co., 1926).

Orton, Samuel T., "The 'Sight Reading' Method of Teaching Reading as a Source of Reading Disability," *Journal of Educational Psychology,* Vol. 20 (February, 1929), pp. 135-143.

Parkhill, Jean, "Methods Used in Teaching L10 Reading to a Z Section," *California Quarterly of Secondary Education,* Vol. 8 (June, 1933), pp. 363-366.

Patterson, Samuel W., *Teaching the Child to Read* (Garden City, N. Y., Doubleday, Doran and Co., 1930).

Pieper, Charles J. and Beauchamp, Wilbur L., *Everyday Problems in Science* (Chicago, Scott, Foresman and Co., 1925).

Pierce, Paul R., "Stimulating Recreational Reading: An Elementary School Experiment," *Chicago Schools Journal,* Vol. 12 (December, 1929), pp. 129-133.

"Report of the National Committee on Reading," *Twenty-Fourth Yearbook of the National Society for the Study of Education,* Part I (Bloomington, Ill., Public School Publishing Co., 1925).

Rhodes, E. N., "Technique of Teaching Silent Reading," *Elementary School Journal,* Vol. 23 (December, 1922), pp. 296-302.

Ritter, B. T., and Lofland, W. T., "The Relation Between Reading Ability as Measured by Certain Standard Tests and the Ability Required in the Interpretation of Printed Matter Involving Reason," *Elementary School Journal,* Vol. 24 (March, 1924), pp. 529-546.

Sangren, Paul V., "Methods of Diagnosis in Reading," *Elementary English Review,* Vol. 7 (April, 1930), pp. 105-107.

———, *The Measurement of Achievement in Silent Reading* (Kalamazoo, Mich., Paul V. Sangren, Western State Teachers College, 1927).

Shepherd, Edith, "Some Silent Reading Lessons in Junior High-School English," *School Review,* Vol. 29 (March, 1921), pp. 206-215.

Shields, James M., "Teaching Reading through Ability-Grouping," *Journal of Educational Method,* Vol. 7 (September-October, 1927), pp. 7-10.

Shorts, C. P., "An Investigation of Eighth-Grade Reading," *Virginia Teacher,* Vol. 10 (February, 1929), pp. 55-58.

Simon, Donald L., "Developing Desirable Reading Habits in Studying Citizenship," *School Review,* Vol. 42 (June, 1934), pp. 447-458.

Simpson, J. Jewell, and Stern, Bessie C., "Improving Instruction in Reading," *Elementary School Journal,* Vol. 25 (April, 1925), pp. 594-606.

Slemons, Agnes, "Reading Ability of High-School Students," *English Journal,* Vol. 21 (April, 1932), pp. 299-302.

Smith, Bertha M., "Correlation of Ability in Reading with the General Grades in High School," *School Review,* Vol. 27 (September, 1919), pp. 493-511.

Springsteed, Clara B., "Improving Speed and Comprehension in Reading," *Journal of Educational Method,* Vol. 5 (October, 1925), pp. 48-52.

STEVENSON, P. R., "Difficulties in Problem Solving," *Journal of Educational Research,* Vol. 11 (February, 1925), pp. 95-103.

SUILTZER, Mary F., "Remedial Measures," *Journal of the National Education Association,* Vol. 19 (February, 1930), pp. 43-44.

SUTHERLAND, A. H., "Correcting School Disabilities in Reading," *Elementary School Journal,* Vol. 23 (September, 1922), pp. 37-42.

TERMAN, Lewis M., and LIMA, Margaret, *Children's Reading* (New York, D. Appleton and Co., 1925).

TERRY, Paul W , *How Numerals Are Read: An Experimental Study of the Reading of Isolated Numerals and Numerals in Arithmetic Problems,* Supplementary Educational Monographs, No. 18 (Chicago, Department of Education, University of Chicago, 1922).

"The Applications of Research Findings to Current Educational Practices," *Official Report of American Educational Research Association* (Washington, American Educational Research Association, 1935), pp. 76-98.

THOMAS, Russell, "Plan for the Study of the Unsupervised Reading of High School Pupils," *School Review,* Vol. 36 (September, 1928), pp. 533-540.

THORNDIKE, Edward L., "Reading as Reasoning: A Study of Mistakes in Paragraph Reading," *Journal of Educational Psychology,* Vol. 8 (June, 1917), pp. 323-332.

TINKER, Miles A., "The Relation of Speed to Comprehension in Reading," *School and Society,* Vol. 36 (July 30, 1932), pp. 158-160.

TRAXLER, Arthur E., *The Measurement and Improvement of Silent Reading at the Junior-High-School Level* (Chicago, University of Chicago Libraries, 1932).

WILSON, Estaline, "Improving Ability to Read Arithmetic Problems," *Elementary School Journal,* Vol. 22 (January, 1922), pp. 380-386.

———, "Specific Teaching of Silent Reading," *Elementary School Journal,* Vol. 22 (October, 1921), pp. 140-146.

WITTY, Paul A., "Diagnosis and Remedial Treatment of Reading Difficulties in the Secondary School," *Educational Trends,* Vol. 3 (April, 1934), pp. 7-13.

———, and LA BRANDT, Lou L., "Some Results of Remedial Instruction in Reading," *Educational Trends,* Vol. 2 (January, 1933), pp. 7-13.

WOODRING, Maxie N., and FLEMMING, Cecile W., "Diagnosis as a Basis for the Direction of Study," *Teachers College Record,* Vol. 30 (October and November, 1928), pp. 46-64, 134-147.

YOAKAM, Gerald A., *Reading and Study* (New York, The Macmillan Co., 1928).

INDEX